# नागरीप्रचारिणी पत्रिका

वर्ष ६२ संवत् २०१४ अंक १

★

संपादकमंडल

डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी : श्री करुणापति त्रिपाठी

डा० बच्चनसिंह ( संयोजक )

सहायक संपादक

श्री राधाविनोद गोस्वामी

★

काशी नागरीप्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित

वार्षिक मूल्य १०) : : इस अंक का २।।)

# नागरीप्रचारिणी पत्रिका

वर्ष ६२
संवत २०१४
अंक १

## विषय सूची



*

## पत्रिका के उद्देश्य

१ – नागरी लिपि और हिंदी भाषा का संरक्षण तथा प्रसार।
२ – हिंदी साहित्य के विविध अंगों का विवेचन।
३ – भारतीय इतिहास और संस्कृति का अनुसंधान।
४ – प्राचीन-अर्वाचीन शास्त्र, विज्ञान और कला का पर्यालोचन।

## सूचना

१ – प्रतिवर्ष, सौर वैशाख से चैत्र तक पत्रिका के चार अंक प्रकाशित होते हैं।

२ – पत्रिका में उपर्युक्त उद्देश्यों के अंतर्गत सभी विषयों पर सप्रमाण और सुविचारित लेख प्रकाशित होते हैं।

३ – पत्रिका के लिये प्राप्त लेखों की प्राप्तिस्वीकृति शीघ्र की जाती है और उनकी प्रकाशन संबंधी सूचना एक मास में भेजी जाती है।

४ – लेखों की पांडुलिपि कागज के एक ओर लिखी हुई, स्पष्ट एवं पूर्ण होनी चाहिए। लेख में जिन ग्रंथादि का उपयोग या उल्लेख किया गया हो उनका संस्करण और पृष्ठादि सहित स्पष्ट निर्देश होना चाहिए।

५ – पत्रिका में समीक्षार्थ पुस्तकों की दो प्रतियाँ आना आवश्यक है। उनकी प्राप्तिस्वीकृति पत्रिका में यथासंभव शीघ्र प्रकाशित होती है। परंतु संभव है उन सभी की समीक्षाएँ प्रकाश्य न हों।

**नागरीप्रचारिणी सभा, काशी**

नागरीप्रचारिणी पत्रिका

वर्ष ६२ ] संवत् २०१४ [ अंक १

# संदेशरासक के विचारणीय पाठ और अर्थ[1]–२

हजारीप्रसाद द्विवेदी

२-५० अइ मल्हिरउ चमक्कउ

रमणभार गुरुवियडउ का कट्ठिहि धरइ,
अइ मल्हिरउ चमक्कउ तुरियउ णहु सरइ।

टिप्पनक में इसका अर्थ इस प्रकार दिया हुआ है—'काचिद् रमणभारं गुरु विकटम् अति स्थूलत्वात्, कष्टेन विभर्ति। तस्याश्चलन्त्या उपानहोश्चमचमच्छब्दोऽतिमन्थरस्तु (स्त्व) रितं न सरति।' अवचूरिका में भी लगभग यही अर्थ है, केवल 'विभर्ति' के आगे 'धारयति' लिखकर उसे और भी स्पष्ट कर दिया गया है। "मल्हण" शब्द देशीनाममाला ( ६।११६ ) में लीला के अर्थ में आया है। 'मल्हिर' शब्द उसी शब्द से बना जान पड़ता है। इस प्रकार 'अइ मल्हिरउ' का अर्थ हुआ "अत्यन्त लीलायित"।

'चमक्कउ' का अर्थ 'उपानहोश्चमचमच्छब्दो' अर्थात् जूतों का चमचम शब्द भी कष्ट-कल्पित जान पड़ता है। वस्तुतः ५३ वें छंद में 'चिक्कणरउ चंबाइहि' अर्थात् 'मृदु शब्द वाले चर्मपाद या जूतों' का वर्णन आया है। यहाँ उसका कोई प्रसंग नहीं है। यहाँ कवि केवल 'गुरु विकट रमण भार' के कारण गति में आई हुई मंथरता का वर्णन करना चाहता है। वस्तुतः 'अइ मल्हिरउ' और 'चमक्कउ' दोनों ही रमणभार से संबद्ध हैं। 'चमक्कउ' 'चमत्कृत' का अपभ्रंश रूप है, जिसका अर्थ है 'विस्मित', आश्चर्यान्वित' या विस्मय और आश्चर्य। प्राकृत में 'चमक्क' शब्द दो अर्थों में प्रयुक्त होता है, 'विस्मय' और 'आश्चर्य' के अर्थ में और 'विस्मित करना' और 'आश्चर्यान्वित करना' के अर्थ में। प्रथम अर्थ में 'धर्मरत्नसंग्रह' और 'उपदेश टीका' में इसका प्रयोग हुआ है और दूसरे अर्थ में 'विवेकमंजरी' और 'विक्रान्त कौरव' नामक ग्रंथों में। 'पाइअ सद्दमहण्णव' में ये दोनों अर्थ दिए हुए हैं।

१ नागरीप्रचारिणी पत्रिका वर्ष ६१, अंक २-३, ( संवत २०१३ ) के आगे।

इस प्रकार ऊपर लिखी पंक्तियों का अर्थ इस प्रकार होना चाहिए — "कोई रमणी 'गुरु विकट रमण भार' ( नितंब ) को अत्यंत कष्ट से धारण कर रही है, जिससे उसकी गति में विस्मयकारक या आश्चर्यजनक लीलायित गति आ गई है। वह शीघ्रता से चल नहीं पाती।"

२ — ६४ (के बाद) **पुरउ** ··· ··· **रवि**

निम्नलिखित दो पंक्तियाँ केवल 'बी' प्रति में प्राप्य हैं:—

पुरउ सुवित्थरउ वन्नउ अद्धउ जइवि,
करि अज्जु गमणु महु भग्गा धू अत्थवइ रवि।

इन पंक्तियों की कोई टीका नहीं मिलती। परंतु इसमें कई शब्द ऐसे हैं जो विचारणीय हैं। ऊपर वाली पंक्ति में दो मात्रा कम हैं। संभवतः 'जइवि' के बाद 'नवि' शब्द और था जो किसी कारणवश छूट गया है। 'नवि' का अर्थ है, नहीं ( तुलनीय — ढोला मिलसि म बीसरसि नवि आविसि ना लेसि ) इस शब्द के जोड़ देने के बाद छंद और तुक ठीक बैठ जाते हैं और अर्थ भी स्पष्ट हो जाता है। भाव यह है कि पुर का मैंने सविस्तर वर्णन किया यद्यपि वह ( वर्णन ) आधा भी नहीं हुआ। ( हे पथिक ! आज गमन करके भागो नहीं, रवि निश्चित रूप से अस्तमित हो रहा है। )

२–७२ **ओसहे** ( आसहे ? ), **तग्गन्ति**

तुह विरह पहरसंचूरिआइं विहडंति जं न अंगाइं।
तं अज्ज कल्ल संघडण ओसहे णाह तग्गंति॥

इस गाथा का भाव दोनों टीकाकारों ने एक ही दिया है — "हे नाथ तुम्हारे विरहप्रहार से संचूर्णित अंग जो विघटित नहीं हो रहे हैं उसका कारण क्या है ? — आजकल में संघटन या मेल; इस औषध के प्रभाव से ये रह रहे हैं ( बने हुए हैं ) — "अद्यकल्ये संघटन ( म् ) मेल इत्यौषध प्रभावेन तिष्ठति"।

यहाँ 'ओसहे' का अर्थ 'औषध से' और 'तग्गन्ति' का अर्थ 'तिष्ठन्ति' किया है। पूरी गाथा का भाव ऐसा जान पड़ता है कि अंगों के विघटन अर्थात् अलग अलग हो जाने में कोई वस्तु बाधक है। टीकाकारों के मत से आजकल में मिलन रूपी औषध ही वह वस्तु है। किंतु मिलन तो हो नहीं रहा है, इसलिये मिलनरूपी औषध का वर्तमान प्रसंग में बाधक होना युक्तिसंगत नहीं है। मिलनरूप औषध जब प्राप्त हो जाएगा तो विरहप्रहार का कोई प्रश्न ही नहीं रह जाएगा। यहाँ विरहावस्था में उसका यही अर्थ किया जा सकता है कि 'विरहप्रहार से संचूर्णित अंगों का विघटन जो नहीं हो रहा है वह इसलिये कि आजकल में मिल जाने की आशा है। मिलन नहीं, मिलन की आशा विघटन में बाधक है। कालिदास ने भी मेघदूत में 'आशापाश' को ही नारियों के फूल की तरह सुकुमार प्रेमपूर्ण हृदय के टूट कर बिखर जाने में बाधक बताया है —

आशाबन्धः कुसुमसदृशं प्रायशो ह्यंगनानां।
सद्यःपाति प्रणयिहृदयं विप्रयोगे रुणद्धि॥

विरहकाल में औषध का काम मिलन नहीं, मिलन की आशा करती है, इसलिये यदि 'ओसहे' पाठ हो तो आशा का अध्याहार करना होगा।

'तग्गंति' 'तग्ग्' धातु से बना है। अर्थ है — तागना। तागा या धागा देशी शब्द है जिसका अर्थ है सूत्र या सूता। हेमचंद्र ने 'देशी नाममाला' में 'धागे के कंकण' के अर्थ में

'तग्ग' शब्द का प्रयोग बताया है ( देशी नाममाला । ५।१)। हिंदी के 'ताग–'पाट' शब्द में यह अर्थ सुरक्षित रह गया है । हिंदी में 'तागना' धातु भी सुरक्षित है, अर्थ है—तागे से जोड़ना, या सीना । इसलिये 'तग्गंति' का अर्थ हुआ—'तागे से सिए जाते हैं।' टीकाकारों ने तिष्ठन्ति अर्थ करके इस शब्द के साथ न्याय नहीं किया । संदेशरासक के विद्वान संपादक ने भी 'प्राकृत-शब्द-सूची' में इस अर्थ की ओर इंगित किया है । वस्तुतः 'ओसंहे' पाठ अशुद्ध जान पड़ता है । यह 'सी' प्रति का पाठ है । 'ए' प्रति में 'उसहे' पाठ है तथा 'बी' प्रति में 'संघडहे' । स्पष्ट ही यह शब्द प्रतिलिपिकारों के सामने कई रूपों में आया है । जान पड़ता है कि मूल पाठ 'आसहे' था जिसका अर्थ होता है—आशा से । इस पाठ के मान लेने से अर्थ बहुत स्पष्ट हो जाता है और किसी प्रकार के अध्याहार की आवश्यकता नहीं रह जाती है । अतः मेरा प्रस्ताव है कि 'ओसहे' के स्थान पर 'आसहे' पाठ स्वीकार करना चाहिए । ऐसा मान लेने पर अर्थ इस प्रकार होगा—

हे नाथ, तुम्हारे विरह के प्रहार से संचूर्णित अंग जो टुकड़े टुकड़े होकर बिखर नहीं जाते ( वह इसलिये कि ) आजकल में मिलन होगा, इस आशा से तागे जाते रहते हैं ।

२-७३ **मुक्की , मुक्क**

ऊसासडउ न मिल्हवउ, दज्भण अंग भएण ।
जिम हउ मुक्की वल्लहइ, तिम सो मुक्क जमेण ॥

टीकाकारों ने इसका अर्थ इस प्रकार समझाया है—'अपने पति की वस्तु की रक्षा करती हुई वह पति के लिये आशीर्वाद कहती है—शरीर जलने के डर से मैं उच्छ्वास नहीं छोड़ती । इसलिये आशीर्वाद है कि जैसे मैं वल्लभ से छोड़ी गई हूँ वैसे वह यमराज द्वारा मुक्त किया जाय—'ततः आशीः—यथाऽहं वल्लभेन मुक्ता तथा स ज (य) मेन मुच्यात्' । इसमें 'मुक्क' शब्द का अर्थ किया गया है—'मुच्यात्' परंतु मुक्क शब्द का सीधा सादा अर्थ है मुक्त, छोड़ा हुआ । यदि अर्थ इस प्रकार किया जाय तो 'मुक्क' शब्द की संगति बैठती है—

"अंग जल जाने के डर से मैं उसास नहीं छोड़ती । जिस प्रकार मैं वल्लभ से छोड़ दी गई हूँ ( मुक्की ) उसी प्रकार वह ( सांस, प्राण ) भी यमराज के द्वारा छोड़ दिया गया है अर्थात मेरे प्राणों को यमराज भी नहीं ले जा रहा है ।"

संपादक ने इस दोहे के संबंध में लिखा है कि "यद्यपि यह दोहा सब आदर्शों में मिलता है और इसकी व्याख्या भी मिलती है तथापि अग्रिम पद्य में कहे हुए वर्णन के अनुसार यह प्रक्षित जान पड़ता है ।" अग्रिम पद्य में कहा गया है कि हे पथिक ! यह गाथा कह करके प्रिय को मना लेना । स्पष्ट है कि केवल गाथा कहकर मनाने की बात है, दोहे की नहीं । यदि मेरे द्वारा सुझाया हुआ अर्थ स्वीकार कर लिया जाए तो संपादकों की आशंका का भी कोई कारण नहीं रह जाएगा क्योंकि ७२ वीं गाथा ही संदेशा है । इस दोहे में कोई संदेशा नहीं है । गाथा पढ़ने के बाद नायिका ने पथिक से अपने जीवित रहने की सफाई भर दी है । इसमें कोई संदेशा या मनाने की चिरौरी नहीं है और न जैसा टीकाकारों ने समझ लिया है, वैसा कोई आशीर्वाद ही है । यह तो केवल विरहिणी ने पथिक से यह बतलाया है कि मैं विरहप्रहार से जर्जर होकर भी जो जी रही हूँ उसका कारण यह है कि यमराज भी मुझसे विमुख हो गया है !

२-७५ **परिवाडि**

पिअविरहानलसंतविअ जइ वच्चउ सुर लोइ ।
तुअ छड्डिय हिययट्ठियह तं परिवाडि ण होइ ॥

टीकाकारों ने परिवाडि का अर्थ 'प्रतिपन्नम्' किया है। होना चाहिए—परिपाटी अर्थात् शिष्टाचार, पद्धति, रीति। विशेषावश्यक भाष्य के १०८५ वीं गाथा में यह इसी अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। 'पउम-चरिउ' (३।३।३।६।७) में यह शब्द इसी अर्थ में आया है। ३।१६।९ में 'परिवाडिए तुम्हहुँ हिययडप्उ जिमंतयाउ' में 'परिवाडि' शब्द परिपाटी अर्थात् शिष्टजन की रीति के अर्थ में ही व्यवहृत हुआ है। यहाँ इस गाथा का भाव यह होगा कि 'यदि मैं तुम्हें अपने हृदय में स्थित छोड़कर विरहाग्नि से संतप्त होकर सुरलोक चली जाऊँ तो यह उचित नहीं होगा क्योंकि शिष्टजन की परिपाटी यह नहीं है कि किसीको घर में बैठाकर स्वयं दूसरी जगह जाया जाए।'

२-७८ **छावडइ**

> विरह परिग्गह छावडइ पहराविउ निरवक्खि।
> तुट्टी देह ण हउ हियउ, तुअ संमाणिय पिक्खि॥

'छावड' शब्द का अर्थ झापड़ या चपेटा है। हेमचंद्र ने अपने व्याकरण के १।१४६ और १।१९२ में 'चाविडा' शब्द का प्रयोग 'चपेटा' अर्थ में बताया है। 'विरह परिग्गह छावडइ' का अर्थ होना चाहिए 'विरह परिग्रह के चपेटों से (निरंतर प्रहार किया गया है), 'तुट्टी देहण हउ हियउ' में 'तुट्टी देह' को टीकाकारों ने बिल्कुल ही छोड़ दिया है। 'छावड़' या 'छावड़ा' का अर्थ 'चपेटा' कर लिया जाए तो अर्थ बहुत स्पष्ट हो जाता है—

'विरह के चपेटों से शरीर पर निरपेक्ष प्रहार हुआ है, उससे देह तो टूट गई है पर हृदय घायल नहीं हो सका है क्यों वह तुम्हारे द्वारा संमानित है।'

२-७९ **पाली, धण**

> मह ण समत्थिम विरह सउ ता अच्छउं विलवंति।
> पाली रूअ पमाण पर, धण सामिहि घुम्मंति॥

इसका भाव टीकाकारों ने यह बताया है कि—'विरह से मेरा सामर्थ्य नहीं चल सकता (विरह पर मेरा वश नहीं है) इसलिये रोती रहती हूँ, क्योंकि गोपालों का पूत्कार ही प्रमाण है (अर्थात् ग्वाले रो-चिल्ला भर सकते हैं) परंतु धन अर्थात् गायें मालिकों द्वारा घुमाई जाती हैं, दूसरों के द्वारा नहीं। 'पाली' और 'धन' दोनों ही के आगे 'गो' शब्द का अध्याहार कर लिया गया है, परंतु 'पाली' शब्द का सीधा-सादा अर्थ है पालन करनेवाली (धाय); 'धण' शब्द अपभ्रंश में तथा उत्तरकालीन हिंदी में भी दुलहिन के अर्थ में बहुत प्रचलित रहा है (तुलनीय-ढोला सामला धण चंपक वरणी, हेमचंद्र)। इसलिये मुझे लगता है कि यहाँ सीधासादा अर्थ यह है कि 'दुलहिन या वहू' को पति जहाँ चाहे ले जा सकता है, उसका पालन करनेवाली धाय केवल रो सकती है। इसी प्रकार मैं केवल रो सकती हूँ। तुम्हारा प्रेमजन्य विरह मेरे मन को जहाँ चाहे घुमाता रहता है, उसपर मेरा वश नहीं।

२-८६ **सिज्जासणउ**

> तुय समरंत समाहि मोहु विसम ट्ठियउ,
> तह खणि खुवइ कवालु न वाम करट्ठियउ।
> सिज्जासणउ न मिल्हउ खण खट्टंग लय,
> कावालिय कावालिणि तुय विरहेण किय॥

इसमें 'समाहि मोहु', 'कवालु', 'सिज्जासणउ' और 'खट्टंग' शब्द श्लिष्ट हैं जो विरहिणी और कापालिक दोनों के लिये भिन्न भिन्न अर्थों में प्रयुक्त हुए हैं। विचारार्ह शब्द है—सिज्जासणउ। टीकाकारों ने 'सिज्जासण' शब्द के दो अर्थ बताए हैं, कापालिक के पक्ष में 'शय्याया अधस्तादशनम्' और विरहिणी के पक्ष में "शय्यायामासनम्"। प्रथम अर्थ चिंत्य है। शय्या के नीचे (या ऊपर ?) भोजन कापालिक का कोई लक्षण नहीं है। वस्तुतः होना चाहिए 'सिद्धासनम्' जिसका प्राकृत रूप होगा 'सिज्झासणम्' या 'सिज्जासनम्'। सिद्धासन योग का प्रसिद्ध आसन है। यह समाधिकाल का प्रशस्त आसन माना जाता है।

२-९० विवज्जइ, धूमइण (धू जइ ण ?)

सोसिज्जंत विवज्जइ सासे दीउन्हएहि पसयच्छी।
निवडंत बाहभर लोयणाइ धूमइण सिच्चंति॥

टिप्पनक में इसका अर्थ इस प्रकार दिया हुआ है—'दीर्घाक्ष्याः दीर्घोष्णैः श्वासैः शोष्यमाणोऽपि विवर्द्धते विरहाग्निः। यद् धूम्रेण निपतद् वाष्पभरे लोचने स्रवतः। अर्थात् उस दीर्घाक्षी के दीर्घ उष्ण श्वासों से सुखाई जाकर भी विरहाग्नि बढ़ रही है। क्योंकि धूम्र से (?) झड़ते हुए अश्रु से पूर्ण आँखें स्रवित होती रहती हैं।' यह अर्थ ठीक नहीं जमता। यहाँ टीकाकार ने 'विवज्जइ' का अर्थ किया है 'विवर्द्धते' और 'सिच्चन्ति' का अर्थ किया है 'स्रवतः'। दोनों ही चिंत्य हैं। 'विवज्जइ' का अर्थ 'विपद्यते' होना चाहिए। इस अर्थ में अपभ्रंश में और प्राकृत में इसका प्रचुर प्रयोग हुआ है। 'विपद्यते' अर्थात् मरती हैं या मर जाती है। अवचूरिका में 'विपद्यते' अर्थ ही दिया है। 'सिच्चंति' का सींचती हैं अर्थ ठीक होगा। अवचूरिकाकार ने यही अर्थ स्वीकार किया है। इसी तरह अवचूरिकाकार ने 'धूमइण' की व्याख्या में 'ध्रुवं निश्चयं यदि सा न (सिच्यते)' अर्थ दिया है जो स्पष्ट ही 'ए' प्रति के 'धू जइ ण' पाठ के अनुसार है। सब मिलाकर अवचूरिका की व्याख्या और उसके द्वारा स्वीकृत पाठ उत्तम है। इस पाठ के अनुसार अवचूरिकाकार ने जो अर्थ लिखा है उसका भावार्थ यह है कि 'विरहिणी कहती है कि हे पथिक ! तुम प्रिय से जाकर कहना कि वह प्रसृताक्षी (नायिका) दीर्घ उष्ण श्वासों से सुखाई जाने से मर जाती यदि लोचनों से निरंतर झड़नेवाली अश्रुधारा उसे निश्चित रूप से न सींचते रहते।'

२-९५

पिय विरह विओए ... ... ... ... कसु पहिय भणे।

पिय विरह विओए, संगम सोए, दिवस रयणि झूरंत मणे,
णिरु अंगु सुसंतह, वाह फुसंतह, अप्पह णिद्दय किंपि भणे।
तसु सुयण निवेसिय, भाइण पेसिय, मोहवसण बोलंत खणे,
मह साइय वक्खरु, हरि गउ तक्खरु, जाउ सरणि कसु पहिय भणे॥

इस पद्य की अंतिम दो पंक्तियाँ 'सी' प्रति में नहीं हैं। दोनों टीकाएँ उपलब्ध हैं। दोनों ही टीकाकार इसका जो अर्थ देते हैं वह प्रायः एक ही है। अवचूरिका का पाठ अधिक शुद्ध है, इसलिये उसे ही यहाँ उद्धृत किया जा रहा है—

प्रिय विरह वियोगाय, संगम सुखकाय रात्रिदिनं क्लिश्यन्ती नितरामङ्गं शोषयन्ती वाष्पानि मार्जयन्ती आत्मनो निर्दयाय प्रियाय किं भणामि। परं त्वं त्वेवं वदेः—यत्त्वां हृदये निवेश्य भावेनाप्रेक्ष्य मोहवशात् क्षणं, तयोक्तं मम स्वामिनो वक्खरं नाम वस्तु विरहनामा तस्करो हृत्वा गच्छति प्रत्यहम्। तद्भण प्रिय कस्य शरणं गच्छामि।

टिप्पनक ने वक्खरं की व्याख्या में "वक्खरं रूपं नाम वस्तु" कहा है, इतना ही विशेष है। ऐसा जान पड़ता है कि दोनों ही टीकाकारों ने 'विरह विओए संगम सोए' को 'णिद्दय' का विशेषण माना है।

पियविरहविओए = प्रियविरह वियोगग्य ( प्रियविरह वियोगे ? )
संगमसोए = संगमसूचकाय ( संगम शोके ? )
अप्पह = आत्मनः
णिद्दय = निर्दयाय ( हे निर्दय ? )
किंपि = किं ( किमपि ? )
तसु = त्वां ( तस्य ? तादृश ? )
सुयण ( पाठा०-सुयणु ) = हृदये ( सुतनु ? )
निवेसिय = निवेश्य ( निवेशित ? )

भाइण = भावेन
पेसिय = आप्रेक्ष्य ( ? ) ( पाठ०—भेसिय ) ( प्रेक्षित ? )
वोलंत = तयोक्तं ( ? ) ( निर्गमयति ? )
मह = मम
साइय = स्वामिनः ( साहिय, सहेजा हुआ, कथित ? )
ववखरु = रूपं । नाम वस्तु
हरि गउ = हृत्वा गच्छति ( हृत्वा गतः ? )
पहिय = पथिक ( प्रहृता, प्रहता, निर्मथिता ? )

यह पद्य भाषाशास्त्रीय दृष्टि से बहुत महत्वपूर्ण समझा गया है। यदि टीकाकारों का दिया हुआ अर्थ ठीक है तो संस्कृत की चतुर्थी विभक्ति के स्थान पर अपभ्रंश में सप्तमी विभक्ति के प्रयोग का यह एकमात्र उदाहरण है। साथ ही 'णिद्दय' में एकवचन में षष्ठी विभक्ति का लोप भी इस पद्य में पाया जाता है जब कि हेमचंद्र ने बहुवचन में षष्ठी विभक्ति के लोप होने का विधान किया है। टीकाओं में दिए हुए कुछ अर्थ कष्टकल्पना से ही सिद्ध हो सकते हैं। 'संगम सोए' का अथ 'संगमसूचकाय' चिंत्य है। यहाँ 'संगम के शोक से' 'संगम के सोच से' ज्यादा उपयुक्त ज्ञात होता है। 'कि पि' का 'कि' अर्थ भी चिन्त्य है।' 'कुछ भी'( किमपि ) अर्थ ज्यादा संगत होता। 'तसु' का अथं त्वां भी ठीक नहीं जँचता। पुस्तक में सर्वत्र तसु सर्वत्र षष्ठी का ही रूप माना गया है किंतु अपभ्रंश में यह 'तादृश' के अर्थ में प्रयुक्त होता है। सुयण का अर्थ 'हृदये' कैसे हुआ, यह भी विचारणीय है। इस प्रकार पूरे छंद का अर्थ बहुत स्पष्ट नहीं हुआ है, ऐसा जान पड़ता है। 'निवेसिय' और 'पेसिय' का अर्थ क्रमशः 'निवेश्य' और 'आप्रेक्ष्य' दिया हुआ है जो असंभव तो नहीं है लेकिन सारे ग्रंथ में इस प्रकार के प्रयोग प्रायः निरुढांत प्रत्ययों में हुए हैं। यहाँ भी 'निवेशित और 'प्रेक्षित' के रूप में अर्थ किया जाता तो ग्रंथ की भाषा की प्रकृति के निकट होता। 'वोलंत' का 'तया उक्तं' अर्थ भी जबरदस्ती ही जान पड़ता है। १३९ वें पद्य में इस धातु का प्रयोग बिताने के अर्थ में हुआ है— 'इम तवियउ बहु गिंभ कहिवि मइ वोलविय' अर्थात् इस प्रकार ग्रीष्म ऋतु तपी और मैंने किसी प्रकार उसे बिताया। टीकाकारों के शब्दों में 'कष्टं कृत्वा मया निर्गमितः', यहाँ भी, 'वोलंत' का अर्थ 'बिताते हुए' उचित होता।

जैसा कि ऊपर कहा गया है। सुयण का अर्थ 'हृदये' भी समझ में नहीं आता। बी० प्रति में 'सुयणु' पाठ है जो अधिक उपयुक्त जान पड़ता है। यह 'सुतनु' ( सुंदर शरीर ) का प्राकृत रूप है। 'साइय' का अर्थ 'स्वामिनः' भी दूराकृष्ट है। 'साहिय' ( साधित ) सहेजा हुआ के अर्थ में यह व्यवहृत हुआ है। हेमचन्द्र ने अपने प्राकृत व्याकरण में 'साह' धातु का अर्थ 'कहना' ( कथ् ) बताया है (८-२४) और एक स्थान पर ( ४-२ ) 'साहइ' का अर्थ 'कथयति'

दिया है। सहेजना असल में विशेष भाव से संभाल कर रखने के लिये कहना ही है। गाथा सप्तशती में 'माए घरो व अरणं अज्ज हु णत्थि त्ति साहिअं तुमए' में 'साहिअं' का प्रयोग बहुत-कुछ ऐसे ही सहेज कर कहे हुए अर्थ में हुआ है। 'साहिय' से 'साइय' बनना संभव है। इस प्रकार 'साइय वक्खरु' का अर्थ होगा—'सहेजी हुई ( विशेष यत्नपूर्वक संभाल कर रखने के लिये कही हुई ) वस्तु होगा।

जो हो, ६२ वें पद्य में विरहि ाी ने कहा था कि मुझे संदेशा तो बहुत कहना है पर तुम उतावले हो, सो हे पथिक, उस प्रिय से एक गाथा, एक वत्थु और एक डोमिल कह देना—

"संदेसडउ सवित्थरु तुहु उत्तावलउ,
कहिय पहिय पिय गाह वत्थु तह डोमिलउ॥"

स्पष्ट ही तीनों छंद संदेशा के हैं। टीकाकारों द्वारा सुझाए अर्थ में प्रस्तुत. छंद केवल प्रिय को संदेशा नहीं है बल्कि पथिक से प्रार्थना है कि वही नायिका की ओर से कुछ बात कह दे। इस प्रकार ६२ वें छंद से ( और संदेशरासक में अपनाई हुई सारी संदेश-पद्धति से ) इसका सामंजस्य नहीं है। शायद यही असामंजस्य को देखकर 'सी' प्रति के लेखक ने इस छंद ( ६५ वें ) के अंत की दो पंक्तियों को छोड़ दिया है। इसमें 'पहिय' शब्द आता है जो पूरे ग्रंथ में 'पथिक' का वाचक है। परंतु 'पहय' जैसे शब्द भी ग्रंथ में आए हैं ( पद्य १०३ ) जो 'प्रहत' या 'प्रहता' के प्राकृत रूप हैं। यदि 'पहिय' को 'प्रहता' या 'प्रहृता' के अर्थ में लिया जाता तो यह असामंजस्य नहीं उत्पन्न होता।

इसके पूर्व नायिका ने अपनी कष्टकथा बताई है और कहा है 'जब से तुम प्रवास में गए तब से मुझे नींद भी नहीं आ रही है, स्वप्नसमागम का तो प्रश्न ही कहाँ उठता है।' इसके बाद वह कहती है कि "दिन रात चिंतित रहने से उसके अंग सूख गए हैं परंतु यह 'रूप' तो इस नायिका का अपना नहीं है, यह तो प्रिय का है। उसने (प्रिय ने) उस प्रकार उसे अपनाया था, दुलारा था, प्रेमपूर्वक निहारा था और जाते समय सहेज गया था। वही रूप अब विरह नामक तस्कर चुरा ले गया। हाय भाग्य की मारी ( पाहिय = प्रहता ) या लुटी हुई ( पहिय = प्रहृता ) किसकी शरण जाय।

इस प्रकार समूचे पद्य का अर्थ इस प्रकार होगा—

"हे निर्दय, प्रिय-विरह-जन्य वियोग से, संगम के सोच से दिन रात चिंतित रहने वाले मन से अपने आपके बारे में ( जिसके अंग निरंतर सूखते जा रहे हैं, जिसे आँसू पोंछते रहना पड़ता है ) मैं कुछ भी क्यों न कहूँ ( उससे क्या लाभ है! ) परंतु ( चिंता है उस प्रिय के द्वारा संभाल कर रखने को सहेजी हुई इस 'रूप' नामक वस्तु की! ) उस प्रकार (प्रिय ने) जिसे अपने सुंदर शरीर से लगाया ( सुतनु-निवेशित ), प्रीति पूर्वक निहारा ( भावेन प्रेक्षित ) मुझे सहेजा, वह रूप नामक उसकी वस्तु (उपस्कर) चोर (= विरह) चुरा ले गया। ( कब चुराया? ) जब मैं मोहवश ( बेहोशी की हालत में ) समय बिता रही थी ( मोहवशेन निर्गमिति क्षणे ) हाय ? लुटी हुई मैं अब किसकी शरण जाऊँ!

'पहिअ' शब्द का अर्थ देशी नाममाला (६-६) में 'मथित' भी बताया गया है। यहाँ 'पहिय' का अर्थ 'निर्मथिता' भी किया जा सकता है, परंतु 'प्रहता' या 'प्रहृता' अधिक प्रसंगानुकूल होगा। अवचूरिका मे 'प्रत्यहं' कदाचित् इसी शब्द का अर्थ है।

२-१०० **पडिल्लो, बोलियंतो**

'पडिल्लो, का अर्थ 'क्षिप्त्वा' किया गया है। पड़ाया हुआ या डाला हुआ उचित अर्थ है। 'बोल्लियंतो' का अर्थ 'अचितं कृत्वा' बताया गया है। बोरते हुए या डुबोते हुए ठीक अर्थ है। हिंदी के 'बोरना' धातु का यह पूर्वरूप है। ( क्रमशः )

# आधुनिक साहित्यिक हिंदी के नामधातु और नामिक संयुक्त क्रियाएँ

वि० ए० चेर्निशोव

१–प्रस्तावना

१–नाम-धातु

नामधातुओं का निर्माण और उनका अर्थ––नाम-धातु और प्रेरणार्थक क्रियाएँ—नाम-धातु और धातु-क्रियाएँ।

३–'नाम + क्रिया' वाले स्थायी वाक्यांश और नामिक संयुक्त क्रियाएँ

वस्तुवाचक संज्ञा और "करना" के संयोग—भाववाचक संज्ञा और "करना" के संयोग–"नाम + क्रिया" वाले वाक्यांश में शब्दों की स्वतंत्रता के लक्षण-विशेषण और "करना" के संयोग और उनका आशय—विधेय-विशेषण के रूप में संज्ञा—नाम और "होना" के संयोग—नामिक संयुक्त क्रियाओं का निर्माण और उनके लक्षण—सकर्मक नामिक संयुक्त क्रियाएँ—अकर्मक नामिक संयुक्त क्रियाएँ—अस्थायी प्रयोग की इकाइयाँ—नामिक संयुक्त क्रियाओं के प्रयोग की विशेषताएँ—नामिक संयुक्त क्रियाओं की समस्या और सहायक क्रियाएँ।

४–कुछ निष्कर्ष

*

यह लेखक के निबंध ( थीसिस ) का संक्षिप्त विवरण है। इसमें आधुनिक हिंदी में जिन नाम-धातुओं का प्रयोग होता है उनका अध्ययन किया गया है। ये नामधातु, जो आधुनिक हिंदी में प्रत्ययों के द्वारा या क्रियावाक्यांश के तत्वों के एक दूसरे के नजदीक आने से बनते हैं, हिंदी शब्दकोष के अटूट से भाग रहे हैं। नामों से बनी हुई क्रियाओं की उत्पत्ति का विश्लेषण शब्दभंडार की वृद्धि की दृष्टि से महत्वपूर्ण है। अर्थविचार की दृष्टि से और हिंदी में उनके स्थान और प्रयोग को ध्यान में रखते हुए भी उन क्रियाओं का अध्ययन बड़े महत्व का है।

आधुनिक हिंदी की मुख्य विशेषता यह है कि इसमें बड़े पैमाने पर ऐसे क्रियावाक्यांशों का प्रयोग होता है जिनमें नाम और क्रिया संमिलित होते हैं। आगे हम उन्हें "नाम + क्रिया" वाले वाक्यांश कहेंगे। इसलिये कभी कभी उपयुक्त स्थिति में ऐसे क्रियावाक्यांशों से संयुक्त क्रियाएँ बनती हैं। इस वार्त का विवरण सैद्धांतिक भाषाशास्त्र और भाषा के मौखिक अभ्यास दोनों के लिये आवश्यक है। सैद्धांतिक भाषाशास्त्र के लिये ये प्रश्न अत्यावश्यक हैं कि ऐसी संयुक्त क्रियाएँ क्रियावाक्यांशों से कैसे बनती हैं, किस अवस्था में यह होता है और कौन से नियम होते हैं जिनके अनुसार क्रियावाक्यांश और संयुक्त क्रिया के बीच विभाजन-रेखा खींची जा सकती है। यह विभाजन हिंदी भाषा में आसानी से बोलने के अभ्यास—विशेषकर हिंदी में किसी दूसरी भाषा से अनुवाद करने के लिये अत्यावश्यक है।

थीसिस लिखने में तुलना के लिये उर्दू व्याकरण और उर्दू-कहानी-संग्रहों की भाषा के प्रयोग भी लिए गए हैं।

साधारण नामधातुओं का विवरण बहुत से उर्दू और हिंदी व्याकरणों में नहीं मिलता। उनपर दी गई छोटी टिप्पणियाँ जान बीम्स के तुलनात्मक व्याकरण, प्रो० पिनकाट की हिंदी पाठ्यपुस्तक, सि० एन० शर्मा के हिंदी व्याकरण, ए० पि० बरानिकोव' की हिंदुस्तानी और दूसरी कृतियों में मिलती हैं। साधारण नामधातुओं और उनकी कई मुख्य विशेषताओं का छोटा विवरण जान प्लाट्स के हिंदुस्तानी या उर्दू व्याकरण में दिया गया है। इस क्षेत्र में सबसे व्यवस्थित लेख रूसी विदुषी एम० ए० कलागिना कोंद्रात्येवा का है, जिसका नाम है 'उर्दू जबान में दूसरी भाषाओं के धातुओं से बनी हुई क्रियाओं पर विचार'।

नाम+क्रिया वाले वाक्यांश के संबंध में कई लेखों और व्याकरणों में यह कहा गया है कि इनका प्रयोग बड़े व्यापक रूप से होता है और यह भी बताया गया है कि उनका प्रयोग किस प्रकार होता है। कभी कभी उनमें बड़े महत्व की छोटी-छोटी टिप्पणियाँ भी मिलती हैं। उदाहरण के लिये केलाग के 'हिंदी व्याकरण' में कहा गया है कि ये 'नाम+क्रिया' वाली इकाइयाँ संयुक्त क्रिया नहीं हैं, वास्तव में यह केवल वाक्यांश हैं। इसके अलावा उन्होंने एक बारीक बात यह कही है कि एक ठोस शब्द वाले साधारण नामधातु और उसके समानार्थक 'नाम+क्रिया' वाले वाक्यांश में शैली की दृष्टि से थोड़ा सा ही अंतर होता है।

जान प्लाट्स, जिन्होंने संज्ञा या विशेषण वाले क्रियावाक्यांशों का विवरण काफी ब्योरेवार दिया है, का कहना है कि ये इकाइयाँ संयुक्त क्रियाएँ नहीं हैं। लेकिन उन्होंने 'केलाग' की तरह ऐसी इकाइयों का विवरण नहीं दिया है जो गुणात्मक रूप से वाक्यमूलक नाम और क्रिया वाली इकाइयों से अलग हैं।

क्रियावाक्यांश और संयुक्त क्रिया के बीच ऐसी विभाजन रेखा डालीं की हिंदी पाठ्य-पुस्तक और कामता प्रसाद गुरु के 'हिंदी व्याकरण' (१९५२ का संस्करण) में स्पष्ट रूप से खींची गई है। इस विषय की नवीनतम कृतियों में से नामिक संयुक्त क्रियाओं के सवाल पर ए० ए० दवीदोवा की 'हिंदुस्तानी में संयुक्त क्रियाएँ' शीर्षक थीसिस और एल० एम० पोमेरान्त्सेव की 'वाक्य में 'को' परसर्ग का व्यवहार' शीर्षक थीसिस में कुछ प्रकाश डाला गया है। अफसोस की बात है कि ये रचनाएँ अभी तक किसी दूसरी भाषा में अनूदित नहीं हुई हैं।

ए० ए० दवीदोवा की रचना में मुख्यतः क्रिया वाली संयुक्त क्रियाओं का विश्लेषण हुआ है। उन्होंने अंशतः अपने मुख्य विषय के संबंध में नामिक संयुक्त क्रियाओं के सवाल पर भी विचार किया है। उन्होंने क्रियावाक्यांश और नामिक संयुक्त क्रियाओं के बीच विभाजनरेखा खींचने के लिये कई मापदंड बनाए हैं; जैसे क्रियावाक्यांश में नाम वाले भाग के सामने विशेषण प्रयुक्त हो सकता है; इसके अलावा नाम में भी लिंग और वचन सुरक्षित रहते हैं। लेकिन आगे चलकर वह इस विचार पर स्थिर न रह सकीं जिससे सब 'नाम+क्रिया' वाले वाक्यांश नामिक संयुक्त क्रियाओं की पंक्ति में स्वयमेव ही आ गए।

एल० एम० पोमेरान्त्सेव की थीसिस में नामिक संयुक्त क्रियाओं का वर्णन विस्तृत रूप से नहीं हुआ है क्योंकि अपने विषय से बँधे होने के कारण उन्होंने केवल सकर्मक नामिक संयुक्त क्रियाओं का ही विश्लेषण किया।

## नामधातु

**नाम-धातुओं का निर्माण और उनका अर्थ**—भिन्न शब्दों, संज्ञा, विशेषण और सर्वनाम, से उत्पन्न होने वाले नामधातुओं का हिंदी शब्दावली में विशेष स्थान है। उनकी श्रेणी में मुख्यतया धातु-क्रियाओं के पर्याय शामिल होते हैं। हर एक नामधातु में दो अंश मौजूद होते हैं—कार्य-परक और वस्तु-गुण-परक। इस दृष्टि से नामधातु दो अंशों का संश्लेषण (सिंथेसिस) है। क्रियापरक अंश क्रिया के लक्षण वाले भिन्न व्याकरणात्मक प्रवर्गों में प्रकट होता है। वस्तु-गुण-परक अंश नाम धातु के ढाँचे और उसके अर्थ में संमिलित हुए आदि शब्द के रूप और अर्थ पर निर्भर होता है।

वस्तुवाचक नामों से जो क्रियाएँ उत्पन्न होती हैं उनका अर्थ वस्तु की मुख्य विशेषता के आधार पर बनता है। वस्तु की मुख्य विशेषता उनके अर्थ का आधार हो जाता है। किस उद्देश्य के लिये यह वस्तु प्रयोग की जाती है, इस वस्तु के क्या भौतिक और रासायनिक गुण होते हैं, समाज के जीवन में इस वस्तु का प्रयोग किसलिये होता है आदि—ये सब बातें वस्तु की मुख्य विशेषता प्रकट करती हैं।

वस्तुवाचक नाम और उससे उत्पन्न होने वाली क्रिया के बीच क्या-क्या संबंध होंगे यह इस बात पर निर्भर होता है कि वस्तु की कौन सी मुख्य विशेषता नामधातु के अर्थस्वरूप में रखी गई है। नामधातु और नाम के बीच जो संबंध स्थापित होते हैं वे भिन्न भिन्न प्रकार के हो सकते हैं। किसी वस्तु (श्रम-यंत्र) के द्वारा किसी काम को करना जैसे 'लठियाना'—'लाठी' से मारना, जो 'लाठी' से उत्पन्न हुआ या; 'हथियाना'—हाथ से लेना, पकड़ना, जो 'हाथ' से उत्पन्न हुआ; किसी उद्देश्य के लिये वस्तु के भिन्न भिन्न गुणों का प्रयोग करना, जैसे 'पनियाना'-पानी देना, सिंचाई करना, जो 'पानी' से उत्पन्न हुआ; या 'मंडियाना'—मांड लगाना, जो 'मांड' से उत्पन्न हुआ; किसी वस्तु के गुणों को अपनाना उस वस्तु जैसा बनना, उदाहरण के लिये 'पथराना' पत्थर जैसा कड़ा और निश्चल हो जाना, पत्थर सा बनना जो 'पत्थर' से उत्पन्न हुआ या; 'कठियाना' काठ जैसा कड़ा हो जाना, काठ सा बनना, जो 'काठ' से उत्पन्न हुआ; किसी कारीगरी के काम को करना जैसे 'नकाशना'–पत्थर, हड्डी आदि पर कटाई करना जो 'नक्काश' से उत्पन्न हुआ आदि आदि—यह सब बातें वस्तुवाचक या व्यक्तिवाचक नाम और उससे बनी हुई क्रिया में स्थापित हुए संबंधों को प्रकट करती हैं। क्रिया के अर्थ के आधार में नाम की प्रयोग-संबंधी या गुण-संबंधी विशेषता रखी जाती है।

इन क्रियाओं के अर्थ, जो अनुकरणात्मक संज्ञाओं से उत्पन्न हुई हैं दूसरे नामधातु से अलग हैं। ऐसी क्रियाएँ अपने मूल शब्द में स्वरों के संयोग से वह ध्वनि प्रकट करती हैं, जो वस्तु के चलने या काम में लाने से उत्पन्न होती हैं, और जो इस क्रिया से प्रकट होने वाले कार्य का मूल हो जाती है, जैसे 'खटखटाना' या 'चड़चड़ाना'।

जो शब्द संज्ञा शब्दों की विशेषता व्यक्त करते है उन्हें विशेषण कहते हैं। नामधातु सभी विशेषणों से नहीं बल्कि उन विशेषणों से उत्पन्न होते हैं जिनके द्वारा संज्ञा शब्दों के गुण अथवा दोष प्रकट होते हैं—दूसरे शब्दों में, वे केवल गुणवाचक विशेषणों से उत्पन्न हो सकते हैं। गुणवाचक विशेषण और उससे बनी हुई क्रिया में किसी वस्तु के किसी गुण के लगने (या लगाने) के संबंध से कायम हो जाते हैं। विशेषण से बनी हुई क्रिया के द्वारा ऐसा कार्य प्रकट होता है जिसका फल कर्म में किसी गुण के आरोप के लिये उसपर पड़ता है या कर्म पर न

पड़कर स्वयं कर्ता पर पड़ता है। इस सिलसिले में ऐसी क्रियाएँ दो प्रकार की होती हैं—(१) सकर्मक जैसे 'चौड़ाना' जो 'चौड़ा' से या 'लंबाना' जो 'लंबा' से उत्पन्न हुई है, और (२) अकर्मक जैसे 'दुबराना' जो 'दुबला' से या 'मोटाना' जो 'मोटा' शब्द से उत्पन्न हुई है। नामधातु के बनने का मुख्य नियम है प्रत्ययों द्वारा निर्माण। जिन प्रत्ययों के द्वारा नामधातु बनते हैं वे निम्नलिखित हैं -- ना,-आ-ना,-इया-ना। कई क्रियाओं के बनने में कभी कभी उच्चारणात्मक परिवर्तन होते हैं जैसे स्वरों का एक साथ मिलना, संयुक्त वर्णों का सरल होना, मूल शब्द में से ह्रस्व 'अ' का निकलना, दीर्घ 'आ' का ह्रस्व 'अ' में बदलना, आघात के स्थान का बदलना, स्वरों का एक दूसरे में बदलना या स्वरों का लुप्त हो जाना। कई क्रियाओं में आरंभिक मूल शब्द दुहराया जाता है—लेकिन ऐसा सदा 'आ-ना' प्रत्यय के संयोग में ही होता है।

नामधातु का मुख्य अर्थ उस शब्द के अर्थ पर निर्भर होता है जिससे वह उत्पन्न हुई है। नामधातु के रूपांतरित होने अथवा उपमा-संबंधी प्रयोग होने पर उससे दूसरा अथवा अमुख्य अर्थ निकलता है। उसके उपरांत भी अमुख्य अर्थ वाले नामधातु में आदि शब्द का अंतःरूप बचा रहता, उन दोनों में जो संबंध स्थापित है वह काफी अस्पष्ट हो जाता है। उन दोनों में जो कड़ी रहती है वही नाम धातु का मुख्य अर्थ है। उदाहरण के लिये दो वाक्य लीजिए—

१-मुख्य अर्थ-

'उसे अचानक याद पड़ा कि चूल्हे में पिरोग[1] **गरमाने** के लिये रख दिया था।

—( गोर्की-'मेरा बचपन' )।

२-अमुख्य अर्थ-

अब बेनीमाधव सिंह भी **गरमाये**।

—( प्रेमचंद-'सप्त सरोज' )।

कई नामधातुओं के अर्थ का विस्तार इसी कारण होता है कि नामधातु के अर्थ में दो और कभी कभी उससे ज्यादा भी शब्द की मुख्य विशेषताएँ रखी जाती हैं जैसे 'तंबियाना' जिसके दो अर्थ हैं —

१-हरा हो जाना, हरी पपड़ी पड़ना ( रंग ),

२-खराब हो जाना, ताँबे का सा स्वाद लगना ( स्वाद )।

**नामधातु और प्रेरणार्थक क्रियाएँ**—हिंदी की क्रिया-प्रणाली की एक विशेषता है प्रेरणार्थक क्रियाओं की उपस्थिति। प्रेरणार्थक क्रियाओं का सकर्मक क्रियाओं से अटूट संबंध होता है क्योंकि सब प्रेरणार्थक क्रियाएँ सकर्मक ही हैं।

परंपरागत नियमानुसार प्रेरणार्थक क्रियाओं में सब सकर्मक क्रियाएँ जिन का प्रेरणार्थक क्रियाओं में अर्थ और रूप दोनों का संबंध होता है, शामिल की जाती हैं। प्रेरणार्थक क्रियाओं के विषय में यह विचार पर्याप्त नहीं माना जा सकता है क्योंकि बहुत सी प्रेरणार्थक

१. पिरोग-एक प्रकार की पकौड़ी का रूसी नाम।

मानी जाने वाली सकर्मक क्रियाओं का अर्थ है कर्ता के द्वारा स्वतः ( अर्थात स्वयं, बिना सहायक के, अपने ही हाथों से ) किसी काम को करना। इस प्रकार ऐसे अर्थ के वाक्यों में कर्ता का अर्थ है स्वयं करने वाला जिसके करने का फल एकदम कर्म पर पड़ता है।

हमारा विचार है कि केवल ऐसी क्रियाओं को प्रेरणार्थक मानना चाहिए जो वाक्य में प्रेरणार्थक संबंध प्रकट करती हैं अर्थात् केवल ऐसी क्रियाओं को जिनका अर्थ केवल यह है कि कर्ता किसी काम को स्वयं न करके दूसरे या दूसरों से जो कर्ता और कर्म के बीच आते हैं, कराता है। इस प्रकार जो व्यक्ति व्याकरण की दृष्टि से वाक्य का कर्ता है वह वास्तविक कर्ता ( या खुद करने वाला ) नहीं है।

इस प्रकार प्रेरणार्थक क्रियाओं की संख्या ऐसे अनेक मानदंडों के आधार पर अल्पतम संख्या तक ले जानी चाहिए। ये मानदंड इस प्रकार के हैं—

१—अर्थसंबंधी ( प्रेरणार्थक संबंध का प्रकट होना )।

२—रूपसंबंधी ( मूल शब्द में 'आ' 'वा' 'लवा' प्रत्यय )।

३—वाक्यरचना-संबंधी ( वाक्य के ढाँचे का—प्रेरणार्थक क्रिया वाले वाक्य में इस कार्य को शामिल करने की संभावना है जो वास्तविक कर्ता को प्रकट करता है। यह कर्म करण कारक में 'से', 'के द्वारा', 'के जरिये', 'की मारफत' एक-एक प्रत्यय लेकर वाक्य में आता है )।

व्याकरण की प्रेरणार्थक क्रियाप्रणाली को इस प्रकार से समझकर नामधातु के सिलसिले में हम इस नतीजे पर पहुँचते हैं कि बहुत से नामधातु प्रेरणार्थक नहीं हो सकते क्योंकि आदि शब्द के वस्तु या गुण वाले अर्थ से बँधकर वे प्रेरणार्थक संबंध प्रकट नहीं कर पाते, उनके रूप में प्रेरणा की क्रिया वाले प्रत्यय नहीं आते। इसका दूसरा कारण यह है कि नामधातु अपेक्षाकृत नए शब्द हैं जो संस्कृत या प्राकृत में नहीं मिलते।[२]

केवल कुछ नामधातुओं का प्रेरणार्थक रूप होता है। नियम की तरह ऐसे नामधातु बहुत प्रयुक्त होते हैं और जिनकी उत्पत्ति भाववाचक शब्दों से हुई है। पहले पहल प्रेरणार्थक क्रियाओं में ऐसे शब्द ( नामधातु ) शामिल करने चाहिए जैसे 'बदलना'—परिवर्तन करना, जिसका प्रेरणार्थक रूप है 'बदलवाना' और 'खरीदना'—मोल लेना, जिसका प्रेरणार्थक रूप है खरीदवाना। दोनों नामधातु ऐसे शब्दों से उत्पन्न हुए हैं जो दूसरी पूर्वीय भाषाओं से हिंदी में आए थे।

'आ—ना' प्रत्यय के द्वारा उत्पन्न होने वाले नामधातु अकर्मक सकर्मक दोनों होते हैं क्योंकि 'आ—ना' प्रत्यय इन अकर्मक नामधातुओं के मूल शब्द में इन्हें सकर्मक अर्थ में प्रयोग करने का अवसर देता है जैसे 'शर्माना' जो अकर्मक सकर्मक है। उसका अर्थ है अकर्मक 'शर्म आना', सकर्मक 'शरमिंदा करना'[३]।

२. लेकिन हिंदी की बोलियों में वस्तुवाचक संज्ञाओं से उत्पन्न हुए नामधातुओं के प्रेरणार्थक रूप कभी कभी मिलते हैं जैसे 'लठियाना'' – प्रे० 'लठुवाना' या 'लठियवाना' ( ब्रज-भाषा, अवधी, भोजपुरी )।

३. लेकिन दूसरा अर्थ साहित्यिक हिंदी में प्रचलित नहीं है। वह बोलचाल की भाषा और हिंदी की बोलियों में मिलता है।

जहाँ तक अनुकरणात्मक क्रियाओं का सवाल है अपने मूलशब्द दीर्घ 'आ' के उपस्थित होते हुए भी वे प्रेरणार्थक संबंध प्रकट नहीं कर पाते और उनके प्रेरणार्थक रूप नहीं है जो अनुकरणात्मक क्रियाओं की प्रकृति से व्यक्त होता है।

**नामधातु और धातुक्रियाएं**—हिंदी की क्रियाप्रणाली का मूल है क्रिया-शब्दों का सबसे स्थायी भाग जिसमें धातुक्रियाएं शामिल होती हैं। धातुक्रियाएं एक शब्द वाली अटूट इकाइयां हैं जो साधारण करने या होने का कार्य प्रकट करती हैं और दूसरे शब्दों के उत्पन्न होने का आधार होती हैं। पुराने जमाने से अभी तक विकसित होकर वे भाषा के मुख्य शब्दभंडार में शामिल हैं। इस मुख्य शब्दभंडार का मूल होकर वे नए शब्दों को बनाने के लिये उनके अर्थ और ढांचे दोनों का आधार होती हैं जैसे 'चलना': √चल् < चलाना, चलैया, चलावा, चलाऊ आदि।

कई क्रियाएं, जिनमें मुख्य शब्दभंडार के सभी तत्व दीखते हैं और जो आज-कल धातु-क्रियाओं में शामिल होती हैं उनकी व्युत्पत्ति का विश्लेषण करके शब्द के प्रत्यय और धातु के मिलने से बनी थीं जैसे: सं० उप + √विश्–उपविष्टति उपविपति प्रा० उवविट्ठइ–(उवविसइ) अप० बैठउ (बैसउ)। कभी-कभी वे दो स्वतंत्र शब्दों के मिलने से उत्पन्न हुई थीं जैसे 'चुकना': सं० 'च्युत + √कर' का कर्मवाच्य = च्युतक्रियते, प्रा० चुक्कइ।

नामधातु ऐसे शब्द हैं जो अपेक्षाकृत आधुनिक काल में निकले थे।

नामधातुओं के अर्थ भिन्न ही क्यों न हों वे अपने अर्थ के अनुसार किसी धातुक्रिया से मिलते जुलते हैं। यह धातुक्रिया, जिससे अनेक नामधातुओं की पंक्ति मिलती जुलती है इस पंक्ति की आदर्श क्रिया बन जाती है क्योंकि वह इस पंक्ति का मुख्य आदर्श (मुख्य विचार) प्रकट करती है। उदाहरण के लिये 'जुतियाना'–जूता मारना, 'मुकियाना' मुक्की मारना, लठियाना–लाठी मारना, 'लतियाना'–लात मारना, 'हथौड़ियाना'–हथौड़ी मारना—इन सब नामधातुओं की आदर्श क्रिया है 'मारना'। नामधातु अपनी बहुसंख्या में हिंदी के शब्दकोष में प्रवेश करके उसके मुख्य शब्दभंडार से बाहर होते हैं।

लेकिन कोई कोई नामधातु शब्दकोष का स्थिर तत्व बनकर मुख्य शब्दभंडार में आ सकते हैं। ऐसे नामधातुओं में 'खरीदना'–मोल लेना और 'बदलना' परिवर्तन करना दो शब्द शामिल किए जा सकते हैं। यह विचार कि नामधातु आधुनिक हिंदी में आजकल उत्पन्न नहीं होते ठीक नहीं माना जा सकता। इसका विरोध ऐसे अल्पसंख्यक और अभी तक शब्दकोष में असंगृहीत नामधातु करते हैं जैसे 'फिलमाना' किसी कहानी या उपन्यास को फिल्म बनाना, जो कभी कभी हिंदी में मिलते हैं। नामधातु ऐसे शब्दों में शामिल किए जाने चाहिए जिनकी पैदा होने की शक्ति कम हो गई लेकिन वह पूर्ण रूप से लुप्त नहीं हुई है।

## "नाम + क्रिया" वाले वाक्यांश और नामिक संयुक्त क्रियाएँ

हिंदी व्याकरण की बहुत सी विशेषताओं में से एक है क्रियासंयोग (वर्बल कंपोजीशन) की उन्नति। क्रिया-संघ तीन प्रकार के होते हैं। एक तो क्रियाओं का संयोग (तथाकथित संयुक्त क्रियाएँ) जैसे 'आ जाना', 'दे देना', 'बोल बैठना' आदि; दूसरे वर्तमानकालिक या भूतकालिक कृदंत और सहायक क्रिया का संयोग जैसे 'रोता रहना' 'चला जाना' 'बढ़ता जाना' आदि; तीसरे अंत में 'संज्ञा + क्रिया' वाला वाक्यांश। 'संज्ञा + क्रिया' वाले वाक्यांश बनाने में जो क्रियाएँ नित्य सहायक मानी जाती

हैं वे केवल सहायक नहीं हैं। अपने निज के अलग अर्थ में प्रयुक्त होकर एक एक क्रिया पूर्णार्थक बन जाती है। सहायक क्रियाएँ पूर्णार्थक क्रियाओं से बन जाती हैं, जब इनका अपना अपना निज का अर्थ कमजोर हो जाता है और वाक्य में इनकी कार्यवाही (फंक्शनिंग) बदल जाती है।

**वस्तुवाचक संज्ञा और "करना" के संयोग**—'करना' क्रिया अनेकार्थक धातुक्रिया है। जिसका मुख्य अर्थ है 'कार्य करना', 'बनाना' उसके दूसरे अर्थ मुख्य अर्थ में लगते हैं। 'करना' के अर्थ हो सकते हैं 'पकाना' जैसे 'रोटी करना', 'दाल करना', 'रखना', 'डालना' जैसे 'तलवार म्यान में करना', 'पति या पत्नी के रूप में ग्रहण करना'—'उस स्त्री ने दूसरा ( पति ) कर लिया है'; 'खोलना' जैसे 'दुकान करना'; 'किराये पर लेना' जैसे 'टाँगा करना या रिक्सा करना'; 'ले जाना', 'पहुँचाना' जैसे 'इनको इनके बाप के यहाँ कर आओ', 'मोड़ना' जैसे 'मोटर को किसी ओर करना'; 'बोलना, उच्चारण करना', जैसे 'वह हाय, हाय, मरा, मरा' करता हुआ लुढ़कता-पुढ़कता सीढ़ियों से नीचे आ गिरा।'—( मनोरंजक कहानियाँ, पृष्ठ ५४ )।

'रोशनी बुझाना' जैसे 'सबेरा हुआ चाहता है अब दिया कर दो'—( हिंदी शब्द सागर, पृष्ठ ४०२ )।

'मारना, कत्ल करना', जैसे 'उसने आज १५ बकरियाँ की हैं'—( हिंदी शब्द सागर, पृ० ४०१), 'प्रसंग करना' जैसे 'स्त्री करना' या 'लड़की करना।'

ऊपर दिए हुए उदाहरणों से जाहिर होता है कि नया अर्थ ग्रहण कर 'करना' शब्द के उच्चारण या उसके रूप में कोई परिवर्तन नहीं हो जाता। यह भी जाहिर है कि 'करना' शब्द का अर्थ दूसरे शब्द, उसके प्रधान कर्म पर निर्भर है। प्रधान कर्म किसी वस्तुवाचक संज्ञा का लक्षण होता है, किसी वस्तु का नाम है जिसपर उसकी विशेषता के अनुसार किसी दूसरी वस्तु का प्रभाव पड़ सकता है। वाक्य में जिस वस्तु के नाम का प्रयोग 'करना' के संयोग से होता है उस पर किसी प्रकार का प्रभाव पड़ने की संभावना से बाहर, 'करना' का अर्थ नहीं हो सकता। वस्तुवाचक संज्ञाओं के साथ प्रयुक्त किया जाने वाला 'करना' एक प्रकार का कार्य प्रकट करता है, जो अपने रूप में इसी क्रिया से प्रकट किए जाने वाले दूसरे कार्य से अलग है। यह कार्य का 'करना' शब्द या दूसरी क्रिया के द्वारा जो इसी कार्य को प्रकट करने के लिये प्रयुक्त होती है; व्यक्त किया जाता है। उदाहरण के लिये 'रोटी बनाना' के अर्थ में 'करना' और 'पकाना' दोनों प्रयोग किए जा सकते हैं, किसी वस्तु को किसी के ऊपर या में 'रखना' के अर्थ में 'करना' और 'रखना' या 'डालना'। 'मोड़ना' के अर्थ में 'करना' और 'फेरना' आदि।

'करना' शब्द वस्तुवाचक अर्थ का सूचक है लेकिन आप ही आप नहीं। वह इसी अर्थ का है, केवल किसी वस्तुवाचक संज्ञा से जिसपर उनकी विशेषताओं के अनुसार एक एक प्रकार का दूसरी वस्तु के द्वारा प्रभाव पड़ सकता है। ऐसे संयोग वाला 'करना' दूसरी क्रिया के अर्थ में प्रयुक्त किया जाता है जो इसी कार्य को बिना किसी संयोग के प्रकट करती है। इसके संबंध में उसे स्थानापन्न क्रिया कहना चाहिए। वह दूसरी क्रिया का जो किसी कार्य को खुद ही प्रकट करती है, स्थान ग्रहण करती है, लेकिन वह ऐसा कर सकता है केवल किसी वस्तुवाचक संज्ञा से मिलकर, जिसपर इस क्रिया के द्वारा प्रकट किए जाने वाले कार्य का प्रभाव पड़ सकता है। उस क्रिया का संबंधित अर्थ वह है जो उससे प्रयुक्त किए हुए नाम पर ही निर्भर है।

'वस्तुवाचक संज्ञा+करना-क्रिया' वाले वाक्यांश मुहावरे नहीं कहे जा सकते क्योंकि उनमें मुहावरे के अर्थ और रूप दोनों के लक्षण नहीं हैं।

१–मुहावरे में सारे वाक्यांश का अर्थ उसमें आनेवाले तत्वों से निकाला नहीं जा सकता।

२–बिना मुहावरों को बर्बाद किए उसे दो भागों में नहीं बाँटा जा सकता।

३–उससे एक भाग को नहीं निकाला जा सकता।

४–उसमें अलग अर्थ के शब्द या अव्यय को नहीं जोड़ा जा सकता।

'वस्तुवाचक संज्ञा+करना–क्रिया' वाले वाक्यांश में उसके एक एक भाग का अपना अलग अर्थ होता है और उसमें प्रत्येक शब्द अपना स्थान बदल सकता है। उदाहरण के लिये 'करना' से मिली हुई 'मुँह' संज्ञा का विशेषण हो सकता है।

प्रमदा ने **अपना** मुँह जगत सिंह की ओर किया—( सुदर्शन–कालचक्र )।

इतना ही नहीं 'मुँह' के साथ 'को' परसर्ग भी प्रयुक्त किया जा सकता है और उसके स्थान में उसके पर्याय 'चेहरा' का भी प्रयोग हो सकता है।

माया की तरफ से **चेहरे को** हटाकर अपनी तरफ कर लिया। 'बाबा, तुम्हें अपना वादा याद है न।'—( राजेंद्र सिंह बेदी–भोला )।

'फेरना' अर्थ वाला 'करना' न केवल 'मुँह' से मिलाकर प्रयोग किया जा सकता है बल्कि दूसरे शब्दों से भी जिनके साथ ऐसा ही कार्य किया जा सकता है जैसे 'साइकल' 'मोटर' आदि।

ड्राइवर ने जोर से हार्न बजाया। उसने **मोटर को** एक ओर करना चाहा और ब्रेक भी जोर से दबाई।—( कृष्णचंद्र–फूलवाला )।

इस प्रकार 'करना' का अर्थ वस्तुवाचक संज्ञा, उसके प्रधान कर्म पर निर्भर है जो 'करना' की ओर से प्रभाव सहन करनेवाली किसी वस्तु का नाम है। यह वस्तुवाचक संज्ञा वाक्य में प्रधान कर्म प्रकट करनेवाला शब्द है जिसपर क्रिया का अर्थ निर्भर है। लेकिन 'करना' का अर्थ प्रकट करनेवाले इस प्रधान कर्म से केवल 'करने' की रूपरेखा स्पष्ट हो जाती है। जिस दिशा में करना चल रहा है इस बात को प्रधान कर्म स्पष्ट नहीं कर पाता।

जब दूसरी भाषाओं में 'करने' की दिशा उपसर्गों के द्वारा प्रकट की जाती है तो हिंदी में यह नहीं हो सकता क्योंकि उपसर्ग उसमें नहीं हैं।

इस प्रकार एक ओर हिंदी में दिशा प्रकट करने वाले उपसर्ग न होने से और दूसरी ओर इस कारण से कि 'करना' का प्रधान कर्म 'करने' की दिशा प्रकट नहीं कर पाता, खासतौर से दिशा प्रकट करने के लिये दूसरे शब्दों की आवश्यकता उत्पन्न हो जाती है। ऐसे दिशा प्रकट करने वाले शब्द की भूमिका को वाक्य के ढाँचे में क्रियाविशेषण निभाता है।

लड़की ने लजाकर मुँह **परे** कर लिया।—( कृष्णचंद्र–मोची )। प्रमदा ने अपना **मुँह जगत सिंह की ओर** किया।—( सुदर्शन–कालचक्र )।

इन सब बातों से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि वस्तुवाचक संज्ञाओं से मिलने वाली 'करना' क्रिया का अध्ययन न केवल अर्थविज्ञान के विचार से बल्कि वाक्यविन्यास के विचार से भी किया जाना चाहिए, क्योंकि उसका अर्थ और उसके करने की दिशा उसके पड़ोसी शब्दों पर निर्भर है—ऐसे शब्दों पर जो उसके साथ विधेय के शब्दसमूह में शामिल होते हैं। अगर करने की रूप रेखा प्रधान कर्म पर निर्भर होती है, तो करने की दिशा क्रियाविशेषण पर।

**भाववाचक संज्ञा और 'करना' के संयोग**—लोगों के बीच व्यवहार करने की आवश्यकता के संबंध में 'करना' न केवल वस्तुवाचक बल्कि भाववाचक संज्ञाओं से मिलकर वाक्य में प्रयुक्त होता है। इस प्रकार वह 'संज्ञा + क्रिया' वाले वाक्यांशों का भाग सा बन जाता है जो करने का काम, लंबाई और परिणाम प्रकट करते हैं। ऐसी क्रिया वाली संज्ञाओं से मिलते ही 'करना' का अर्थ बदल जाता है। ऐसे वाक्यांश में 'करना' में विस्तृत रूप से करने का भाववाचक अर्थ बढ़ता है।

ऐसे भाववाचक 'संज्ञा + क्रिया' वाले वाक्यांश एक प्रकार की इकाई हैं, जिसमें करने की रूपरेखा संज्ञा से, और काल, वाच्य, लिंग, वचन और पुरुष क्रिया से प्रकट होते हैं।

'करने' की गुणवाचक विशेषता और वास्तविक रूपरेखा, जिसमें एक 'करना' दूसरे 'करने' से अलग है, इस वाक्यांश में क्रिया वाले नहीं बल्कि संज्ञा वाले भाग से प्रकट होती है। उदाहरण के लिये, अगर तीन ऐसे वाक्यांश ले लें—'मरम्मत करना', 'रक्षा करना', 'व्याख्या करना' और क्रिया वाले भाग को ही ध्यान में रखकर विश्लेषण करें, तो ऐसा मालूम पड़ेगा कि उन तीनों में कोई अंतर नहीं है क्योंकि तीनों का एक ही क्रिया वाला भाग 'करना' है।

किंतु एक वाक्यांश का अर्थ दूसरे से बिल्कुल अलग है और करने की यह वास्तविक रूपरेखा पहले (संज्ञा वाले) भाग से स्पष्ट होती है अर्थात् ऊपर दिए हुए उदाहरणों में पहले वाक्यांश का अर्थ है किसी बर्बाद हुए का पुनः निर्माण का कार्य, दूसरे का अर्थ है बचाव या हिफाजत का कार्य, तीसरे का अर्थ है समझाने का काम। एक एक वाक्यांश का अर्थ उसके संज्ञावाले भाग पर निर्भर है। चूँकि इस प्रकार के वाक्यांश अर्थविज्ञान के विचार से ऐसी इकाई होते हैं जिनका अर्थ से घनिष्ठ संबंध होता है इसलिये ऐसे वाक्यांश का समानार्थक एक ही शब्द वाली क्रिया हो सकती है।

लेकिन अर्थविज्ञान के विचार से एक इकाई होते हुए भी इस प्रकार के वाक्यांश संयुक्त क्रिया नहीं कहे जा सकते क्योंकि रूपांतर की दृष्टि से वे इकाइयाँ नहीं हैं वे भिन्न शब्दों का संयोग ही हैं।

रूपांतर की अवहेलना करके केवल अर्थविज्ञान के आधार पर ही व्याकरण के नियम निकालना भाषाविश्लेषण के वैज्ञानिक तरीके से हट जाना है। भाषा का विश्लेषण करना अर्थविज्ञान-संबंधी और व्याकरणात्मक दोनों बातों का अनुसंधान करना है। एक ही बात को ध्यान में रखकर अन्य बातों की उपेक्षा कर देना ठीक नहीं है।

'भाववाचक संज्ञा + क्रिया' वाले वाक्यांश अर्थविज्ञान की दृष्टि से स्थायी इकाई होते हैं। भाववाचक संज्ञाएँ आसानी से 'करना' के साथ मिलती हैं, जो बहुत विस्तृत और अस्पष्ट अर्थ का है, अतः इसके लिये आवश्यक अर्थ को पूरक की अपेक्षा होती है। इस पूरक की भूमिका वाक्य में भाववाचक संज्ञा की है जिसमें करना वस्तु जैसा दीखता है। यह सवाल कि अर्थसंबंधी ही पहलू है—वाक्यांश के रूप में एक दूसरे से मिलने की शक्ति बराबर क्रिया के और संज्ञा के अर्थ पर निर्भर है। लेकिन इस बात में उनके संयोग की भी संभावना है। इस प्रकार के वाक्यांशों की वृद्धि और प्रयोग दूसरे कारणों पर निर्भर है।

अर्थविज्ञान के विचार से इस प्रकार के बहुत से वाक्यांशों में 'करना' सहायक क्रिया के निकट आता है लेकिन वह सहायक नहीं बन जाता क्योंकि उसका प्रयोग अलग शब्द की तरह किया जाता है। उससे मिली हुई संज्ञा उसका प्रधान कर्म होता है। उसमें अलग शब्दों के लक्षण रहते हैं। यह नीचे लिखी हुई बातों से स्पष्ट हो सकता है।

## 'नाम+क्रिया' वाले वाक्यांश में शब्दों की स्वतंत्रता के लक्षण

१–'संज्ञा+क्रिया' वाले बहुत से वाक्यांशों में संज्ञा के लिंग और वचन जैसे व्याकरणात्मक तत्त्व बने रहते हैं।

उसने कई जगह **नौकरी** की (स्त्रीलिंग, एकवचन) और **ब्याह** भी किया (पुल्लिंग, एक वचन, )—(यशपाल–हिंसा)।

हरषे से लगे तिसपर भाँति भाँति के पंछी **कलोलें** करने (स्त्रीलिंग, बहुवचन)—(लल्लूलाल –प्रेमसागर)।

२–'संज्ञा+क्रिया' वाले वाक्यांशों में संज्ञा के सामने उसका विशेषण भी हो सकता है अर्थात् ऐसा शब्द या शब्दों का समूह जो शब्दसंज्ञा की एक-एक विशेषता प्रकट करता है।

हाथ हिलाकर **उसे बाहिर चले जाने का** इशारा कर दिया।—(यशपाल–शर्त)।

संज्ञा के सामने एक शब्द या शब्दों के समूह वाले विशेषण का मौजूद होना वस्तुवाचक अर्थ वाले अलग शब्द की स्वतंत्रता का मुख्य लक्षण है।

३–वाक्यांश के भागों (संज्ञा और क्रिया) के बीच अलग शब्द, शब्दों का समूह या पूरा वाक्य आ सकता है दूसरे शब्दों में संज्ञाक्रिया से थोड़ी दूरी वाला स्थान रख सकता है।

चोरी **उसने नहीं** की यह जानकर मुझे विस्मय हुआ।—(यशपाल–हिंसा)

इतना ही नहीं, वाक्यांश के भागों के क्रम में परिवर्तन हो सकता है : वाक्य में वाक्यांश वाली संज्ञा और क्रिया अपना अपना स्थान बदल सकती हैं–दूसरे शब्दों में, शैली के विचार से संज्ञा क्रिया के बाद आ सकती है।

तैंने **किया** बड़ा ही **पाप**, कुछ विचार मन में नहीं किया।—(लल्लूलाल–प्रेमसागर)

४–वाक्यांश के क्रिया वाले भाग के बदले उसकी पर्याय दूसरी क्रिया का प्रयोग किया जा सकता है।

शोर करना – शोर मचाना
* डींग करना – डींग मारना
विवाह करना – विवाह रचना।

५–संज्ञा वाले भाग की हैसियत से ऐसे शब्द का प्रयोग भी हो सकता है जिसमें एक से अधिक धातु शामिल होते हैं —

क–यौगिक शब्द —

प्राचीन साहित्य को पढ़ने समझने और उसका **मूल्यांकन** करने की आवश्यकता आज के आलोचक और लेखक को इसलिये है कि भूतकाल का ऐतिहासिक अध्ययन वर्तमान को समझने के लिए आवश्यक है।—(नया साहित्य–सितंबर १६५२)

ख–ध्वनिशब्द —

जब जीवना अच्छी हुई तो घोंघू बीमार पड़ गया और ऐसा बीमार पड़ा कि फिर बिस्तर से न उठ सका। उन दिनों जीवना उसकी **देख-रेख** करती थी।

—(कृष्ण चन्द्र–महालक्ष्मी का पुल)

ग–पर्याय शब्दों का समूह—

मैंने रजिया से पूछा—'क्या तुम सचमुच इन बच्चों का पालन-पोषण करोगी।

—( जहूरबख्श–रजिया )

६–वाक्यांश की संज्ञा के बदले सर्वनाम का प्रयोग हो सकता है। जो काम मेवर के सारे सिपाही न कर सकते थे वह एक स्त्री की करुण दृष्टि ने कर दिया।

—( सुदर्शन–प्रबला )।

७–प्रत्येक प्रधान कर्म की भाँति वाक्यांश वाली संज्ञा और उसके बदले प्रयुक्त होने वाले सर्वनाम का प्रयोग 'को' परसर्ग लेकर हो सकता है। कई बार मैंने साधुराम को चपरासियों से कोई काम कराने के लिये कहा परंतु उसे उसने आप ही कर लिया।

—( सुदर्शन–अपनी ओर देखकर )

इस प्रकार ऊपर लिखे हुए उदाहरणों से स्पष्ट है कि भाववाचक संज्ञा क्रिया वाले बहुत से वाक्यांशों में दोनों भागों के प्रयोग की स्वतंत्रता बनी रहती है, न केवल रूपांतर के विचार से बल्कि वाक्यविन्यास के दृष्टिकोण से भी। संज्ञा वाला भाग क्रिया का प्रधान कर्म है जिसका प्रयोग वाक्य में नित्य विधेय की हैसियत से होता है।

लेकिन 'संज्ञा+क्रिया' वाले भिन्न भिन्न वाक्यांशों में प्रधान कर्म पर सकर्मक क्रिया का प्रभाव पड़ने की दृष्टि से प्रधान कर्म कई प्रकार के होते हैं। अगर हम यह वाक्य लें—

अभी वह मेज पोंछ रहा है।

तो इसमें 'मेज' इस प्रकार का प्रधान कर्म है, जो वस्तुवाचक संज्ञा से प्रकट होता है और जिसपर क्रिया के द्वारा प्रकट किए जाने वाले किसी दूसरी वस्तु के करने का शारीरिक प्रभाव पड़ता है। यहाँ कर्त्ता का प्रधान कर्म के साथ सीधा शारीरिक संपर्क स्थापित किया जाता है और कर्त्ता का प्रधान कर्म पर शारीरिक प्रभाव पड़ता है, जो काल और अवकाश में होता रहता है।

प्रधान कर्म दूसरे प्रकार का भी हो सकता है जिस पर कर्त्ता का शारीरिक प्रभाव नहीं पड़ता। कर्त्ता और कर्म के बीच कर्त्ता का मनोवेग होने से संपर्क स्थापित होता है। यथा—

उसने एक औरत को देखा।

इस वाक्य के प्रधान कर्म पर कर्त्ता की ओर से कोई शारीरिक प्रभाव नहीं पड़ता। इस प्रकार की मनोवेग या भाव की क्रियाएँ केवल कर्त्ता की दृष्टि से सकर्मक होती हैं जो कर्म को मन तक ही सीमित रखती हैं।

लेकिन जिन वाक्यांशों का हम अध्ययन कर रहे हैं, उनके प्रधान कर्म की यह विशेषता है कि न उस पर कर्त्ता का शारीरिक प्रभाव पड़ता है न कर्त्ता मन में उसे धारण ही करता है। भाववाचक संज्ञा से प्रकट किया जाने वाला 'करना' जैसी विस्तृत अर्थ की क्रिया का प्रधान कर्म करने के क्रम का आशय स्पष्ट करता है। क्रिया केवल सकर्मक करने का भाववाचक विचार प्रकट करती है। लेकिन इस बात से 'करना' क्रिया सहायक नहीं बन जाती। इसका कोई अर्थ है हालाँकि यह अर्थ बहुत विस्तृत और अमूर्त्त है।

भिन्न-भिन्न क्रियाओं की दूसरे शब्दों से मिलने ( 'संयोग' बनाने ) की भिन्न-भिन्न शक्तियाँ हैं। कई क्रियाएँ अपने-अपने अर्थ के अनुसार बिना किसी पूरक शब्द के कार्य का पूरा विचार प्रकट करती है जैसे 'बोलना' 'गिरना' 'चिल्लाना' आदि।

लेकिन ऐसी भी क्रियाएँ होती हैं जो अपने आप ही, बिना किसी पूरक शब्द के करने या होने का पूरा विचार प्रकट नहीं कर पातीं। उनमें केवल करने का संकेत है, उनसे कोई स्थूल कार्य प्रकट नहीं होता। पूरा विचार प्रकट करने के लिये उनको किसी पूरक शब्द की आवश्यकता होती है, जो करने का असली रूप बताता हो। किसी विचार को पूर्ण रूप में प्रकट करने की दृष्टि से इस प्रकार की 'अपूर्ण' मूल्य वाली, अपर्याप्त क्रियाओं में होने की विस्तृत अर्थ वाली अकर्मक और करने की भाववाचक अर्थ वाली सकर्मक क्रियाएँ शामिल होती हैं—सकर्मक क्रियाएँ जो अपने विस्तृत और अमूर्त्त अर्थ के अनुसार प्रधान कर्म के रूप में किसी पूरक शब्द को लेकर ही पूरा विचार प्रकट कर सकती हैं। इन क्रियाओं को अपूर्ण विधेय वाली क्रियाएँ कहा जा सकता है।

इस प्रकार की क्रियाओं में पहले पहल 'करना' शामिल होता है जो अपने अर्थ के अनुसार दूसरे शब्दों से मिलने की अपरिमित शक्ति रखता है–यह शक्ति जो प्रायः 'संज्ञा+क्रिया' वाले वाक्यांशों में कार्यान्वित होती है। इसी लिये 'करना' बहुत से वाक्यांशों का क्रिया वाला भाग सा होता है। लेकिन इसी कारण उसके सहायक बनने की संभावना भी पैदा होती है।

**विशेषण और 'करना' के संयोग और उनका आशय**—'करना' क्रिया का संयोग कभी-कभी उस शब्द से भी हो जाता है जो किसी संज्ञा की विशेषता या गुण प्रकट करता है–दूसरे शब्दों में विशेषण से। 'विशेषण+करना' वाला सारा वाक्यांश ऐसा कार्य प्रकट करता है जिसका फल, प्रधान कार्य को विशेषण द्वारा प्रकट किया जाने वाला गुण लगाने के लिये प्रधान कर्म पर पड़ता है। वाक्यांश का भाग विकृत विशेषण, प्रधान कर्म के रूप के अनुसार बदलता है अगर प्रधान कर्म के बाद कोई परसर्ग न हो। यह बात नीचे लिखे उदाहरणों से स्पष्ट हो जाएगी —

१–लीला श्रीराम ने पूछा—'बुआ जी को कितने दिन से तकलीफ थी। उनकी आयु भी काफी होगी। इस तरह दिल छोटा करना ठीक नहीं।—( यशपाल–भावुक ) ( छोटा–एक वचन, पुल्लिंग )।

२–यों तो इनके सभी उपन्यास और कहानियाँ पढ़ने योग्य हैं किंतु इस पुस्तक में इनकी केवल एक कहानी 'कफ़न' छोटी करके दी जाती है।—(प्रेमचंद की कहानी 'कफ़न' की भूमिका) ( छोटी–एक वचन, स्त्रीलिंग )।

३–कभी-कभी यौगिक शब्दों में कुछ शब्दों के ऐसे रूप भी मिले रहते हैं जो पूरे नहीं होते बल्कि कुछ तोड़ मरोड़ कर छोटे कर लिए जाते हैं।—(रामचंद्र वर्मा–हिंदी प्रयोग) ( छोटे–बहुवचन, पुल्लिंग )।

ऊपर दिए हुए उदाहरणों में 'विशेषण+क्रिया' वाले वाक्यांशों का भाग विशेषण-प्रधान-कर्म अथवा संज्ञा की वह विशेषता प्रकट करता है जो क्रिया के करने से प्रधान कर्म में आ जाती है, लेकिन यह शब्द संज्ञा का साधारण विशेषण नहीं है, क्योंकि वह क्रिया के साथ इकाई सा बनकर प्रधान कार्य के शब्दसमूह में नहीं आता। इसी के साथ साथ यह विशेषण क्रिया जैसा पूरा विधेय नहीं है, क्योंकि प्रधान कर्म संज्ञा की विधेय की सी विशेषता प्रदान कर उसका मुख्य विशेषण बन जाता है। इस प्रकार ऐसे वाक्यांशों में किसी संज्ञा की विशेषता प्रकट करने वाला यह शब्द विशेषण और विधेय दोनों की भूमिका निभाता है। ऐसे वाक्यांशों में वह वाक्य के अमुख्य भाग की भूमिका में आता है जो वाक्य के दो शब्दों पर निर्भर होता है–दूसरे शब्दों में दुहरी निर्भरता वाले अमुख्य भाग की भूमिका में। अपने अर्थ और वाक्य के

ढाँचे में अपनी स्थिति के अनुसार क्रिया में लगकर यह विशेषण इसीके साथ प्रधान कर्म की विशेषता प्रकट करता है और अगर कर्म के बाद कोई परसर्ग न हो तो उसके रूप के विकृत होने से बदल जाता है। इसलिये इस प्रकार का विशेषण वाक्य में उसकी भूमिका के अनुसार विशेष प्रकार का विधेयविशेषण कहा जा सकता है। विधेयविशेषण वाक्य का भाग सा है जो किसी वस्तु की विशेषता प्रकट करता है लेकिन वस्तु में यह विशेषता पैदा होने की संभावना और काल के संबंध में वह क्रिया से बँधा हुआ है। उसकी विशेषता यह है कि वह अपूर्ण क्रिया से बँधा हुआ है।

अगर प्रधान कर्म के बाद 'को' परसर्ग हो या वाक्यांश में अविकृत विशेषण का प्रयोग होता हो तो सिद्धांत में बात नहीं बदलती बल्कि प्रधान कर्म और विधेयविशेषण में संबंध इतना घनिष्ट नहीं होता।

**विधेयविशेषण के रूप में संज्ञा**—अपूर्ण क्रिया का विधेय विशेषण न केवल विशेषण से प्रकट होता है बल्कि कभी कभी संज्ञा से भी प्रकट किया जा सकता है। यह संज्ञा जो विधेय-विशेषण (या पूरक) की हैसियत से प्रयुक्त होती है क्रिया के करने से प्रधान कर्म की नई विशेषता प्रकट करती है–ऐसी विशेषता जो दूसरी ही संज्ञा से प्रकट की जाती है।

उदाहरण—उन्होंने मेरी ओर ऐसी आँखों से देखा जो पत्थर को भी मोम कर देती।

—(सुदर्शन–पापपरिणाम)।

क्रिया के सामने और इसपर निर्भर होने वाली संज्ञा प्रधान कर्म की दृष्टि से उसका विशेषण है, क्योंकि वह क्रिया के करने से प्रधान कर्म में आने वाली नई विशेषता प्रकट करती है जो किसी और वस्तु का नाम है।

इस प्रकार के उदाहरणों में क्रिया के पहले आने वाली संज्ञा 'को' परसर्ग के अभाव में भी क्रिया का प्रधान कर्म नहीं होती। क्रिया और संज्ञा में दूसरे प्रकार का संबंध उपस्थित होता है। यह इस बात से प्रकट होता है कि कारकचिन्ह वाले वाक्यों में क्रिया इस नाम के अनुसार नहीं बदलती। इस प्रकार के वाक्यों में क्रिया सदा पुल्लिंग एकवचन वाले सीधे रूप में रहती है।

उदाहरण—उसने कहा—'इस धोखाबाज दगाबाज जालिम ने मुझे मिट्टी कर दिया

—(यशपाल–प्रेम का सार)।

इस प्रकार जिन वाक्यांशों ('संज्ञा+क्रिया' और 'विशेषण+क्रिया') का ऊपर विश्लेषण हो चुका है उनके भागों के बीच स्थापित होने वाले संबंध हिंदी भाषा के अभी तक प्रचलित नियमों के हैं। लेकिन स्वतंत्र वाक्यांशों और ऊपर दिए हुए वाक्यांशों में यह अंतर है कि 'नाम+क्रिया' वाले वाक्यांशों को बनाने के लिये तैयार स्थायी ढाँचा मौजूद है जिसके नमूने पर हर प्रकार का क्रिया वाला विचार नाम को क्रिया लगने के तरीके से प्रकट किया जा सकता है। 'नाम+क्रिया' वाले वाक्यांशों में जो भाग शामिल होते हैं उनकी रूपरेखा, आपस में स्थापित संबंध और क्रम इसी स्थायी नमूने पर बनाए जाते हैं।

ये वाक्यांश नाम और क्रिया के विशेष संयोग होते हैं जो पूर्ण रूप से वाक्यरचना के क्षेत्र में स्थित हैं क्योंकि एक ओर दोनों शब्द अर्थविन्यास को दृष्टि से एक इकाई होते हैं और भाषा में वे शब्दों की तरह प्रयुक्त होते हैं लेकिन दूसरी ओर वाक्य के ढाँचे में ऐसे हर एक शब्द का प्रयोग वाक्य के अलग-अलग भागों की हैसियत से होता है।

## आधुनिक साहित्यिक हिंदी के नामधातु और नामिक संयुक्त क्रियाएँ

'संज्ञा+क्रिया' वाले वाक्यांशों की आर्थी-एकता होती है। यह आर्थी-एकता इस बात से प्रकट होती है क्रियावाक्यांश का संज्ञा वाला भाग नित्य इसके क्रिया वाले भाग के ठीक पहले और बिना 'को' परसर्ग के प्रयुक्त होता है। यह एकता इनके प्रयोग की स्थिरता का आधार सी होती है और ऐसी नई शाब्दिक इकाइयों के बनने का आधार भी है जिनमें न केवल अर्थ की बल्कि रूप की भी एकता प्रकट होती है।

हमारा विचार है कि इसी प्रकार के वाक्यांशों को स्थायी वाक्यांश कहना उचित होगा क्योंकि यह शब्द उनके अर्थ और रूप दोनों की विशेषता प्रकट करता है। 'संज्ञा+क्रिया' वाले वाक्यांशों के अर्थ की विशेषता यह है कि उनका प्रयोग किसी एक शब्द वाली क्रिया की तरह एक ही विचार प्रकट करने के लिये होता है। दूसरी ओर वाक्य के ढाँचे में वे अलग-अलग शब्दों के संयोग से मिलते-जुलते हैं क्योंकि इनके भागों के क्रम में परिवर्तन हो सकते हैं।

इस प्रकार उनमें शामिल होने वाले भागों के भीतरी अर्थसंबंध की दृष्टि से शब्द जैसी एकता होकर 'संज्ञा+क्रिया' वाले स्थाई वाक्यांश वाक्य के ढाँचे में दो अलग-अलग शब्दों के संयोग से बनते हैं जो वाक्यविन्यास की दृष्टि से वाक्य के स्वतंत्र भागों की भूमिका निभाते हैं।

'संज्ञा+क्रिया' वाले स्थायी वाक्यांशों के साथ भिन्न भिन्न परसर्ग प्रयोग में आते हैं। कौन कौन परसर्ग प्रयुक्त हों यह बात पूरे वाक्यांश पर निर्भर न होकर इनमें आने वाले एक ही भाग के अर्थ पर निर्भर होती है। नियमित रूप से 'करना' क्रिया उसी शब्द पर सीधा शासन करती है जो उसके साथ स्थायी वाक्यांश में आया हो। प्रधान कर्म और क्रियाविशेषण एकदम क्रिया पर निर्भर होता है। आगे चलकर संज्ञाप्रधान कर्म का दूसरे शब्दों से संबंध होता है। यह संबंध भिन्न-भिन्न परसर्गों के माध्यम से प्रकट होता है। कौन कौन परसर्ग प्रयोग किए जाँय यह बात क्रिया पर नहीं, संज्ञा के अर्थ पर निर्भर है; क्योंकि 'संज्ञा+क्रिया' वाले स्थायी वाक्यांश में करने का असली रूप संज्ञा से ही प्रकट किया जाता है। इसका अकाट्य प्रमाण यह है कि जो परसर्ग अलग संज्ञा के साथ प्रयुक्त होता हो वही इसके साथ प्रयोग में आता है जब इसका संयोग 'करना' क्रिया के साथ स्थायी वाक्यांश के रूप में बन जाता हो। उदाहरण के लिये—'हमला (आक्रमण) करना', जैसा वाक्यांश नित्य 'पर' परसर्ग के साथ प्रयुक्त होता है जो 'हमला' के अर्थ पर निर्भर है और 'हमला' के अलग प्रयोग से साबित होता है।

उदाहरण—मजदूरों के अधिकारों पर इजारेदारों का हमला मजबूत होता जा रहा है।

—('जनयुग' साप्ताहिक पत्रिका)।

**नाम और 'होना' के संयोग**-'होना' क्रिया अपने अर्थ के अनुसार 'करना' के उलटे अर्थ की है। सबसे विस्तृत रूप में अस्तित्व की बात प्रकट करते हुए वह 'उपस्थित या हाजिर होना' के स्वतंत्र अर्थ वाले शब्द की भूमिका में प्रयुक्त होता है।

मैं यहाँ हूँ। वह कमरे में है।

किसी चीज का किसी हालत में रहना या उसी हालत में हो जाना प्रकट करते हुए वह सहायक क्रिया बन जाता है। चूँकि इसका प्रयोग केवल उद्देश्य और विधेय में संबंध रखने के लिये होता है उसे **'संबंधक क्रिया'** कहा जा सकता है। 'संबंधक क्रिया' की हैसियत से प्रयुक्त होकर वह तब पूरा विचार प्रकट कर सकती है जब इसके साथ कोई नाम वाला तत्त्व प्रयुक्त हो जाय, जो इस क्रिया और किसी संज्ञा या विशेषण का वाक्यांश [illegible] सा है।

'होना' क्रिया के साथ वाक्यांश का विधेय में शामिल होने वाला विशेषण किसी वस्तु में कोई गुण रहना ( या लगना ) प्रकट करती है। विधेय के दोनों भाग ( विशेषण और संबंधक क्रिया ) संज्ञा, उद्देश्य, के लिंग और वचन के अनुसार बदलते हैं।

आते ही मैं चंगी हो गयी—( यशपाल–पहाड़ की स्मृति )।

संज्ञा क्रिया के साथ विधेय में आकर इस बात को प्रकट करती है कि उससे प्रकट होने वाली वस्तु क्या है या वह क्या क्या बन जाती है। वाक्यांश में शामिल होने वाली संज्ञा अपरिवर्तित रहती है और वाक्य के उद्देश्य के अनुसार केवल विधेय क्रिया वाला भाग बदलता है।

कोई और होता तो जलकर कोयला हो जाता परंतु साधूराम के मस्तक पर बल न पड़ता।

—( सुदर्शन–अपनी ओर देखकर )।

विधेय वाली संज्ञा के सामने उसका विशेषण भी हो सकता है जो विस्तृत और अविस्तृत दोनों किस्म का हो सकता है।

इस प्रकार के विधेय वाले वाक्यांशों में विधेय का मुख्य आशय संज्ञा या विशेषण से प्रकट होता है। क्रिया, नाम वाले विधेय का सहायक भाग है। उसके द्वारा उद्देश्य और विधेय में संबंध रखा जाता है। वह वाक्य का काल और अर्थ प्रकट करके उद्देश्य की विशेषता, कार्यगति या उसके निष्कर्ष के रूप में दिखलाती है। वह नाम वाले विधेय का क्रिया वाला भाग सा है जिसमें कार्य का वस्तुवाचक आशय प्रकट करने का मुख्य भार संज्ञा या विशेषण पर पड़ता है।

इस प्रकार के विधेय वाले वाक्यांश अपने भागों और उनके दूसरे शब्दों के साथ संबंध के अनुसार स्वतंत्र शब्दों के संयोग के पास आते हैं।

यदि 'होना' वाले वाक्यांश में भाववाचक संज्ञा शामिल हो तो उसके भागों ( संज्ञा और क्रिया ) में संबंध और उनका व्यापार बदल जाते हैं। कार्यगति का एक ही ठोस विचार वाले वाक्यांश के तत्त्व वाक्यविन्यास की दृष्टि से वाक्य के अलग अलग भाग हैं—संज्ञा का प्रयोग उद्देश्य की हैसियत से होता है, 'होना' स्वतंत्र क्रिया विधेय की हैसियत से प्रयुक्त होता है।

इसके एक वर्ष पश्चात रायसाहिब सूरजमल का **देहांत हो गया**।—( सुदर्शन–सेवा-धर्म )।

**नामिक संयुक्त क्रियाओं का निर्माण और उनके लक्षण**—एक ही ठोस विचार प्रकट करने वाले 'संज्ञा+क्रिया' वाले वाक्यांशों के भीतर उनके नामिक संयुक्त क्रियाओं की संख्या में आने की संभावना मौजूद है। उन वाक्यांशों और उनके भागों में जो वाक्यमूलक संबंध स्थापित बने रहे धीरे-धीरे घिसते हुए लुप्त हो जाते हैं; इन वाक्यांशों के भागों की अर्थ वाली और वाक्यमूलक स्वतंत्रता खोकर दोनों एकत्र संयुक्त क्रिया–नाम वाली इकाई में विलीन हो जाते हैं। इसी के साथ साथ वाक्य के ढाँचे के भीतर नई उत्पन्न हुई संयुक्त इकाई और वाक्य के दूसरे शब्दों के बीच नए वाक्यमूलक संबंध स्थापित हो जाते हैं। दो शब्दों से उत्पन्न हुई नई इकाई का व्यापार वाक्य का एक ही भाग सा हो जाता है।

'संज्ञा–क्रिया' वाली कुछ इकाइयों के वाक्यमूलक विभाजन का लुप्त होना उनके अर्थ की एकता का सीधा निष्कर्ष है।

नामिक संयुक्त क्रियाओं की समस्या वास्तव में केवल 'संज्ञा+क्रिया' वाली इकाइयों तक सीमित है, और इस संभावना तक सीमित है कि जब उनके भाग अपनी स्वतंत्रता खोकर न

केवल अर्थविचार की बल्कि व्याकरण की दृष्टि से भी एक शब्द वाली ठोस इकाई में विलीन हो जाएँ।

कार्य का आशय प्रकट करने वाली संज्ञा जो वाक्य का प्रधान कर्म है, क्रिया के पास आती है और आखिर में उन दोनों के मिलते ही ठोस संयुक्त क्रिया-नामिक इकाई बन जाती है जिसे नामिक संयुक्त क्रिया कहा जा सकता है।

एकाएक प्रतिमा ने 'इंटरनेशनल' **शुरू क्रिया**—(कृष्णचंद्र—ब्रह्मपुत्र)। 'शुरू करना' 'नाम+क्रिया' वाली इकाई के दूसरे शब्दों के साथ संबंधों का विश्लेषण करने पर ऐसा पता चलता है कि 'शुरू' के पहले 'का' परसर्ग नहीं है, जो इस जगह जरूरी होता अगर यह इकाई साधारण 'संज्ञा+क्रिया' वाला वाक्यांश हो जाती; क्योंकि स्वतंत्र शब्द की हैसियत से प्रयुक्त होकर वह 'आरंभ' अर्थ वाला पुल्लिंग शब्द है।

'शुरू करना' के नमूने वाली इकाइयाँ पहले दिए हुए वाक्यांशों से अलग अलग हैं क्योंकि उनमें संज्ञा का क्रिया से अधिक घनिष्ठ संबंध हो जाता है, वह मानों उसमें जुट जाती है जिससे उन दोनों की अटूट एकता स्थापित हो जाती है। उनकी एकता इतनी घनिष्ठ हो जाती है कि संज्ञा वाला भाग संज्ञा के लिंग और वचन जैसे व्याकरणात्मक लक्षण लुप्त करके क्रिया से जुड़ जाता है। वह क्रिया का अटूट सा भाग बन जाती है अतः नए सिरे से बनी हुई इकाई का अर्थ, प्रयोग और उसका ढांचा एक शब्द वाली क्रिया जैसा हो जाता है। दो शब्दों की इकाई विशेष प्रकार की संयुक्त क्रिया बन जाती है, जिसमें संज्ञा वाला भाग क्रिया से जुट गया है। इसके फलस्वरूप जो शब्द पहले वाक्यांश के संज्ञा वाले भाग पर निर्भर होता था (जो भिन्न-भिन्न परसर्गों के द्वारा प्रकट होता था) सारे वाक्यांश की विशेषता के बदलते ही सारी इकाई का प्रधान कर्म हो जाता है।

इस प्रकार की संयुक्त क्रियाओं में लिंग और वचन जैसे अपने व्याकरणात्मक लक्षण और इसी के साथ साथ प्रयोग की स्वतंत्रता लुप्त करके कारक चिन्ह वाले या कर्तृवाच्य वाले वाक्यों में क्रिया वाला भाग उसके पहले लगे हुए संज्ञा वाले भाग के अनुसार नहीं बदलता। वह बदलता है सारी इकाई के प्रधान कर्म के अनुसार।

इस प्रकार की सकर्मक इकाइयां केवल संज्ञा और एक ही सकर्मक क्रिया 'करना' के वाक्यांशों से उत्पन्न होती हैं। 'करना' नई इकाई, नामिक संयुक्त क्रिया का भाग सा होकर संज्ञा वाले भाग से जिसमें पूर्ण रूप से नई इकाई का अर्थ केंद्रित है जुट जाता है। उसका अभि-प्राय है क्रिया के लक्षण प्रकट करना। दूसरे शब्दों में उसकी भूमिका किसी प्रत्यय की सी है। नामिक संयुक्त क्रिया में 'करना' का अर्थ और व्यापार दूसरी सहायक क्रियाओं के बराबर है।

संज्ञा और क्रिया, दो शब्दों का संयोग एक इकाई बन जाता है जो अपने अर्थ और वाक्य में व्यापार के अनुसार एक शब्द वाली क्रिया जैसी है।

**सकर्मक नामिक संयुक्त क्रियाएँ**—नामिक संयुक्त क्रियाओं की संख्या में 'शुरू करना' को छोड़कर निम्नलिखित इकाइयों को शामिल करना चाहिए—

१—खर्च करना —

दस बजे से एक बजे तक का समय ... ... प्रद्युम्न पेंटिंग में **खर्च करता**।
—(यशपाल—नीरस रसिक)।

२–इख्तियार करना—

कोलंबो संमेलन में पाकिस्तान और लंका के प्रधान मंत्रियों ने जो रवैया **अख्तियार किया** था वह सबको मालूम है। —( जन-युग पत्रिका )।

३–प्रदान करना —

यह झुनझुना उसने मुझे **प्रदान कर दिया था**।

—( कृष्णचंद्र–अन्नदाता )।

४–क्षमा करना—

महाराज—'तो हमने तुम्हें **क्षमा किया**'—( सुदर्शन–प्रबला )।

५–स्वीकार करना—

बच्चे भी मिठाई के लोभ से नहाना **स्वीकार कर लेते**।

—( यशपाल–मृत्युंजय )

६–विदा करना—

आखिर लड़की को दूसरे रोज दवाई के लिये फिर बच्चे को लाने के लिये कह मैंने उन्हें **विदा किया**। —( यशपाल–मृत्युंजय )

७–अर्पण करना—

उसने इस काम के लिये अपने पास से केवल रुपये ही नहीं निकाले किंतु अपने गहने और कपड़े भी **अर्पण कर दिये**। —( प्रेमचंद–सप्त सरोज )

८–भंग करना—

सब मौन थे न जाने क्यों ? मोती ने इस चुप्पी को **भंग करते हुए** कहा।—( कृष्णचंद्र–मोती )

९–भेट करना—

तुम्हारे लिये इन कहानियों को लिखा था तुम्हीं को उन्हें **भेट करता हूँ**।—( यशपाल )

१०–अदा करना—

सत्तर रुपए उसने नकद दिये, बीस रुपये उधार में रहे जो उसने एक साल में **अदा कर दिये**। —( कृष्णचंद्र–महालक्ष्मी का पुल )

११–प्रणाम करना, १२–खतम करना, १३–नोट करना १४–हजम करना तथा कुछ अन्य शब्द जो प्रयोग में कम आते हैं।

ऐसी विशेष प्रकार की संयुक्त इकाइयों का विश्लेषण करते हुए यह स्पष्ट हो जाता है कि लिंग और वचन जैसे व्याकरणात्मक लक्षणों का लोप छोड़ कर उन इकाइयों की कुछ और विशेषताएँ हैं जिनके आधार पर हमने यह नतीजा निकाला कि 'संज्ञा+क्रिया' वाले स्थायी वाक्यांशों और नामिक संयुक्त क्रियाओं में गुण भेद है।

यह विशेषताएँ कम से कम तीन हैं—

१–अर्थसंबंधी ( एक ही विचार प्रकट करना );

२–वाक्यमूलक ( संज्ञा वाले भाग में प्रधान कर्म का व्यापार लुप्त होता है;–उसके साथ

विशेषण नहीं हो सकता, —उनसे संबंधित दूसरे शब्दों का शासन उसमें शामिल होने वाले तत्त्व नहीं—सारी इकाई करती है)।

३–रचनामूलक (संज्ञा वाले भाग में लिंग और वचन का लोप,—नामिक संयुक्त क्रिया में शामिल होने वाले भाग एक दूसरे से अलग नहीं किये जा सकते और उनका स्थान भी नहीं बदला जा सकता,—संज्ञा वाले भाग के बाद 'को' परसर्ग नहीं लगाया जा सकता,—संज्ञा वाले भाग के बदले सर्वनाम का और क्रिया वाले भाग के बदले उसकी समानार्थक क्रिया का प्रयोग नहीं हो सकता)।

जब अर्थसंबंधी विशेषता 'संज्ञा+क्रिया' वाले स्थायी वाक्यांश और नामिक संयुक्त क्रिया दोनों के लिये एक सी है, तो उनमें स्पष्ट विभाजन रेखा दूसरी विशेषताओं से खींची जा सकती है।

**अकर्मक नामिक संयुक्त क्रियाएँ**—सकर्मक नामिक संयुक्त क्रियाओं के साथ-साथ भाषा में अकर्मक नामिक संयुक्त क्रियाएँ भी प्रयुक्त होती हैं जो संज्ञा और 'होना' क्रिया के जोड़ने से उत्पन्न हुई हैं। इस प्रकार नामिक संयुक्त क्रियाओं का जोड़ा बन जाता है : सकर्मक क्रिया–अकर्मक क्रिया। चूंकि नामिक संयुक्त क्रिया का अर्थ संज्ञा वाले भाग से स्पष्ट होता है इसलिये यह भाग उस जोड़े में एक सा होता है। सकर्मक नामिक संयुक्त क्रिया का संज्ञा वाला भाग अकर्मक नामिक संयुक्त क्रिया में एक सा होगा।

शुरू करना — शुरू होना
खर्च करना — खर्च होना
विदा करना — विदा होना
भंग करना — भंग होना
अदा करना — अदा होना
खतम करना — खतम होना
नोट करना — नोट होना आदि

लेकिन इस प्रकार का जोड़ा केवल ऐसी सकर्मक नामिक संयुक्त क्रिया का हो सकता है जिसके संज्ञा वाले भाग में सक्रिय कार्य का विचार मौजूद न हो। इसके अनुसार 'ग्रहण करना', 'धारण करना', 'प्रदान करना' जैसी क्रियाओं का अकर्मक क्रिया के रूप में कोई जोड़ा नहीं है।

**अस्थायी प्रयोग की इकाइयाँ**—नामिक संयुक्त क्रियाओं का भाषा में पैदा होना लंबा गतिक्रम है। इसका प्रमाण यह है कि भाषा में इस प्रकार की इकाइयां भी मौजूद हैं जिनमें प्रयोग की अस्थिरता प्रकट होती है : कभी-कभी वे संयुक्त क्रिया की तरह प्रयुक्त होती हैं, कभी-कभी 'संज्ञा+क्रिया' वाले वाक्यांश की तरह।

इस प्रकार की अस्थिर इकाइयों में निम्नलिखित संमिलित की जा सकती हैं—

१–इस्तेमाल करना—

वह इन सब चीजों को अपने लिए **इस्तेमाल करता है** : अपने शरीर को, अपनी भूमि को, अपने घर को—(कृष्ण चंद्र–अन्नदाता)—नामिक संयुक्त क्रिया;

अपने को सत्तारूढ़ रखने के लिए गैरजनवादी हथकंडों **का इस्तेमाल करने** में वह भी नहीं हिचकती।—('जनयुग' पत्रिका)—स्थायी क्रियावाक्यांश

२–हल करना—

यही समस्या है जिसे **हल करने** के लिये बीसवीं सदी का कहानीलेखक साहित्यक्षेत्र में उतरा है—(सुदर्शन)–नामिक संयुक्त क्रिया,

इस बात के बावजूद कि भारत सरकार ने ठोस कदम उठाए बेकारी की समस्या **का हल** अभी तक नहीं **किया** गया है—('जनयुग' पत्रिका)—स्थायी क्रिया वाक्यांश।

३–तलाश करना—

मैंने रोजगार **तलाश करने** की हर मुमकिन कोशिश की—( भीष्म साहनी–गंगो की जाया)—नामिक संयुक्त क्रिया;

इंद्रा कहती है कि सेठ नजनीन की जगह किसी दूसरी एक्ट्रस **की तलाश कर रहा है**। —(अब्बास–अंधेरा और उजाला)—स्थायी क्रिया वाक्यांश।

४–याद करना—

तारा अपने कमरे में बैठी उन दिनों को **याद करती** और ठंडी सांसें भरती थी।—(सुदर्शन–घोर पाप)—नामिक संयुक्त क्रिया;

शायद वह विरह का गीत गुनगुना रही थी या पिछले दिनों **की याद कर रही** थीं —(यशपाल–पहाड़ की स्मृति)—स्थायी क्रिया वाक्यांश।

५–सहन करना—

आप मेरे पिता जी को मुझ कलंकिनी द्वारा दिए जाने वाले संतानवियोग को **सहन करने** की शक्ति दीजिए।—(यशपाल–प्रायश्चित्त)–नामिक संयुक्त क्रिया,

मेरी आत्मा इस आनंद के बोझ **का सहन न कर सकेगी**।—(सुदर्शन–अंधी दुनियां)–स्थायी क्रिया वाक्यांश।

६–पालन करना—

मुझे विश्वास है कि आप सहर्ष मातृभूमि के प्रति अपना कर्त्तव्य **पालन करेंगे** (प्रेमचंद–सप्त सरोज)–नामिक संयुक्त क्रिया।

देश-काल-पात्र देखकर ही वचन **का** भी **पालन किया जाता** है।—(यशपाल–मक्कील)–स्थायी क्रियावाक्यांश।

७–कत्ल करना—

अब वह मेरे साथ नहीं जायगा तो मैं उसको **कत्ल कर दूंगा**।—(यशपाल–प्रेम का सार)–नामिक संयुक्त क्रिया,

खूनी तूने मेरी कहानी **का कत्ल किया है**।—(अब्बास–अंधेरा और उजाला)–स्थायी क्रिया वाक्यांश।

८–बयान करना—

अगर मैं अपने सारे हथकंडे **बयान करूं** तो आप यकीन न करेंगे।—(प्रेमचंद–सप्त-सरोज)—नामिक संयुक्त क्रिया,

...' पत्रिका )–

...दा लेती हूँ।

...दे दिया जो
... उल्लास का
...क्यांश।

...धिकतर प्रयुक्त

...क 'संज्ञा+
...समन्वय है।
...र सा है।

...आधार है।
...ले वाक्यांशों
... यह एकता
...है।

... हैं जो प्रयोग

...क्रियाओं से
...ना', 'छेड़ना',

CHEQUES ONLY. All Cheques must be crossed. Please use separate slips for cheques on :- (1) This Branch (2) Clearing Banks (3) Non-clearing Banks (4) Outstations.

**The Punjab National Bank Ltd.,**

Folio ____

KANKHAL Office 24-7-1957

Paid in Rupees — Bill.

to the credit of Vageshwar

in ____ account No. 117 on realization

| Cheque No. & Bank's Name | Rs. | A. | P. |
|---|---|---|---|
| Bill | 308.94 | | |
| TOTAL | 308.94 | | |

Clerk Accountant Manager By Vageshwar

...अंत में उसके दो कारण और होंगे जैसे संज्ञा का रूप और क्रिया का भाववाचक और अमूर्त अर्थ।

**नामिक संयुक्त क्रियाओं के प्रयोग की विशेपताएँ**—'संज्ञा+क्रिया' :वाले स्थायी वाक्यांश का एक ही लक्षण है जो एक शब्द वाली क्रिया और उसके लिये समान है। यह लक्षण है वाक्यांश का अर्थ। नामिक संयुक्त क्रिया और एक शब्द वाली क्रिया में न केवल अर्थ का लक्षण सामान है बल्कि संयुक्त क्रिया का ढांचा और वाक्य में उसका व्यापार भी एक सा है।

लेकिन उसके उपरांत भी नामिक संयुक्त क्रिया ठोस शब्द के बराबर नहीं है, क्योंकि उसमें शब्द का ठोसपन जैसा गुण नहीं है। इस बात के अनेक प्रमाण हैं।

एक तो नामिक संयुक्त क्रिया के संज्ञा वाले भाग के बदले उसके समानार्थक शब्द का प्रयोग हो सकता है—फारसी या अरबी लफ्ज के बदले संस्कृत का शब्द प्रयुक्त हो सकता है

इस मुसीबत का सरकारी **बयान** अभी तक नहीं **किया गया**।—( 'जनयुग' पत्रिका )–स्थायी क्रिया वाक्यांश।

९–अनुभव करना—

मैं तो अपने अपराध की गुरुता को **अनुभव कर रही** हूँ और संसार से विदा लेती हूँ।—( यशपाल–प्रायश्चित्त )–नामिक संयुक्त क्रिया,

भरपूर खाकर माधव ने बची हुई पूड़ियों की पत्तल उठाकर एक भिखारी को दे दिया जो खड़ा इनकी ओर भूखी आँखों से देख रहा था और 'देने' के गौरव, आनंद और उल्लास का अपने जीवन में पहली बार **अनुभव किया**।—( प्रेमचंद–कफन )–स्थायी क्रिया वाक्यांश।

१०–भरती करना, ११–मरम्मत करना, १२–शुमार करना आदि जो अधिकतर प्रयुक्त नहीं होते।

उन अस्थिर इकाइयों का भाषा में मौजूद होना इस बात का प्रमाण है कि 'संज्ञा+क्रिया' वाले स्थायी वाक्यांशों और नामिक संयुक्त क्रियाओं में घनिष्ट संबंध और समन्वय है। 'संज्ञा+क्रिया' वाला स्थायी वाक्यांश नामिक संयुक्त क्रिया के पैदा होने का आधार सा है।

क्रिया वाक्यांश की आर्थी–एकता नामिक संयुक्त क्रिया के पैदा होने का आधार है। लेकिन उनके पैदा होने का एक ही कारण नहीं है क्योंकि सब 'संज्ञा+क्रिया' वाले वाक्यांशों में ऐसी आर्थी एकता प्रकट होती है पर ऐसी इकाइयों की संख्या कम है जिनमें यह एकता केवल अनुभूत ही नहीं होती है वरन व्याकरणात्मक रूप में कार्यान्वित भी होती है।

दूसरा कारण यह है कि नामिक संयुक्त क्रियाएँ ऐसे वाक्यांशों से पैदा होती हैं जो प्रयोग में बहुधा आते हैं।

तीसरा कारण ( जिसका दूसरे से अटूट संबंध है ) यह है कि नामिक संयुक्त क्रियाओं से प्रकट किया जाने वाला अर्थ समाज के जीवन में बड़े महत्त्व का है जैसे 'शुरू करना', 'छेड़ना', 'खतम करना', 'खर्च करना' आदि।

अंत में उसके दो कारण और होंगे जैसे संज्ञा का रूप और क्रिया का भाववाचक और अमूर्त अर्थ।

**नामिक संयुक्त क्रियाओं के प्रयोग की विशेषताएँ**—'संज्ञा+क्रिया' वाले स्थायी वाक्यांश का एक ही लक्षण है जो एक शब्द वाली क्रिया और उसके लिये समान है। यह लक्षण है वाक्यांश का अर्थ। नामिक संयुक्त क्रिया और एक शब्द वाली क्रिया में न केवल अर्थ का लक्षण सामान है बल्कि संयुक्त क्रिया का ढांचा और वाक्य में उसका व्यापार भी एक सा है।

लेकिन उसके उपरांत भी नामिक संयुक्त क्रिया ठोस शब्द के बराबर नहीं है, क्योंकि उसमें शब्द का ठोसपन जैसा गुण नहीं है। इस बात के अनेक प्रमाण हैं।

एक तो नामिक संयुक्त क्रिया के संज्ञा वाले भाग के बदले उसके समानार्थक शब्द का प्रयोग हो सकता है—फारसी या अरबी लफ्ज के बदले संस्कृत का शब्द प्रयुक्त हो सकता है

और संस्कृत के बदले फारसी और अरबी। इस प्रकार के परिवर्तन से पैदा हुई इकाई का गुण और उसका दूसरे शब्दों के साथ संबंध नहीं बदल जाता।

शुरू करना — आरंभ करना,
खर्च करना — व्यय करना,
अख्तियार करना — ग्रहण करना,
रुखसत करना — विदा करना,
सलाम करना — प्रणाम करना,
कबूल करना — स्वीकार करना,
याद करना — स्मरण करना आदि

दूसरे नामिक संयुक्त क्रिया का ढाँचा अविभाजित नहीं है। उसमें शामिल होने वाले भागों के बीच कभी-कभी निषेधवाचक या निश्चयवाचक अव्यय ( या दोनों एक साथ मिलकर ), कभी-कभी एक शब्द या शब्दों के समूह से प्रकट होने वाला क्रिया विशेषण भी आ सकता है।

सविता ने पूछा : 'आप अब इसी चित्र को क्यों आरंभ **नहीं** करते।—( यशपाल—नीरस रसिक )।

**हम मर जाएँगे तो कोई हमें याद भी न करेगा**।—( अश्क—मर्द का एतबार )।

यह विशेषता केवल नामिक संयुक्त क्रियाओं की नहीं बल्कि सभी प्रकार की संयुक्त क्रियाओं की है।

आखिर नामिक संयुक्त क्रिया के ढाँचे में संज्ञा वाला भाग लुप्त हो सकता है अगर वही नामिक संयुक्त क्रिया उसके निकटतम प्रसंग या वाक्य के उससे पहले वाले अभिवचन में प्रयुक्त हुआ हो। ध्यान देने की बात है कि संज्ञा वाले भाग के साथ-साथ प्रधान कर्म भी लुप्त हो जाता है ताकि गलत न समझा जाय।

—'बाबू, तेरा **जूता पालिश कर दूँ**?

—'मेरा नहीं, किसी बाबू का √ **करना** जो पैसा भी देगा।—( भीष्म साहनी—गंगो की जाया )।

अतः जिन इकाइयों को हम नामिक संयुक्त क्रिया कहते हैं वे विशेष प्रकार की इकाइयाँ हैं जिनमें स्थायी क्रियावाक्यांश की विशेषताएँ लुप्त हो चुकी हैं बल्कि जो अभी तक ठोस, अविभाजित शब्द नहीं बन गईं।

इस प्रकार नामिक संयुक्त क्रियाएँ विशेष संयुक्त नाम—क्रिया वाली इकाइयाँ हैं जो अपने अर्थ और ढाँचे के अनुसार ठोस शब्दों के नजदीक आती हैं और वाक्य में एकबद्ध भाग ( नियमतः विधेय ) की हैसियत से प्रयुक्त होती हैं। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि नामिक संयुक्त क्रियाएँ ऐसी इकाइयां हैं जो पूर्ण रूपसे ठोस शब्द नहीं हो गईं वे एक प्रकार के शब्द हैं जो अविभाजित नहीं हैं।

**नामिक संयुक्त क्रियाओं की समस्या और सहायक क्रियाएँ**—नामिक संयुक्त क्रियाओं की समस्या का सहायक क्रियाओं के सवाल से अटूट संबंध है। 'सहायक' नाम कई क्रियाओं का है जिनका वाक्य में सहायक व्यापार होता है। सब 'सहायकों' की एक ही सामान्य विशेषता है कि दूसरे शब्दों से मिले बिना वे विधेय का व्यापार नहीं कर पाते। अपने निज के अलग अर्थ से वंचित होकर वे दूसरे पूर्णार्थक शब्दों की सेवा करते हैं।

नामिक संयुक्त क्रिया में शामिल होने वाले भाग 'करना' (सकर्मक) और 'होना' (अकर्मक) को '**उत्पादक**' क्रियाएँ कहना चाहिए। 'उत्पादक' क्रियाएँ सहायकों में शामिल होती हैं और 'संज्ञा+क्रिया' वाले वाक्यांशों से नामिक संयुक्त क्रियाओं के उत्पन्न होने के दौरान में अपूर्ण विधेय वाली क्रियाओं से पैदा होती हैं।

'देना' 'उत्पादक' क्रियाओं में शामिल नहीं किया जा सकता क्योंकि उसका अर्थ उसे केवल संज्ञाओं से मिलने देता है और इसी प्रकार बनी हुई इकाइयों में लिंग, वचन जैसे संज्ञा के व्याकरणात्मक लक्षण मौजूद होते हैं।

इस बात **का कोई सीधा उत्तर न दे** संतु ने कहा।—(यशपाल–शर्त)।

**'नाम+क्रिया' वाली इकाइयों के बहुल प्रयोग के कुछ कारण**—'नाम+क्रिया' वाले वाक्यांश अपने समानार्थक एक शब्द वाले नामधातु या धातुक्रिया के साथ-साथ हिंदी में प्रयुक्त होते हैं।

'नाम+क्रिया' वाले वाक्यांश एक ही कार्य का विचार प्रकट करने का विवरणात्मक ढंग है। दूसरे शब्दों में वे **क्रिया-पर्युक्ति** (वर्बल पेरीफ्रेसिस) हैं जो कई कारणोंसे प्रयोग में आ गई हैं। क्रिया–अध्युक्ति न केवल वाक्यांश बल्कि वह हिंदी भाषा में मौजूद होने वाली प्रवृत्ति का लक्षण है। यह प्रवृत्ति है, कार्य का विचार एक शब्द से नहीं, शब्दों के समूह से प्रकट करना। इसके कई प्रमाण हैं।

एक तो भाषा का इतिहास प्रमाणित करता है कि संस्कृत में भी क्रिया अध्युक्ति का प्रयोग कभी-कभी हुआ था। संस्कृत की क्रियाअध्युक्ति यह है कि 'कर' (√कृ) के रूप और संज्ञा का कर्म कारक के एक दूसरे के साथ मिलने से क्रियाअध्युक्ति बन जाती थी जो भाषा के इतिहास के दौरान में एक शब्द के रूप में विलीन हो गई थी।

जैसे सं० फुत्+√कृ=फुत्करोति,

प्रा० फुक्कइ (या फुक्केइ),

हिंदी फुंके (जिसकी सामान्य क्रिया 'फुंकना')।

दूसरी ओर क्रिया वाक्यांशों और नामिक संयुक्त क्रियाओं के क्रम पर ईरानी भाषाओं खासकर फारसी का प्रभाव पड़ा जिसमें संयुक्त क्रियाओं की विकसित प्रणाली है। इस बात का यह प्रमाण है कि बहुत सी 'नाम+क्रिया' वाली इकाइयां इन्हीं के नमूने पर बनी हुई हैं।

इस बात का दूसरा प्रमाण है आधुनिक हिंदी में 'नाम+क्रिया' वाले वाक्यांशों की विशाल और दिन पर दिन बढ़ती हुई संख्या। उनकी संख्या बढ़ने का एक कारण यह है कि दूसरी विदेशी भाषाओं से लिए जाने वाले शब्द कार्य का विचार प्रकट करने के लिये विस्तृत अर्थ की धातुक्रियाओं से मिलाकर प्रयुक्त किए जाते हैं।

'नाम+क्रिया' वाले वाक्यांश और उनके समानार्थक शब्द वाली क्रियाएँ भाषा में साथ-साथ रहते हैं लेकिन साहित्य में वाक्यांशों को अधिमान दिया जाता है। इस अधिमान के (सामान्य प्रकृति को छोड़कर) कई और कारण हैं। कई क्रियाओं का प्रयोग साहित्य में कभी नहीं होता क्योंकि वे किसी ग्रामीण बोली के शब्द हैं जैसे 'डोरियाना', 'नाथना', 'परोहना' आदि।

कई नामधातु इस बात के उपरांत भी कि वे सभी बोलियों में ज्ञात हुए शब्दों से उत्पन्न हुए हैं शैली के विचार से प्रयोग में नहीं आते। जैसे 'पनियाना'–'पानी देना', 'पितराना'–'पीतल के बर्तन में खराब हो जाना' 'पपड़ियाना'–'पपड़ियाँ पड़ना' आदि। चूँकि हरेक नाम-धातु कार्यपरक और वस्तु–गुण–परक दोनों पहलुओं का संश्लेषण है इसलिये उस में निहित हुआ अर्थ साहित्यिक भाषा में संज्ञा (या विशेषण) और धातुक्रिया, दो शब्दों के संयोग से प्रकट किया जाता है।

कभी कभी शैली का भेद दूसरे रूप में दिखाई देता है। संस्कृत या अरबी–फारसी शब्दों से बने हुए नामधातुओं के बदले, जो पुरानी हिंदी और उर्दू दोनों में बड़ी संख्या में प्रयुक्त किए जाते थे, आजकल बहुधा 'नाम+क्रिया' वाले वाक्यांशों का प्रयोग होता है (जिनसे कभी कभी नामिक संयुक्त क्रियाएँ भी पैदा होती हैं। जैसे "बहसना" के बदले "बहस करना", 'कबूलना' के बदले 'कबूल करना', 'विचारना' के बदले 'विचार करना', 'प्रचारना' के बदले 'प्रचार करना', 'आरोपना' के बदले 'आरोप करना' आदि।

जैसा सबको मालूम है हिंदी संस्कृत शब्दों से भरी रहती है, उर्दू अरबी फारसी अल्फ़ाज़ से। इसीलिये वाक्य के अंदर एक प्रकार का शब्दक्षेत्र बनता है जिसके भीतर केवल एक ही वर्ग के शब्दों का प्रयोग शैली की दृष्टि से उचित माना जाता है। इसके फल स्वरूप हिंदी के वाक्य में संस्कृत वाले शब्दों की और उर्दू में अरबी फारसी अल्फ़ाज़ की लड़ी बन जाती है।

अगर एक शब्द वाली क्रिया और उसके समानार्थक वाक्यांश में शैलीसंबंधी कोई भेद न हो तो वाक्यांश को अधिमान दिया जाता है क्योंकि अपने ढाँचे के अनुसार उसमें अधिक स्पष्टता से विचार प्रकट करने की शक्ति है (संज्ञा का प्रयोग बहुवचन में और विशेषण को लेकर क्रिया से दूरी पर और कभी कभी उसके बाद भी हो सकता है)।

क्रिया–अध्युक्तियों के अधिक प्रयोग होने का एक और कारण यह है कि एक शब्द वाली क्रिया और उसके समानार्थक क्रियावाक्यांश (और उसके आधार पर पैदा होने वाली नामिक संयुक्त क्रिया) में अर्थ का बिलगाव है। एक शब्द वाली धातुक्रिया नियम की तरह अनेकार्थक (पालीसिंथेटिक) है। इस के विपरीत क्रियावाक्यांश और उसके आधार पर पैदा होने वाली नामिक संयुक्त क्रिया प्रायः एकार्थक है।

यह बिलगाव दो तरीकों से हो सकता है एक तरीका यह है कि धातुक्रिया के बदले इसका धातु 'करना' से मिलकर क्रियावाक्यांश के नाम वाले भाग की हैसियत से प्रयोग में आता है। उदाहरण के लिये 'माँगना' शब्द हिंदी–शब्द–भंडार की धातुक्रिया है। उसका अर्थ है 'प्रार्थना करना' और 'तकाजा करना' अर्थात उसके दो अर्थ हैं जो एक दूसरे के प्रतिकूल हैं। लेकिन हमने देखा है कि आधुनिक साहित्यिक भाषा में उसका 'प्रार्थना करना' वाला अर्थ स्थायी होता जा रहा है। उसका 'तकाजा करना' वाला अर्थ उसके धातु 'माँग' और 'करना' के मिलने से प्रकट किया जाता है—

१–माँगना—प्रार्थना करना—

उसने सहारा माँगा भी तो एक अंधे से ही।—( सबा-पार्क की एक रात )।

२–माँगना–तकाजा करना—

प्रस्ताव में सरकार से माँग की गई कि वह एशियाई देशों के बीच पहले से ज्यादा घनिष्ठ सांस्कृतिक संबंध कायम करने के लिये आवश्यक कदम उठाए।—( 'जनयुग' पत्रिका )।

दूसरा तरीका यह है कि धातुक्रिया के बदले दूसरी भाषा से लिये हुए शब्द और 'करने' का संयोग प्रयोग किया जाता है। जैसे 'छेड़ना' के अर्थ में 'शुरू करना' का प्रयोग ज्यादातर होता है।

'नाम+क्रिया' वाले क्रियावाक्यांशों का आधुनिक हिंदी में विकास अर्थविभाजन ( डिफरेंशिएशन आफ मीनिंग ) के कारण से भी होता है। हिंदी भाषा में 'शुरू करना' का प्रयोग होता है। उसका कारण यह नहीं है कि भाषा में 'शुरू करना' अर्थ वाली क्रिया नहीं थी। ऐसे अर्थ वाली जो क्रिया है उसका अर्थ 'शुरू करना' से कहीं लंबा चौड़ा है। 'छेड़ना' के अर्थ है—१–'छूना', २–'सताना', ३–'भड़काना', ४–'खोजना', ५–'शुरू करना।' उसके विपरीत 'शुरू करना' का अर्थ एक ही है—'आरंभ करना'।

अतः इसके उपरांत भी कि यह बात अजीब सी मालूम पड़ती है, नामिक संयुक्त क्रियाओं की उत्पत्ति ऐसे अर्थ वाली धातुक्रियाओं की अनुपस्थिति से नहीं—उसकी भाषा में उपस्थिति से अटूट रूप से संबंधित है।

इस प्रकार बड़े पैमाने पर क्रिया वाक्यांशों का और उनके आधार पर पैदा होने वाली संयुक्त क्रियाओं का हिंदी में प्रयोग धातुक्रियाओं के बदले और उनके अर्थ में इसलिये होता है कि भाषा में न केवल संयोगों के पैदा होने की प्रवृत्ति होती है बल्कि शैली और अर्थ-विभाजन की बातें चालू रहती हैं।

## कुछ निष्कर्ष

१–हिंदी नामधातु अर्थविन्यास के नियमों के अनुसार पैदा होते हैं। उनके मूल में नाम की प्रयोगसंबंधी या गुणसंबंधी विशेषता रखी जाती है।

उनके उत्पन्न होने का एक तरीका है प्रत्ययों का—न–आ–न–इया–ना; इसके साथ साथ शब्द के मूल में कभी कभी स्वरों का परिवर्तन भी हो सकता है।

नामधातुओं के अर्थ का विकास उनमें अमुख्य अर्थ के निकलने से होता है। इसके साथ साथ ऐसा विकास इस कारण भी हो सकता है कि नामधातु के अर्थ के मूल में दो और कभी कभी उससे ज्यादा भी शब्द की मुख्य विशेषताएँ रखी जाती हैं।

बहुत से नामधातु प्रेरणार्थक नहीं हो सकते। सामान्य शब्दभंडार में शामिल होते हुए भी वे मूल-शब्द-भंडार से बाहर हैं। केवल दो-तीन ऐसे नामधातु हैं जो मूल-शब्द-भंडार में शामिल हुए माने जा सकते हैं।

साहित्यिक हिंदी में नामधातु बहुत कम प्रयुक्त होते हैं, लेकिन नए नामधातु कभी कभी उत्पन्न होते हैं, जैसे 'फिल्माना'।

२–'करना' क्रिया अपनी प्रकृति से सहायक नहीं मानी जा सकती। वस्तुवाचक संज्ञा से मिलकर वह स्थानापन्न क्रिया हो जाती है, भाववाचक संज्ञा के संयोग में आकर वह अपूर्ण विधेय वाली क्रिया हो जाती है।

३–'नाम+क्रिया' वाले संयोग अधिकांशतः क्रियावाक्यांश होते हैं जिनकी विशेषता यह है कि एक ओर से उसकी आर्थी एकता है दूसरी ओर से उनके भाग वाक्य के ढाँचे में स्वतंत्र रहते हैं।

४–नाम वाली संयुक्त क्रियाओं की समस्या ऐसे क्रियावाक्यांशों तक सीमित है जिनके भाग एक दूसरे के इतने नजदीक आते हैं कि उन दोनों की एक शब्द जैसी इकाई बनती है। नामिक संयुक्त क्रिया विशेष संयुक्त 'नाम+क्रिया' वाली इकाई है जो अर्थविन्यास और व्याकरण की दृष्टि से अटूटं शब्द के ठीक पास है और वाक्य में उसके एक से भाग (विधेय) के रूप में प्रयुक्त की जाती है।

५–संयुक्त क्रियाओं के बनने का आधार है क्रियावाक्यांश। 'नाम+क्रिया' वाक्यांश और नामिक संयुक्त क्रिया का घनिष्ट संबंध है।

६–कई बातों के कारण नामिक संयुक्त क्रियाएँ पैदा होती हैं। ये बातें हैं—

–अर्थ की एकता,

–वाक्यांशों का बहुल प्रयोग,

–भाषा में स्थायी वाक्यांश से प्रकट होने वाले अर्थ का अत्यंत महत्त्व,

–अंत में संज्ञा का रूप, क्रिया का भाववाचक और अमूर्त अर्थ और उन दोनों का प्रयोग में स्थायी क्रम।

७–नामिक संयुक्त क्रियाओं की समस्या सहायक क्रिया के सवाल से संबंधित है। नामिक संयुक्त क्रिया में शामिल होने वाले भाग 'करना' और 'होना' वास्तव में 'उत्पादक' ढंग की सहायक क्रियाएँ हैं, जो 'संज्ञा+क्रिया' वाले वाक्यांशों से नामिक संयुक्त क्रियाओं के उत्पन्न होने के क्रम में अपूर्ण विधेय वाली क्रियाओं से पैदा होती हैं।

८–धातुक्रिया और नामधातु के बदले साहित्यिक भाषा में बड़े पैमाने पर स्थायी क्रिया-वाक्यांशों का प्रयोग होता है। कार्य के विचार को दो तत्त्वों के संयोग से प्रकट करने की प्रवृत्ति को छोड़ इस बात के दूसरे कारण भी हैं जैसे शैली (बहुत से नामधातुओं का प्रयोग गँवारू माना जाता है) और अर्थविन्यास (एक शब्द वाली क्रिया और 'नाम+क्रिया' वाले स्थायी वाक्यांश या नामिक संयुक्त क्रिया में अर्थविभाजन) की बातें।

*

# भारतीय इतिहास के पूर्व मध्ययुग की समस्याएँ[1]

राजबली पांडेय

## इतिहास के मूल स्रोतों के पूर्ण उपयोग का अभाव

प्राचीन भारत के पूर्व मध्यकाल ( ७११–१२०६ ) के संबंध में एक ओर तो यों ही सामग्री प्रचुरता से उपलब्ध नहीं, दूसरी ओर देखा यह जाता है कि इतिहासकार अन्य प्रकार की साहित्यिक एवं परंपरागत सामग्रियों का उपयोग करने से दूर भागते हैं। यह सही है कि इस काल के इतिहास के पुनर्निर्माण में अनायास प्राप्त शिलालेखों एवं मुद्राओं का प्रभूत उपयोग किया गया है। परंतु बहुत सी पुरातात्त्विक सामग्री का, विशेषतः इस युग से संबंधित सामग्री का, अभी उद्धार ही नहीं हुआ है और वे हमें प्राप्य नहीं हैं। प्राचीन मध्यकाल के भारतीय नगर, जो या तो विदेशी आक्रामकों की क्रूरता से ध्वस्त हो गए, या राजनीतिक-व्यापारिक परिवर्तनों से उजड़कर खंडहरों और टीलों के नीचे दबे पड़े हैं। पुरातत्त्व विभाग संभवतः यह सोचता है कि वे इतने महत्त्व के नहीं हैं कि उनका उत्खनन किया जाय। इन अभागे नगरों की दबी सामग्री समसामयिक लोगों के रहनसहन पर पर्याप्त प्रकाश डाल सकती है, पर दुर्भाग्यवश उसकी उपेक्षा हो रही है। कई वर्षों पूर्व वाराणसी के निकट राजघाट पर रेल के ठेकेदारों ने जब प्रतीहारों और गहडवालों से संबंधित सामग्री अस्तव्यस्त कर दी तब कहीं पुरातत्त्व विभाग ने उसमें हाथ लगाया। यह भलीभाँति विदित है कि इस अवैज्ञानिक खोदखाद के फलस्वरूप बहुमूल्य राजनीतिक तथा सांस्कृतिक महत्त्व की सामग्रियाँ प्राप्त हुई है। हाल में मैं कनौज ( कान्यकुब्ज ) गया था। मैंने देखा कि शताब्दियों से इस राजनगर को ध्वस्त करने के प्रयत्नों के बाद भी धरती की ऊपरी सतह पर इस काल से संबंधित सामग्रियाँ बिखरी मिलती हैं और अल्प आयास से ही भूमि के थोड़े नीचे विशाल सामग्री मिल सकती है। भारत के हर भाग में आरंभिक मध्यकालीन नगरों के ध्वंसावशेष या तो अनदेखे पड़े हैं और यदि देखे भी गए हैं तो वे पुरातत्त्व विभाग का ध्यान आकर्षित नहीं कर पाए। धरातल के ऊपरी स्मारकों की सुरक्षा पर पर्याप्त उदारता बरती गई है। परंतु धरातल के ऊपर तथा नीचे बिखरी सामग्री की ओर ध्यान देना अनावश्यक समझा गया। इन स्थलों के उत्खनन से लिपि तथा मुद्रासंबंधी प्रमाण ही उपलब्ध नहीं होंगे, वरन इस काल के समग्र इतिहास के पुनर्निर्माण के लिये बहुतेरी नवीन समृद्ध सामग्रियाँ भी प्राप्त होंगी।

इस युग के ऐतिहासिक, अर्द्ध ऐतिहासिक तथा जीवनीग्रंथ बड़ी शंका और संकोच के साथ काम में लाए गए हैं। परंतु अभी भी संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंशसाहित्यों की विशाल शाखाएँ पड़ी हैं, जिनका स्पर्श नहीं हुआ है। सर्वप्रथम इतिहास का धर्मशास्त्रीय स्रोत ही ऐसा है जिसका आलोड़न नहीं हुआ है और यदि कहीं उन्हें देखा भाला भी गया है तो [illegible] डरते

१. भारतीय इतिहास संमेलन ( कलकत्ता, दिसंबर, १९५५ ) में द्वितीय विभाग (७१२–१२०६) के अध्यक्ष पद से दिया अभिभाषण।

डरते, भागते हुए। इस दिशा में हम उन विद्वानों के प्रयत्नों का स्वागत करते हैं जिन्होंने डा० आर० सी० मजुमदार तथा डा० ए० डी० पुसालकर के दक्ष संपादकत्व में, भारतीय विद्याभवन, बंबई द्वारा जनवरी, १९५५ में 'द हिस्टरी एंड कल्चर आव द इंडियन पीपुल' सीरीज के अंतर्गत प्रकाशित 'द एज आव इंपीरियल कनौज' में किए हैं। इनमें उन्होंने इस प्रकार के प्रमाणों का उपयोग किया है। धर्मशास्त्रीय सामग्री के उपयोग के विरुद्ध संभावित तर्क यही है कि उनका तिथिक्रम अनिश्चित तथा उनमें संकलित सामग्री भारतीय इतिहास के विभिन्न युगों की हैं। इसका सीधा सा उत्तर यही हो सकता है कि यद्यपि बहुतेरे ग्रंथों का तिथिक्रम और तारतम्य अनिश्चित है, फिर भी बहुत से ग्रंथों की तिथियाँ निर्धारित हो चुकी हैं। तिथि-संबंधी अपेक्षित सहायता म० म० पी० वी० काणे के 'हिस्टरी आव धर्मशास्त्र' खंड १ से ली जा सकती है। यह भी संभव है कि शास्त्रीय स्रोतों के जानकार विद्वान समसामयिक ग्रंथों और अनुश्रुतियों की संगति से तथ्य ग्रहण करें। संस्कृत साहित्य की यह शाखा तत्कालीन नृपति-परंपरा निर्धारित करने में भले ही बहुत सहायक न हो, पर आरंभिक मध्यकाल के प्रशासकीय, विधिसंबंधी, सामाजिक तथा सांस्कृतिक इतिहास के लिये उर्वर एवं महत्त्वपूर्ण स्रोत है। इससे इन विषयों के पुरातात्त्विक प्रमाणों को यत्रतत्र पर्याप्त सहायता मिल सकती है।

यह अवश्य है कि इस युग का सारा साहित्य ( संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश ) सीधा ऐतिहासिक प्रमाण नहीं हो सकता, पर यह भी सत्य है कि लोक का संपूर्ण जीवन और संस्कृति इसमें प्रतिबिंबित है। जब इतिहास का क्षेत्र केवल वंशानुक्रम और राजनीति से और विस्तृत होकर मानवजीवन के सुगठित रूप को अपनी परिधि में खींच लाया है तब तो ज्ञान की इस विशाल राशि की उपेक्षा नहीं की जा सकती।

## नया दृष्टिकोण अपेक्षित

अबतक हमारे प्रयास केवल आनुवंशिक तथा राजनीतिक इतिहास के पुनर्निर्माण तक ही सीमित थे। डा० ए० एस० अल्तेकर ने 'राष्ट्रकूटज़ एंड देयर टाइम्स' तथा डा० आर० सी० मजुमदार ने 'हिस्टरी आव बंगाल' के द्वारा राजनीतिक इतिहास मात्र के स्थान पर उत्कृष्ट सांस्कृतिक ढाँचा उपस्थित किया। परंतु आवश्यकता है अखिल भारतीय स्तर पर राजनीतिक इतिहास से हटकर सामाजिक तथा सांस्कृतिक दृष्टिकोण पर आने की। इसमें संदेह नहीं कि राजनीतिक और वंशानुक्रमिक ऐतिहासिक क्षेत्र उच्च अध्ययन के लिये मौलिक रूप से आवश्यक हैं। परंतु अपनी उच्च तथा परिष्कृत ऐतिहासिक दिशाओं के प्रति हमारे अनुराग और जिज्ञासा के बीच उसे बाधक नहीं होना चाहिए। समग्र जनजीवन और विशेषतः उसकी निर्माणचेतना हमारे अध्ययन का विषय होना चाहिए। जीवन के आर्थिक आधार, भौतिक जीवन को नियंत्रित करनेवाली आर्थिक मान्यताओं का गठन, उत्पादन और वितरण, वाणिज्यव्यवसाय, सांस्कृतिक गतिविधियाँ, बौद्धिक परिकल्पनाएँ तथा दार्शनिक अनुभव आदि के संबंध में गहन विवेचन होना चाहिए, जिनके बीच होकर सार्वजनीन सुखसमृद्धि और संस्कृतियाँ प्रवाहित होती हैं।

इतिहास विज्ञान की कला में भी एक नवीन दृष्टिकोण की अपेक्षा है। इस युग के संबंध में अभी तक ऐतिहासिक ढाँचे के पुनर्निर्माण के लिये तत्त्वों का संकलन और परीक्षण ही ऐतिहासिकों का प्रधान कार्य रहा है। विश्लेषण, व्याख्या, समीक्षा और तुलना की या तो उपेक्षा की गई या उसे छोड़ ही दिया गया। दूसरे शब्दों में अभी तक इतिहास केवल वर्ण-

नात्मक तथा अपने चरम लक्ष्य मानवसमस्याओं के प्रति अंतर्दृष्टि प्रदान करने में कदाचित ही समर्थ रहा है। इतिहास को और रोचक, पठनीय एवं उपयोगी बनाने के लिये इसे केवल सारिणीकरण और वर्णनों से परे जाकर विवेचन करना होगा।

### दो उपकाल

इन कतिपय सामान्य सुझावों के उपरांत समीक्ष्य युग का एक सर्वेक्षण देना उचित होगा। स्थूल रूप से इस युग का विभाजन दो उपविभागों में किया जा सकता है – (१) उत्कर्ष और निर्माण का युग (७१२–१००० ई०) और (२) विशृंखलता और पतन का युग (१०००–१२०६ ई०)। देश के भले-बुरे दोनों की दृष्टि से इन दोनों विभागों में महत्त्व के तत्त्व हैं। पहले हम प्रथम युग पर विचार करेंगे।

## उत्कर्ष और निर्माण का युग

### राजनीतिक

राजनीति के क्षेत्र में यह युग विशाल निर्माण का युग था। विशाल और सुविस्तृत गुप्त साम्राज्य को पाँचवी शती के अंतिम और छठी शती के आरंभिक वर्षों में हूणों के भारतीय आक्रमणों का विनाशकारी आघात लगा। इस लड़खड़ाती हुई भारतीय साम्राज्यशक्ति का अल्पकालिक पुनर्निर्माण दशपुर के यशोधर्मन के शासन में हुआ; जिसका दावा है कि उसने गुप्तों से अधिक विस्तृत भूभाग पर शासन किया। यशोधर्मन की सफलता क्षणिक थी और उसका अल्पजीवी साम्राज्य उसी के साथ विलीन हो गया। कान्यकुब्ज के हर्षवर्धन और यशोवर्मन के साम्राज्य भी ऐसे ही भाग्य की प्रतीक्षा कर रहे थे। एक विशाल स्थायी साम्राज्य के निर्माण में इन व्यक्तित्वों की असफलता का वास्तविक कारण यह था कि वे अपनी सफलताओं की परिपुष्टि के लिये विस्तृत परंपरा नहीं बना सके—जो आगे तात्कालिक अराजकता में बदल गई। ८ वीं शती में देश के राजनीतिक पुनरुत्थान के लिये एक ठोस प्रयास हुआ। इस दिशा में उत्तर के प्रतीहारों ने, दक्षिण के राष्ट्रकूटों ने और पूर्व के पालों ने अपने अपने क्षेत्रों में वीरतापूर्ण प्रयास किए। उत्तर में अरबों ने सिंध में अड्डा जमा लिया था और आगे उनसे और भी भय था। परंतु उस समय आर्यावर्त की इस भावना पर नूतन बल दिया जा रहा था कि 'इस भूमि पर आर्य निवास करते हैं, विनाशों पर विजय पाते हैं, फिर पल्लवित होते हैं, यहाँ म्लेच्छ चिरकाल के लिये स्थायी नहीं होते।'[२] गुर्जर प्रतीहारों के अंतर्गत रघु और राम की दिग्विजयों की समता और चक्रवर्ति तथा सार्वभौम राजाओं के आदर्श पुनर्जीवित हुए। राज्य पुनः संगठित हुए और राज्य के दूरस्थ अंचलों का शासन केंद्र द्वारा हुआ। कुछ अर्थों में गुप्तों की अपेक्षा प्रतीहारों की राजनीतिक सफलताएँ अधिक विस्तृत और चिरस्थायी थीं। यही कारण है कि हूणों और अरबों के आक्रमण सदा के लिये भारतीय राजनीतिक बुद्धि की जड़ें नहीं हिला सके और वह पुनः जागृत होकर मस्तक उठा सकी।

राजनीतिक विचारधारा के क्षेत्र में चिंतन की मौलिकता तो उतनी नहीं थी परंतु उसमें एक दृढ़ शृंखला और प्रायः राजनीति को सामाजिक रूप देने की ओर निर्भीक व्याख्या अवश्य

२. आर्या वर्तन्ते तत्र पुनरुद्भवन्ति आक्रम्य आक्रम्यापि न चिरं तत्र म्लेच्छाः स्थातारो भवन्ति।
मनुस्मृति पर मेधातिथि—२, २२।

थी। राजनीति पर शुक्रनीतिसार और सोमदेव सूरि के नीतिवाक्यामृत जैसे प्रामाणिक ग्रंथों की रचना इस काल में हुई और विश्वरूप एवं मेधातिथि जैसे निर्माणकारी तथा विश्वसनीय निबंधकार इसी काल में हुए। राजनीतिक चिंतन की दिशा में कुछ मुख्य लक्षणों का संकेत यहाँ यथेष्ट होगा। 'नीतिसार' (राजनीति) की व्याख्या करते हुए शुक्र कहते हैं, 'जिस प्रकार धर्म, अर्थ और काम अंततः मोक्ष का साधन करते हैं उसी प्रकार राजनीति सबका रक्षण और सांसारिक जीवन का पोषण करती है।'[३]

सोमदेव ने राज्य की उपयोगिता पर प्रकाश डालते हुए लिखा है। 'उस राज्य को नमस्कार' जो राज्य धर्म, अर्थ और काम के फलित होने में योग देता है।[४] इससे स्पष्ट है कि राज्य की परिकल्पना और महत्त्व के संबंध में कोई कमी नहीं थी। जहाँ तक 'राजत्व' का प्रश्न है, इसकी पात्रता के संबंध में विश्वरूप एवं मेधातिथि दोनों ही उदारमत हैं। क्षत्रिय ही राजत्व का अधिकारी है, इस प्राचीन मान्यता को स्वीकार करते हुए भी उनका मत है कि जिसके पास राज्य हो उसे 'राजन्' की उपाधि दी जा सकती है।[५] इसके आगे राजधर्म को धर्मनिरपेक्ष बनाने का भी प्रयास हुआ है। इस शब्द की व्याख्या करते हुए मेधातिथि ने कहा है कि राजा के कर्तव्य दो प्रकार के हैं – १. दृष्टार्थ और २. अदृष्टार्थ। इनमें प्रथम सार्वजनिक हित के गोचर परिणाम के लिये तथा दूसरा धार्मिक कर्तव्यों के लिये जिनसे अगोचर दार्शनिक फलों की प्राप्ति होती है। दृष्टार्थ के संबंध में पुनः कहा गया है कि इन्हें वेदों पर आधारित होने के साथ अर्थशास्त्र आदि जैसे धर्मनिरपेक्ष प्रमाणों के अनुकूल भी होना चाहिए।[६] यहाँ राजा और शासन के व्यावहारिक और धार्मिक कर्तव्यों पर उचित बल दिया गया है।

राज्यसंघटन की कला में भी पुनर्निर्माण और एक सुनिश्चित दृष्टिकोण था। तत्कालीन भारत में प्रतीहारों की महत्त्वशाली शक्ति, संगठन और शासनतंत्र के केंद्रीकरण की दिशा में गुप्त शासन-प्रणाली से भी बढ़ी चढ़ी थी। सौराष्ट्र जैसे अतिसुदूर प्रांत तक उनके सीधे शासन के अंतर्गत थे।

सामंती तत्त्व गुप्तों की अनेक दुर्बलताओं में एक था। प्रतीहारों ने इसे पूर्णतः नहीं तो जहाँ तक संभव हो सका कम करने का प्रयास किया। गुप्तों तथा पालों के अभिलेखों में हमें गुप्त अभिलेखों से अधिक सुचारु एवं संगठित राजतंत्र का परिचय मिलता है। प्रतीहार शासन की दक्षता से अरब अत्यधिक प्रभावित हुए थे। मस्-उदी लिखता है, 'भारत में अन्य कोई देश डाकुओं से अधिक सुरक्षित नहीं है।'

३. सर्वोपजीवकं लोकस्थितिकृन्नीति शास्त्रकम्।
धर्मार्थकाममूलं हि स्मृतं मोक्षप्रदं यतः॥ १–५

४. धर्मार्थकामफलाय राज्याय: नमः।

५. याज्ञ० पर विश्वरूप की टीका, १–११९, मनु० ७–२ से उद्धृत। मनु० पर मेधातिथि की टीका, ४–८४। राजशब्दश्चायं क्षत्रियजातावक्षत्रियेऽपि जनपदेश्वरे दृष्टप्रयोगो ···।

६. मनु पर मेधातिथि, ७; कात्यायन से उद्धरण।

विधि तथा विधिसंस्थाओं के क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण कार्य हुए। यद्यपि नूतन स्मृतियों की रचना के विचार से विधिसृजन का युग समाप्त हो चुका था, पर युग की निर्माणकारी समीक्षा अभी भी मौलिक तथा रचनात्मक थी। इसी युग में मेधातिथि और याज्ञवल्क्य जैसे महान् निबंधकार हुए और न्यायविज्ञान एवं न्यायप्रणाली के विकास के लिये महत्त्वपूर्ण प्रयास किए गए।

## सामाजिक

सामाजिक जीवन की दिशा में भी निर्माणकारी तथा सुधारक वृत्तियाँ क्रियाशील थीं। सामाजिक चिंतकों तथा समाजविधायकों के समक्ष मुख्य समस्या विदेशी और भिन्नधर्मी तत्त्वों को हिंदू समाज के साँचे में ढालने की थी। विदेशी तत्त्वों का निर्माण उन हूणों तथा अन्य समान जातियों से निर्मित था जो पश्चिमोत्तर द्वार से कुछ शतियों पूर्व भारत में आए। भिन्न धर्मी तत्त्व, बौद्ध, जैन आदि जैसा नास्तिक वर्ग भारतीय उद्गम का ही था। इस युग का सामाजिक गठन परंपरागत वर्णाश्रम व्यवस्था पर आधारित होने से स्वत्वसंपन्न और निर्माणकारी था। समाजव्यवस्थापकों ने यह अनुभव किया कि जीवन के पुराने ढंग को पुनर्जीवित करना तथा सजीव रखना असंभव था। इसलिये आत्मविश्वास और आत्मचेतना की पुनः प्राप्ति के निमित्त पुरातन का आदर करते हुए, उन्होंने प्राचीन प्रमाणों की उदार व्याख्या करके सामाजिक व्यवस्था को और लचकदार तथा संयोजनशील बनाया। सिंधु के कट्टर तथा मूर्तिभंजक अरबों के अतिरिक्त सभी विदेशी हिंदू समाज में आत्मसात हो गए। उन्होंने हिंदू समाज-व्यवस्था, धर्म तथा भाषाएँ स्वीकार कर लीं। हमारे समक्ष काठियावाड़ से प्राप्त प्रमाण है जिसके अनुसार शक कवि कपिल ने तद्देशीय सैंधवों के लिये एक पत्रक प्रांजल संस्कृत में लिखा था। इस युग के अभिलेख प्रमाणित करते हैं कि हूणकन्याएँ ब्राह्मण-क्षत्रिय परिवारों में ब्याही गई थीं। इसका उल्लेख हो चुका है कि आत्मसात करने की यह नीति अरबों के संबंध में संभव न थी। उनके संबंध में प्रतिरोध और विलगाव की नीति बरती गई। उनके द्वारा पीड़ित और अपहृत लोगों को हिंदू समाज ने पुनः स्वागत के साथ ग्रहण कर लिया। ऐसे पुनर्ग्रहण की व्यवस्था तत्कालीन देवलस्मृति में मिलती है।[७] पीड़ित और बलात् धर्मभ्रष्ट लोगों की शुद्धि की यह परंपरा भारत में मुस्लिम शक्ति के जमने तक चलती रही—तबतक जब पुनर्धर्मपरिवर्तन मुस्लिम राज्य के प्रतिकूल तथा प्राणदंड के योग्य अपराध ठहराकर बंद कर दिया गया। जो विदेशी तथा विधर्मी पूर्णतया आत्मसात् नहीं हो सके; विभिन्न नए समूहों के अंतर्गत हिंदू समाज के भीतर उनकी अनेक जातियाँ-उपजातियाँ बना दी गईं।

## धार्मिक तथा दार्शनिक

इस ऐतिहासिक क्रम में अखिल भारतीय स्तर पर धर्म और दर्शन की दिशाओं में अभूतपूर्व उन्नति हुई। औपनिषदिक दर्शन पर आधारित वैदिक धर्म तथा ब्राह्मणों का कर्मकांड दोनों ही बौद्ध, जैन तथा अन्य नास्तिक वर्गों के समानांतर चल रहे थे। दोनों में आपसी खंडनमंडन, सूझबूझ, निकट संपर्क और अंततः पारस्परिक मिलाप का क्रम भी चल रहा था। भारतीय इतिहास के गुप्तकाल में दोनों के समन्वय का प्रयास हुआ। यह प्रयास सर्वथा स्पष्ट तथा क्रमबद्ध नहीं था। दो महान् व्यक्तित्व कुमारिल और शंकराचार्य इस युग में ऐसे हुए जिन्होंने इस प्रयास को शक्ति, क्रम तथा दर्शन प्रदान किए। कुमारिल मीमांसा और कर्मकांड

७. भगवन्म्लेच्छनीता हि कथं शुद्धिमवाप्नुयुः। आदि १–२, ७, १२, १७।

का प्रबल समर्थक तथा अवैदिक धर्मों का कट्टर विरोधी था। वह 'वेदानुगमन' के उच्च स्वर का समर्थक था—वह उच्च स्वर जिसका घोष आत्मरक्षण, आत्मशुद्धि तथा विदेशी शत्रुओं के विध्वंस पर पुनर्निर्माण के लिये हिंदू अनेक बार कर चुके थे।

यह तत्काल अनुभव किया गया कि परिवर्तित परिस्थितियों में रहते हुए प्राणियों के लिये केवल प्राचीनता, तर्कप्रणाली, कर्मकांड के परिवर्तित रूपों एवं रूढ़िसंरक्षण में अब कोई आकर्षण नहीं रह गया था। उन्हें एक जीवनदर्शन की आवश्यकता थी जो बौद्धिक धारा की सुदीर्घ विकास-परंपरा का सिंहावलोकन करने के साथ नूतन विचारसरणि की दिशा में एक समन्वयात्मक दृष्टिकोण दे सके। तत्कालीन युग के इस प्रश्न के समाधान के लिये शंकराचार्य मंच पर अवतरित हुए। उन्होंने वेदों का संमान किया परंतु कर्मकांड की चरम उपयोगिता का खंडन भी। उन्होंने औपनिषदिक दर्शन तथा बौद्धों के माध्यमिक दर्शन का सुंदर समन्वय करके अद्वैत वेदांत की स्थापना की। उनके नेतृत्व में हिंदू धर्म ने सरलता से बौद्ध धर्म को आत्मसात ही नहीं कर लिया अपितु उसने हिंदू धर्म को एक ऐसा 'दर्शन' दिया जिसने इसलाम और खीष्टीय थपेड़ों के समय उसके इतिहास के परिवर्तनकाल में सहायता की।

शंकराचार्य के द्वारा चलाए इस दार्शनिक पुनर्जागरण के पूर्व और बाद में भी विष्णु, शिव और शक्तिपरक अनेक भक्तिआंदोलन प्रचलित हुए। इन आंदोलनों ने शंकराचार्य के नूतन दर्शन को भक्तिपरक आवरण प्रदान किया। शंकर सुधारक और महान संगठनकर्ता थे। एक ओर उन्होंने इन भक्तिमार्गियों की मूढ़ताओं का शोधन किया और दूसरी ओर अपने नए दर्शन और धर्म के प्रचारार्थ सारे देश में पीठों और मठों का संगठन किया।

### साहित्यिक

इस युग के महत्त्वपूर्ण साहित्यिक सृजन भी उसी पुनर्निर्माण और सुधार की भावना से ओतप्रोत हैं। पहले हम इस युग के नाटकों को ही देखें जो दृश्यकाव्य होने के नाते अन्य प्रकार की साहित्यिक कृतियों की अपेक्षा अधिकांश में लोक की समस्याओं और भावनाओं का प्रतिनिधित्व करते हैं। यह युग प्रायः महावीरचरित और उत्तर रामचरित के कर्ता भवभूति जैसे महाकवि से आरंभ होता है। दोनों कृतियों में ही राम के चरित्र और सफलताओं का वर्णन है। विशाखदत्त का मुद्राराक्षस मौर्यसाम्राज्य की स्थापना और आशंकाओं के विरुद्ध संघर्षों का चित्रण करता है। भीम का प्रतिभाचाणक्य ( ९ वीं शती ई० ) मुद्राराक्षस पर आधारित है। मुरारि का अनर्घराघव ( ९ वीं शती का आरंभ ), शक्तिभद्र का विक्रांतकौरव, राजशेखर के बालरामायण और बालभारत ( प्रायः ९ वीं शती ) आदि सभी रचनाएँ अधिकांशतः महत्त्वपूर्ण राजनीतिक घटनाओं का चित्रण करती हैं। भारतीय इतिहास के प्रायः सभी राजनीतिक उत्थान और निर्माण रामराज्य के आदर्श अथवा शिव के संहारतत्त्व से अनुप्राणित हैं और यही इस युग के नाटकों के मूल विषय हैं।

काव्यों में राजानक रत्नाकर के हरविजय की विषयवस्तु शिव द्वारा अंधक राक्षस का विनाश है। अभिनंद का रामचरित ( ९ वीं शती ), वासुदेव का युधिष्ठिरविजय, धनंजय का राघवपांडवीय, पद्मगुप्त ( परिमल ) का नवसाहसांकचरित आदि राजनीतिक उत्थान और पुनर्निर्माण का उतना ही संकेत देते हैं जितना कि इस युग के नाटक। नाटक और काव्य दोनों ही केवल राजनीतिक महत्त्व के नहीं हैं वरन् विशुद्ध साहित्य की दिशा में भी रचनात्मक क्षमता प्रमाणित करते हैं। काव्यशास्त्र और अलंकारशास्त्र पर उत्कृष्ट ग्रंथ इस युग में लिखे गए। ब्राह्मण, बौद्ध तथा जैन ग्रंथकारों के उत्कृष्ट ग्रंथों के कारण दर्शन की अपूर्व श्रीवृद्धि हुई। वैशा-

निक तथा शिल्पसाहित्य यथा, व्याकरण, कोश, औषधिविज्ञान, गणित, ज्योतिष आदि के क्षेत्र में भी यह युग उर्वर था।

## मुस्लिम आक्रमण के निकटपूर्व का भारत

पुनर्निर्माण तथा पुनर्संस्थापन के उच्चतम प्रयासों के होते भी यह सुनिश्चित तथ्य है कि इस युग के उत्तरार्द्ध के सांध्यकाल में भारतीय राज्य एक एक कर पश्चिमोत्तर से आए तुर्क और अफगानों के समक्ष धराशायी होते गए। चौदहवीं शती के प्रथम चरण तक भारत इन मुस्लिम आक्रामकों के सामने पट हो गया और सबसे बड़ी विचित्रता इस क्रम की यह है कि एक बार पट होने पर चिरकाल तक फिर वह अपनी खोई स्वतंत्रता को पुनः प्राप्त करने के लिये उठ न सका। अनेक बार पहले भी विदेशी—ईरानी, ग्रीक, पार्थियन, शिथियन, कुषाण और हूण, भारत पर आक्रमण कर चुके थे। परंतु हर बार उसने शीघ्र ही विदेशी जुआ उतार फेंका था। हर बार उसने अपनी शक्ति पुनः प्राप्त कर ली; विदेशियों को बाहर खदेड़कर, परास्त या पराभूत कर अथवा क्रमिक भारतीकरण और आत्मीकरण के द्वारा। ये लक्षण और कार्य थे एक सजीव-सक्रिय संगठन के—एक जाति के, एक राष्ट्र के। मुस्लिम आक्रमण के ठीक पूर्व भारत की अवस्था स्वाभाविक नहीं थी। स्पष्टतः यह रुग्णावस्था थी। मुसलमानों के हाथ हिंदुओं की पराजय कोई आकस्मिक घटना नहीं थी; अपितु यह चरम परिणाम था जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में लगी सुदीर्घ व्याधि और ह्रास का, जिसने भारत को विदेशी आक्रमणों के विरुद्ध सफल प्रतिरोध के लिये अक्षम बना दिया था और शीघ्र अपनी शक्ति की पुनः प्राप्ति के लिये भी। इस रुग्णावस्था का अध्ययन सैद्धांतिक तथा व्यावहारिक, दोनों दृष्टियों से उपयोगी होगा। यहाँ संक्षेप में हम इसका प्रयास करेंगे।

### राजनीतिक

राजनीतिक जीवन में क्रमशः मानसिक जीर्णता आ गई। प्राचीन भारत की चतुर्थ शती ई० पू० तक राजनीतिक शरीर में निरंतर राजतंत्रीय तथा प्रजातंत्रीय तत्वों का प्राधान्य रहा जिसने लोक में राजनीतिक चेतना को जीवित रखा। राज्य की राजनीति में उनकी अभिरुचि थी और विदेशी आक्रामकों के विरुद्ध वे आंदोलित हो सकते थे; भले ही उनकी सफलताओं में भिन्नता रही परंतु देश पर विदेशी अधीनता उन्हें स्वीकार्य न थी। पाँचवीं शती ई० पू० से १० वीं शती ई० तक भारत ने एक ठोस राजतंत्र का विकास देखा जो विगत शताब्दियों के प्रजातांत्रिक तत्त्व, परंपरागत निषेधों और संतुलनों से सर्वथा मुक्त था। परिणाम यह हुआ कि जनता का संपर्क राजनीति से टूट गया, राजनीतिक प्रश्नों के प्रति वह उदासीन हो गई; और इतनी निष्क्रिय तथा आत्मसमर्पक कि वह किसी भी राजवंश या व्यक्ति को शासक मान लेती। देशभक्ति और राष्ट्रभक्ति का स्थान हर शासक के साथ बदलती हुई चाटुकारिता और राजभक्ति ने ले लिया। जब विदेशियों ने भारत पर अधिकार जमाया तो प्रजा ने अपने को उनके शासन के अनुकूल बना लिया। बारहवीं शती के उपरांत सुदीर्घ काल तक विदेशी सत्ता को सहनकर लेने का यही गहरा और वास्तविक कारण है।

मध्यकालीन यूरोपीय राज्यों की भाँति भारतीय राज्यों में भी, केंद्र को सामंतों से प्राप्य सामयिक सैन्य सहायता पर आधारित, सामंतवादी तत्वों का विकास हो गया था। जनता की भक्ति स्थानीय सामंतों में परिनिष्ठित हो गई और केंद्र के प्रति उनकी निष्ठा और संबंध घटते घटते समाप्त हो गए। राजनीतिक दृष्टिकोण एकदेशीय हो गया, केंद्रीय शासन के राजनीतिक हानिलाभ या सैनिक क्षतियों से अब कोई आघात या स्पंदन उनमें नहीं होता।

विकेंद्रीकरण की वृत्तियाँ अतीत में भी आवर्तित होती रहीं, परंतु एक अखिल भारतीय राजतंत्र का आदर्श देश के अधिकांश भागों को एकता में बाँधता रहा। यह आदर्श विभिन्न परिमाणों में प्रतीहार और राष्ट्रकूट साम्राज्यों तक सक्रिय रहा। आगे चलकर भारत राजनीतिक दृष्टि से सहयोग तथा संगठन से शून्य अनेक खंडों में विभाजित हो गया। उत्तर और दक्षिण के बीच एक करारा विभाजन वातापी के चालुक्य पुलकेशिन द्वितीय और कान्यकुब्ज के पुष्यभूति हर्षवर्धन के समय में ही हो गया। इसके उपरांत यह खाईं बढ़ती ही गई। एक सर्वतंत्र सत्ता के अधीन अखंड भारतवर्ष का आदर्श समाप्त हो गया। पुष्यभूति, प्रतीहार, राष्ट्रकूट और चोल, देश की राजनीतिक एकता के विफल प्रयास करते रहे। सातवीं से बारहवीं शती पर्यंत जब तक भारत, ग़जनी के महमूद के छिटफुट आक्रमणों के अतिरिक्त, विदेशी आक्रमणों से मुक्त रहा, ये आंतरिक विभाजन विनाशकारी सिद्ध नहीं हुए। परंतु जब वह शहाबुद्दीन गोरी के संगठित राजनीतिक आक्रमणों का लक्ष्य बना तो, भारतीय नरेशों और सैनिकों की व्यक्तिगत वीरता के बावजूद, प्रायः सभी भारतीय राज्य विदेशी सेनाओं के सामने झुक गए। भारतीय इतिहास की यह अमिट छाप है कि जब भी भारत एक सुदृढ़ केंद्रीय सत्ता के अधीन रहा वह विदेशी आक्रमणों का सफल प्रतिरोध कर सका; जब परस्पर विनाशकारी टुकड़ों में विभाजित रहा तभी निश्चित रूप से उसे विदेशियों के सामने घुटने टेकने पड़े।

इस युग के राजनीतिक जीवन का दूसरा अस्वाभाविक लक्षण राजनीति के प्रति संकीर्ण-आत्मश्लाघा की भावना का उदय था। एक ओर तो भारत अंतरतः अनेक परिसीमित खंडों में विभाजित होता जा रहा था और दूसरी ओर बाहर आक्रामक सेनाएँ मंडरा रही थीं। पश्चिमी एशिया में अरबों की और मध्य एशिया में तुर्कों की असहिष्णु नूतन शक्तियों का उदय हुआ था और वे भारत, एशिया, यूरप एवं अफ्रिका के देशों में कठोर बल झोंक रहे थे। भारत पश्चिमी ( अरब ) सागर का आधिपत्य अरबों के सामने खो बैठा। पश्चिम की ओर उनकी प्रगति प्रखर बाधाओं के कारण अंततोगत्वा अवरुद्ध हो गई। पूर्व में शैलेंद्र साम्राज्य का उदय इस ओर एक दूसरा मध्यस्थ रक्षात्मक तत्त्व था। अरबों और तुर्कों के समान शैलेंद्र भारत के प्रति उतने असहिष्णु तो नहीं थे, परंतु दक्षिणी-पूर्वी एशिया तथा पूर्वी एशिया के देशों और भारत के बीच सीधे संपर्क में तब तक बाधक रहे जब तक कि वे स्वयं धर्मपरिवर्तक अरबों के हाथ समाप्त न हो गए। जहाँ तक सैनिक आक्रमण-जनित संपर्क का संबंध है भारत इससे १०२४–११९३ ईसवी तक प्रायः मुक्त रहा। इस अवस्था के दो दुष्परिणाम हुए। प्रथम, भारत वाह्य संसार के ज्ञान से वंचित हो, बाहरी संसार में घटने वाले परिवर्तनों और राजनीतिक उथल पुथल से अज्ञात रह गया। दूसरे, उसमें अपनी शक्ति और ज्ञान के संबंध में मिथ्या आत्मश्लाघा का विकास हुआ। प्रसिद्ध अरबी विद्वान् अलबेरुनी ने अपने सूक्ष्म अनुभव तथा भारत-पर्यटन-वृत्तांत में इसका संकेत किया है, "हिंदू समझते हैं कि उनके देश के समान दूसरा देश नहीं, उनके समान कोई जाति नहीं, उनके समान कोई राजा नहीं, उनके समान कोई धर्म नहीं, उनके समान कोई विज्ञान नहीं।" यदि वे पर्यटन करते और दूसरी जातियों से मिलते तो शीघ्र ही उनकी धारणा बदल जाती। वह आगे लिखता है,—"क्योंकि वर्तमान पीढ़ी के समान उनके पूर्वज इतने संकीर्ण विचार के न थे। समुचित आत्मसंतुलन के अभाव की यह भावना चरम सीमा पर पहुँच गई जब वे यहाँ तक मानने लगे कि उनका देश अभेद्य, उनके मंदिर अस्पृश्य और उनके देवता सर्वशक्तिमान हैं। इस भावना ने उनके मनबुद्धि को विदेशी आक्रमण तथा जीवन के अन्य आघातों के प्रतिरोध के लिये सन्नद्ध रहने में अक्षम बना दिया।

इस युग में राज्यों की सैन्यशक्ति का भी ह्रास हुआ। प्रतीहारों के काल तक भारतीय राज्यों, विशेषतः चक्रवर्तित्व की आकांक्षा करनेवाले राज्यों के पास विशाल सुशिक्षित और अनुशासित स्थायी सेनाएँ थीं। उत्तर भारत के नरेश हयपति ( अश्वसेना के स्वामी ), पूर्वी भारत के गजपति ( गजसेना के स्वामी ), दक्षिण के नरपति ( भूसेना के स्वामी ) और कतिपय शक्तिशाली सम्राट त्रयाधिपति के नाम से अभिहित होते थे। परंतु राज्यों का सामंती रूप हो जाने के कारण सैन्यशक्ति क्रमशः अस्थायीसेना होती गई और केंद्र थोड़ी स्थायी सेना रखकर सामंतों की सैन्यसहायता पर निर्भर रहने लगे। कभी कभी विदेशी आक्रमण के समय इन सामंती सेनाओं का विशाल समूह तो एकत्र हो जाता परंतु वह किसी अनुशासित तथा दक्ष सेनापति द्वारा संचालित स्थायी सेना के सामने टिक न पाता। इस संगठित सेना को एक नेता के, समान अनुशासन में भी नहीं रखा जाता था। प्रायः एक सर्वमान्य नेता के चुनाव को लेकर भी झगड़े हो जाया करते थे और कभी कभी तो ये मतभेद इतने गहरे हो उठते कि संगठित दलों की सेनाएँ लड़ती ही न थीं और जब सामंती सेनाएँ संगठित हो भी जातीं तो भी वे अनुशासित और सुगठित सेना की तुलना में नहीं ठहरती थीं। पंजाब के शाहियों और अजमेर-दिल्ली के चाहुमानों की विशाल रणवाहिनियाँ ग़ज़नी के महमूद और शहाबुद्दीन गोरी के सामने तितर-बितर हो गईं। इसी दृश्य की पुनरावृत्ति उस समय हुई जब तुर्क और अफ़ग़ान उत्तर, पूर्व, दकन और दक्षिण पर चढ़ दौड़े। सेना का सबसे फुर्तीला और उपयोगी अंग अश्व-सेना इस युग में दुर्बल हो गया। बहुत बड़ी संख्या में भारत में घोड़ों का आयात अरब और फारस से होता था। जब अरबों की सैनिक-राजनीतिक शक्ति प्रबल हो गई, उन्होंने फारस और संपूर्ण पश्चिमी एशिया पर अधिकार कर लिया तो घोड़ों का स्वतंत्र व्यापार बंद हो गया। फलतः भारत में घोड़ों का आयात बहुत कम हो गया। भारतीय अश्वसेना असंख्य होने पर भी मुस्लिम अश्वसेना की तुलना में कुछ न थी और मुस्लिम अश्वसेना के प्रबल आघातों के सामने बिखर गई। दक्ष नेतृत्व का अभाव भारतीय वाहिनी की दूसरी मौलिक दुर्बलता थी। भारतीय सैन्यसंचालक शूरवीर थे परंतु सैनिक सफलता के लिये अपेक्षित कूटनीति, दूरदर्शिता तथा अटूट धैर्य का उनमें अभाव था। पृथ्वीराज संभवतः अपवाद था। परंतु अतिशय साहसी वीर होने पर भी वह समुचित धैर्यवान तथा सतर्क नहीं था। तदुपरांत भारतीय सेना की निष्ठा राजा में थी, देश या राष्ट्र के प्रति नहीं, और जहाँ राजा पराजित या हत हुआ वह, नए नेता के नेतृत्व में प्रतिरोध किए बिना ही, ताश के घरौंदे के समान बिखर गई। इन परिस्थितियों में यह कोई आश्चर्य की बात नहीं कि अपेक्षाकृत थोड़ी ही अरब और तुर्क सेनाएँ भारतीय सेनाओं के विरुद्ध सफल हो गईं।

### सामाजिक

भारतीय समाज के आंतरिक कोमल तंतुओं को, राजनीतिक और सैनिक क्षेत्रों की अपेक्षा, एक और गहरी व्याधि अधिक दुर्बल बना रही थी। वर्णव्यवस्था की प्राचीन परिकल्पना भारतीय सामाजिक संगठन की आधारशिला थी जिसने असंख्य प्रागैति-हासिक कालीन जाति, वंश और समूहों को एक सूत्र में बाँधकर भारतीय समाज को एकता और उद्देश्य प्रदान किया। भारतीय समाज के इतिहास में जाति और वर्ण का स्थायी महत्त्व रहा है और प्रत्येक समाजसुधारक सामाजिक अस्तव्यस्तता के समय इसे पुनर्जीवित तथा पुनर्गठित करने के प्रयास करता रहा है। हमारे इस आलोच्य युग में इस जातिव्यवस्था ने पृथकत्व

का उग्रतम रूप धारण किया। देश के अनेक छोटे टुकड़ों में विभक्त हो जाने तथा बहुसंख्यक पृथक स्थानीय राज्यों के कारण सामाजिक भावना स्थानीय एवं पृथकतावादी हो गई। समाजशरीर में राजनीतिक विभिन्नता उभर गई। जातियों की बहुसंख्यकता तथा विभाजन-विस्तार समाज का साधारण रूप हो गया। निःसंदेह अभी भी हिंदू समाज में हर देशी विदेशी समूह के लिये स्थान था, परंतु उसका समग्र ढाँचा समूहात्मक था संगठनात्मक नहीं—प्रत्येक समूह दूसरे से पृथक। इस क्रम ने समाज को विशृंखलित कर दिया—परस्पर पृथक और उदासीन वर्गों में। ब्राह्मण दस स्थानीय वर्गों में बँट गए—पंचगौड और पचद्रविड; क्षत्रिय वंशों एवं कुलों में उतर गए; वैश्य तथा शूद्र असंख्य उपजातियों में बिखर गए। हिंदूसमाज की एकता वास्तविकता के बदले औपचारिकता मात्र रह गई। इनका विनाशकारी परिणाम देश की राजनीतिक तथा सैनिक शक्ति पर पड़ा। ऐसा विभाजित समाज संगठित विदेशी आक्रमण और आघात के समय प्रबल प्रतिरोध खड़ा करने में असमर्थ था। जब तुर्कों ने भारत पर अधिकार जमा लिया तो हिंदू समाज और भी कठोर और पृथकतावादी हो गया।

### धार्मिक

भारत के धार्मिक जीवन में भी वे ही पृथकतावादी तत्त्व क्रियाशील थे। ऐसा लगता है कि जीवन के हर क्षेत्र में पृथक होने, दूर होने और छितरा जाने की होड़ लगी थी। प्राचीन काल के धर्म में सर्वस्पर्शी कल्पना थी। यह अनेक संप्रदायों में विभाजित हुई। प्रत्येक धर्मसंप्रदाय अनेक मत-मतांतरों में विभक्त हुआ। अंततः यह विभाजनसंख्या बढ़ कर आश्चर्यजनक हो गई। जो धर्म मूलतः एकत्रित और संगठित करनेवाली शक्ति था वही अब विभाजित करने का साधन बन गया। एक नए अस्वाभाविक लक्षण का उदय और भी बुरा हुआ। यह था भक्तिमार्ग के अतिरेक में किसी विशेष देवता के प्रति व्यक्ति का संपूर्ण आत्मसमर्पण। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से इसका अर्थ था व्यक्तिगत चेतना का ब्रह्मचेतना में अंतर्भाव परंतु इसका परिणाम एक प्रकार के अस्वाभाविक ह्रासात्मक दृष्टिकोण के रूप में हुआ और इससे मनोदौर्बल्य, आत्मसमर्पण, आध्यात्मिक सत्ता के प्रति निष्ठा का उदय हुआ, संज्ञा इसे चाहे जो भी दें। एकदेशीय विनय, दया, मैत्री, प्रेम आदि गुणों को अतिशय प्रोत्साहन दिया गया। निःसंदेह साधारणतया ये गुण मानव जीवन के आंतरिक तत्त्व हैं। परंतु चारित्रिक क्षोभ, क्रोध, प्रतिरोध, बलिदान आदि के लिये अपेक्षित भावना तथा मानसिक संघर्ष का दमन करके इन गुणों का विकास समाज को कोमल और दुर्बल ही बनाता है। इसी प्रकार बौद्ध, जैन और वैष्णवों द्वारा अहिंसावाद के अतिरेक ने जनता के मन और प्राण में शस्त्रप्रयोग और युद्ध के विरुद्ध गहरा विराग भर दिया। अहिंसा की मिथ्या भावना के कारण ८ वीं शती में पश्चिमी भारत ने अरबों के समक्ष शस्त्रसमर्पण कर दिया और वही १३ वीं शती के आरंभ में पूर्वी भारत ने तुर्कों के समक्ष किया।

विभिन्न विकृत प्रकार के धार्मिक पंथ उठ खड़े हुए। शंकराचार्य और रामानुजाचार्य के जिस उच्च प्रभाव ने कुछ समय के लिये हिंदू धर्म को सुधारा और सहारा दिया उसका प्रभाव इस युग के अंत तक बहुत कुछ समाप्त हो गया। वाममार्ग तथा तांत्रिक क्रियाओं ने शिर उठाया और धर्म ने रूढ़, तर्कशून्य और अश्लीलतामूलक ह्रासात्मक रूप धारण किया। बौद्ध, जो कभी मूलतः सुधारवादी और अरूढ़िवादी थे वे भी भावना से वाममार्गी होकर रूढ़िवादिता और गंदगी में ब्राह्मणपंथों से भी आगे बढ़ गए। बौद्ध गुह्य समाज की तो एक सीमा थी। तथागत गुह्यक में बुद्ध तक को भ्रष्टतावेष्टित दरसाया गया है। इन पंथों के धर्माचार में सब कुछ ग्राह्य था। मत्स्य, मांस, मदिरा और नारी की इनमें प्रमुखता थी; नररक्त एवं नरमांस

तक का व्यवहार होता था। बड़े बड़े बौद्ध और ब्राह्मण मठमंदिरों में निठल्ले आ जमे और वे भ्रष्टाचार के अड्डों में परिणत हो गए। देवालय-वेश्या-वृत्ति वैध संस्था बन गई। क्षेमेंद्र के समय-मातृका और दामोदर गुप्त के कुट्टिनीमतम् में ऐसे समाज का चित्रण है जो सामाजिक शोभा और चारित्रिक स्वच्छता को भूल चुका था।

## साहित्यिक और बौद्धिक

बौद्धिकता की दिशा में हिंदू ह्रासकाल से गुजर रहे थे। हिंदुओं की रचनात्मक प्रतिभा बहुत पीछे छूट गई थी। उनका विश्वास था कि प्राचीन ऋषियुग बीत चुका था और कुछ नया सोचना और रचना उनके बूते के बाहर था। अब तो उनका काम सोचना-समझना, भाष्य करना, निबंधसंकलन मात्र रह गया था। यही कारण है कि इस युग के अपार साहित्य का अधिकांश भाष्य, निबंध और संकलनों से भरा पड़ा है। इस युग के बड़े बड़े आचार्यों में अपने मौलिक मतों को व्यक्त करने का साहस नहीं है और उन्होंने उन्हें भाष्यों और टीकाओं के रूप में ही व्यक्त किया है। राज्यशास्त्र पर कोई मौलिक ग्रंथ नहीं रचा गया। धर्मशास्त्रसाहित्य में निबंधों और भाष्यों की भरमार हैं। इस युग के नैषध जैसे उत्कृष्टतम काव्यों में भी छंदों और अलंकारों का संग्रह मात्र हैं। नाटकों का अस्तित्व प्रायः नहीं रहा। बहुत थोड़े वैज्ञानिक और लाक्षणिक ग्रंथ लिखे गए। यह बौद्धिक निर्धनता स्वयं प्रमाण है कि क्यों हिंदू इस युग में विदेशी आक्रमणों के सामने हतप्रभ हो गए, जब कि विगत युगों में वे सरलता से राजनीतिक, सामाजिक और धार्मिक समस्याओं को हल कर सके।

इस युग की कला सामाजिक तथा धार्मिक जीवन में व्याप्त संपूर्ण अस्वस्थता और दमित वासना पर प्रकाश डालती है। इस ऐतिहासिक उपकाल की कलाकृतियों में आमंडनभावना की प्रचुरता और संग्रह उबानेवाली सीमा तक पहुँच गया। सरल सौंदर्य का स्थान विशालता ने ले लिया। साहित्यिक अर्थहीनता की भाँति कलाकृतियों का भी उद्देश्य उलझी हुई लपेट तथा आकृतियों का बाहुल्य हो गया। पाषाणों और वज्रलेपों में सामाजिक चरित्रहीनता तथा कामुक आचारों का निःसंकोच अंकन किया गया है। खजुराहो, भुवनेश्वर, पुरी और कोणार्क की सर्वोत्कृष्ट स्थापत्यकला तक में इस धार्मिक कामातिरेक का लज्जाहीन प्रदर्शन हुआ है।

जीवन का जो कलुषित चित्र ऊपर खींचा गया है उसका यह अभिप्राय कदापि नहीं कि इस युग के भारतीयों की अपेक्षा आक्रामकों की संस्कृति अथवा चरित्र उच्चतर था। अधिकांश बातों में वे (आक्रामक) अपनी शक्ति और ढंगों में अभी आरंभिक अवस्था में थे। उनकी विजयों, और उनके द्वारा प्रदर्शित अमानुषिक बर्बरता तथा विध्वंस के पीछे कोई औचित्य नहीं था। हमारे कथन का यही मात्र अभिप्राय है कि उस युग के हिंदू अपनी ही सभ्यता के भार के नीचे अपनी वह शक्ति खो बैठे थे जो विदेशी आक्रमणों और संघर्षों का प्रतिरोध करने के लिये आवश्यक होती है। उनसे यह भी स्पष्ट होता है कि विदेशी आक्रमणों के आगे अधिक सुदीर्घ काल के लिये वे पट क्यों हो गए—जो इसके पहले इस रूप में कभी नहीं हुआ।

## मर्मस्थल

इस युग के निदानात्मक अध्ययन से न केवल भारतीय समाज के गहरे रोग तथा उसके कारण का ही पता चलता हैं, वरन् ऐसे मर्मस्थलों पर भी प्रकाश पड़ता है जिनके कारण विदेशियों के हाथों उनका संपूर्ण विनाश या अंतर्भाव न हो सका। इस युग की सबसे भयानक

वस्तु इस्लाम का प्रसार था जिसका आलिंगन मध्य एशिया की अधिकांश युद्धप्रिय और रक्त-पिपासु जातियाँ कर चुकी थीं। इस्लामी सेनाओं ने स्पेन से चीन की सीमाओं तक का प्रदेश आक्रांत किया और उन देशों की प्राचीनतर सभ्यताओं को जीवित नहीं रहने दिया। भारत एक मात्र अपवाद था। भारत के समान अन्यत्र कहीं भी इस्लाम को इतना प्रखर और स्थायी प्रतिरोध का सामना नहीं करना पड़ा। भारत राजनीतिक दृष्टि से कभी पूर्णतः नहीं झुका। राजस्थान, आसाम, उड़ीसा और दक्षिण में अनेक छोटे राज्य तुर्कों के भारतीय अधिकार के बाद भी जीवित रहे। उत्तर भारत में भी तुर्कों की नाक के नीचे अनेक छोटे जमींदार निरंतर उनके कष्ट के कारण थे। जब उन्हें उभरने का अवसर मिलता, वे उस परिस्थिति का लाभ उठाते। इस प्रतिरोध तथा विदेशी शक्ति के विरुद्ध स्थायी संघर्ष ने स्वतंत्रता की अंतिम आशा को जीवित रखा, जब कि इस्लाम के अंतर्गत आए अन्य देशों में पुनर्जीवित होने के लिये कुछ बचा ही नहीं था।

हिंदू समाज का वर्गशः गठन दुर्बल था तथा संगठित बढ़ाव को रोकने में असमर्थ था। परंतु उसके वर्जनशील तथा रक्षात्मक वर्ग आक्रांत और अधिकृत होने पर भी जीवित रह गए। संगठित सैनिक तथा राजनीतिक शक्तियों से अभिभूत होने पर यह पृथकतावादी तथा रक्षात्मक विधि ही अपना अस्तित्व बचाने का एक मात्र उपाय था, जिसे हिंदुओं ने इस युग से उत्तराधिकार में पाया। जब तक हिंदू राजनीतिक दृष्टि से बलवान रहे, उन्होंने पुनर्धर्म-परिवर्तन तथा विदेशियों द्वारा अपहृत एवं भ्रष्ट लोगों को पुनः अपनाने की नीति बरती। परंतु राजनीतिक शक्ति के ह्रास तथा भारत में तुर्कों के क्रमिक प्रसार के साथ उन्होंने सदा के लिये 'गतं गतः' की नीति ग्रहण की। भारत में मुस्लिम शासन तथा इस्लामी विधान की स्थापना के साथ इस्लाम से अन्य धर्मों में धर्मपरिवर्तन मृत्युदंड का अपराध हो गया और हिंदू पुनः धर्मपरिवर्तन तथा पुनर्ग्रहण की नीति न रख सके। परिणामतः, यह प्रथा हो गई कि अन्य धर्मों से कोई हिंदू धर्म में दीक्षित नहीं हो सकता। जो भी हो, भारत पर आक्रमण करनेवाले धर्मपरिवर्तक, कट्टर तथा असहिष्णु धर्म के विरुद्ध यह पृथकता की नीति ही एक मात्र संभव नीति हो सकती थी।

भारतीय समाज की भाँति भारतीय धर्म भी कोई एक संगठित संस्था नहीं था, वरन् वह परस्पर मिलते जुलते सामान्य सिद्धांतों पर आधारित अनेक धर्मों का संघ था जिनकी सामाजिक पृष्ठभूमि एक थी। हिंदू इस्लाम को सर्व-समन्वयात्मक धर्म के एक मत या वर्ग के रूप में भी स्वीकार कर सकते थे यदि इससे विजेता तुर्कों का राजनीतिक लाभ नहीं टकराता। यदि हिंदुओं के कुछ वर्गों या जातियों ने दबाव, लोभ या आग्रहवश इस्लाम को स्वीकार कर भी लिया, तो शेष धार्मिक समुदाय सुरक्षित रहे। कहीं किसी राजा या अन्यत्र किसी पुरोहित के धर्मपरिवर्तन से भारत के समग्र धार्मिक गठन पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा।

प्राचीन सभ्यता और सुदीर्घ परंपरा का आग्रह, विदेशी आक्रामकों के विरुद्ध, दूसरा रक्षक तत्त्व था। अनेक बार यह बहुत भारी पड़ा। परंतु कठिन अवसरों पर हिंदू समाज को अडिग रखने में इसने लंगर का काम किया। जब कभी हिंदुओं से धर्मपरिवर्तन के लिये कहा गया, तो उन्होंने इसके बदले मृत्यु को श्रेयस्कर समझा और असंख्य यातनाएँ सहन कीं। यही कारण है कि उत्तरप्रदेश तथा विहार के ऊपर प्रायः सात सौ वर्षों के शासन के उपरांत भी इसलाम दस-प्रतिशत से अधिक नहीं पनप सका, जब कि वह उत्तरी अफ्रीका, पश्चिमी एशिया और मध्य एशिया को पूर्णतः बहा ले गया।

बारहवीं शती के अंतिम चरण में, मुस्लिम आक्रमण के ठीक पूर्व भारतीय जीवन के रक्षक यही पोषक तत्त्व थे। इसी कारण विदेशी सत्ता के सुदीर्घ और सशक्त दबाव, कठोरतम उत्पीड़न तथा यंत्रणाएँ सहकर भी भारतीय बचे रहे। इस निदान से सुस्पष्ट है कि इन पोषक तत्त्वों में केवल जीवित रखने का महत्त्व था, और ये आक्रामक शक्तियों से सफलता पूर्वक भिड़ नहीं सकते थे, जिसके लिये और सहयोजित तथा संगठित समाज और राज्य की आवश्यकता थी।

मुसलमानी आक्रमणों के समक्ष भारतीय राजनीतिक प्रणालियों का छिन्न भिन्न हो जाना और फिर भी हिंदुओं का अस्तित्व बचा रह जाना बहुत बड़े ऐतिहासिक महत्त्व का दृश्य है। सामाजिक और सांस्कृतिक पृष्ठभूमि में इनका सूक्ष्म अध्ययन और समीक्षात्मक विश्लेषण आवश्यक है। भारतीय इतिहास के घटनात्मक अध्ययन का अपना क्षेत्र और उपयोगिता भी है। परंतु भारतीय इतिहास का अध्ययन अब उस स्तर पर पहुँच गया है कि ऐतिहासकों को जीवन की गहराइयों में उतर कर उनके विस्तार, उनके अभिप्राय और उनके उद्देश्य का चित्रण और व्याख्या करनी चाहिए।

*

# ब्रजभाषा का उद्गम – शौरसेनी अपभ्रंश

## शिवप्रसाद सिंह

ईस्वी सन् की पहली सहस्राब्दी के अंतिम भाग में, जब परिनिष्ठित अपभ्रंश समूचे उत्तर भारत की प्रमुख भाषा के रूप में स्वीकृति पाकर साहित्य का लोकप्रिय माध्यम हो गया था, उन्हीं दिनों उसका मूल और शुद्ध शौरसेनी रूप अपनी जन्मभूमि में विकसित होकर ब्रजभाषा की पूर्वपीठिका प्रस्तुत कर रहा था। १००० ईस्वी के आसपास नव्य भारतीय आर्यभाषाओं के उदय का काल निर्धारित किया जाता है। यह कालनिर्धारण पूर्णतः अनुमानाश्रित है। इस काल को सौ वर्ष आगे पीछे भी खींचा जा सकता है, किंतु ईस्वी सन् की १३ वीं शताब्दि के अंत तक मैथिली, राजस्थानी, अवधी और गुजराती आदि भाषाओं के समारंभ को सूचित करनेवाले साहित्य की उपलब्धि को देखते हुए इनके उदय का काल तीन चार सौ साल और पीछे ले जाना ही पड़ता है। मध्ययुग में अपभ्रंश के प्रचार और उसकी व्यापक मान्यता के पीछे राजपूत सामंतों के प्रति जनसामान्य की श्रद्धा और अभ्यर्थना को भी एक कारण माना जाता है। चूंकि इन सामंतों ने अपभ्रंश को अपने दरबारों की भाषा का स्थान दिया, उनके यश और शौर्य की गाथाएँ और स्तुतियाँ इसी भाषा में छंदोबद्ध की गईं इसलिये मुसलमानी आक्रमण से संत्रस्त और संघटन तथा त्राण की इच्छुक जनता ने इस भाषा को सांस्कृतिक महत्त्व प्रदान किया। "नवीं से बारहवीं शताब्दी के काल में परिनिष्ठित अपभ्रंश, राजपूत राजाओं की प्रतिष्ठा और प्रभाव के कारण, जिनके दरबारों में इसी शौरसेनी की परवर्ती या उसी पर आधृत भाषाएँ व्यवहृत होती थीं, और जिसे चारणों ने समृद्ध और शक्तिसंपन्न बनाया था, पश्चिम में पंजाब और गुजरात से लेकर पूरब में बंगाल तक समूचे आर्य भारत में प्रचलित हो गया।" 'संभवतः यह उस काल की राष्ट्रभाषा मानी जाती थी[1]।' श्री चाटुर्ज्या के उपर्युक्त कथन से यह स्पष्ट है कि राजपूत दरबारों में परिनिष्ठित अपभ्रंश को उसी रूप में मान्यता प्राप्त नहीं थी, बल्कि वे राजभाषा के रूप में शौरसेनी के परवर्ती विकसित रूप का व्यवहार करते थे। यह भाषा निश्चय ही ब्रजभाषा की आरंभिक अवस्था की सूचना देती है। शौरसेनी अपभ्रंश के आधार पर निर्मित परिनिष्ठित अपभ्रंश और इस परवर्ती विकसित भाषा में बहुत अधिक अंतर नहीं था, क्योंकि दोनों की मूल प्रवृत्तियाँ, शौरसेनी या मध्यदेशीय थीं।

इसलिये विकाससूचक इस यत्किंचित अंतर को भी समझने का प्रयत्न नहीं किया गया। श्री चाटुर्ज्या ने अपभ्रंश के अंत का समय तो लगभग दसवीं शताब्दी का अंत ही माना, किंतु ब्रजभाषा का उदयकाल उन्होंने १५वीं शती का उत्तरार्द्ध बताया। इस मान्यता के लिये हम उन्हें दोषी भी नहीं ठहरा सकते क्योंकि तब तक ब्रजभाषा के उदयकाल को और पीछे लाने के पक्ष में कोई ठीक आधार प्राप्त न था। ब्रजभाषा सूर के साथ शुरू होती थी। पृथ्वीराज रासो संवत् १२५० की कृति कहा जाता था, किंतु उसे जाली ग्रंथ बताने वालों की संख्या निरंतर

१. चटर्जी, हे० वें० लै० पृ० ११३।

बढ़ती जा रही थी। यत्र तत्र फुटकर प्राप्त सामग्री को कोई अधिक महत्त्व नहीं दिया जा सकता था।

नव्य भाषाओं के उदय का जो काल निर्धारित किया जाता है, वही ब्रजभाषा के लिये भी लागू होता है। मध्यदेश की भाषा होने में जहाँ एक ओर गौरव और प्रतिष्ठा मिलती है वहीं दूसरी ओर हर नई उदीयमान भाषा को कठिन परीक्षा भी देनी होती है। परिनिष्ठित भाषा के मूलप्रदेश के लोग राष्ट्रभाषा का गौरव संभालने में घरेलू बोली को भूल जाते हों तो कोई आश्चर्य नहीं। क्योंकि उनके लिये परिनिष्ठित या देशभाषा और जनपदीय में कोई खास अंतर नहीं होता। ब्रजभाषा या हिंदी के आरंभ की ऐतिहासिक सूचना हमें निजामुद्दीन के तबकात-ए-अकबरी तथा दो अन्य लेखकों की कृतियों में मिलती है। कालिंजर के हिंदूनरेश ने बिना हौदे और महावत के हाथियों को सरलता से पकड़ने और उन पर सवारी करने वाले तुर्कों की प्रशंसा में कुछ पद्य हिंदी भाषा में लिखे थे जिसे महमूद गजनवी ने अपने दरबार के हिंदू विद्वानों को दिखाया। केम्ब्रिज हिस्ट्री के लेखक के अनुसार महोबा के कवि नंद की कविता ने महमूद को प्रभावित किया था।[२] खुसरो ने मसऊद इब्नसाद के हिंदी दीवान का उल्लेख किया है। यह लेखक महमूद के पौत्र इब्राहिम के दरबार में था, जिसने ११२५–११३० ईस्वी के बीच शासन किया।[३] इन प्रमाणों में संकेतित भाषा को डा० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या शौरसेनी अपभ्रंश ही अनुमानित करते हैं, किंतु हिंदी से अपभ्रंश का अर्थ खींचना उचित नहीं जान पड़ता। शौरसेनी अपभ्रंश से भिन्न भाषा बोलने वाले जनपदों की नव्य भाषाओं के उदय और विकास के अध्ययन के लिये तो तब तक कठिनाई बनी रहती है, जब तक उस जनपदीय अपभ्रंश में लिखी कोई रचना उपलब्ध न हो। परिनिष्ठित अपभ्रंश में लिखने वाले जनपदीय या प्रादेशिक लेखक भी अपनी बोली का कुछ न कुछ प्रभाव तो लाते ही थे, इन प्रभावों के आधार पर भी, उस बोली के स्वरूप का कुछ निर्णय हो सकता है। किंतु यह कठिनाई ब्रजभाषा के लिये तो बिलकुल ही नहीं है, क्योंकि उसकी पूर्वपीठिका के रूप में शौरसेनी अपभ्रंश की सामग्री उपलब्ध है। हम उस सामग्री के आधार पर संक्रांतिकालीन ब्रजभाषा के स्वरूप का अनुमान कर सकते हैं। याकोबी ने कहा था कि अपभ्रंशों का ढाँचा नव्य भाषाओं का था और रूपसंभार आदि प्राकृत का। याकोबी के इस कथन की यथातथ्यता भी प्रमाणित हो सकती है यदि हम शौरसेनी अपभ्रंश के मूल ढाँचे को ब्रजभाषा के व्याकरणिक रूप से संबद्ध करने में सफल हो सकें।

प्रश्न उठता है कि यह शौरसेनी अपभ्रंश क्या है ? दसवीं शताब्दी के आसपास उसका कौन सा रूप कहाँ उपलब्ध होता है। वैयाकरणों ने अपभ्रंशों के प्रसंग में शौरसेनी को एक प्रकार मात्र माना है। किंतु शौरसेनी का निश्चित रूप क्या है, इसमें मतैक्य नहीं है। १९०२ ईस्वी में प्रसिद्ध जर्मन विद्वान् पिशेल ने अपभ्रंश की यत्र तत्र प्राप्त रचनाओं का संकलन करके 'मेतीरियलिन जुर कॅतिस स्प्रेशन्' नामक ग्रंथ का प्रकाशन कराया। उक्त ग्रंथ की भूमिका में उन्होंने इस सुंदर और पुष्ट भाषा की पुष्कल सामग्री के विनाश के लिये शोक व्यक्त किया,

२. कैम्ब्रिज हिस्ट्री आव इंडिया, भाग ३ पृ० २।

३. हेमचंद्रराय, ८ वीं ओरिएंटल कान्फरेंस का विवरण ( मैसूर १९३५ ) 'भारत में हिंदुस्तानी कविता का आरंभ।'

किंतु कौन जानता था कि उनके इस शोक के पीछे छिपी अपभ्रंश के उद्धार की महती सदिच्छा इतनी शीघ्र पूर्ण होगी। आज अपभ्रंश की बहुत बड़ी सामग्री प्रकाश में आ चुकी है। जो कुछ प्रकाश में आई है उसका कई गुना अधिक अब भी विभिन्न ज्ञाताज्ञात भांडारों में दबी पड़ी है। प्रो० हरि दामोदर वेलणकर ने १९४४ में अपभ्रंश ग्रंथों की एक सूची प्रकाशित कराई थी जिसमें ढाई सौ से ऊपर महत्त्वपूर्ण रचनाओं का विवरण उपलब्ध है।[४] अलग अलग भांडारों की सूचियाँ प्रकाशित होती जा रही हैं। इस सामग्री के समुचित विवेचन और पूर्ण विश्लेषण के बाद ही बहुत से उलझे हुए प्रश्नों का समाधान संभव है।

इनमें से प्रकाशित ग्रंथों की संख्या भी कम नहीं है। स्वयंभू, पुष्पदंत, धनपाल, योगींदु और रामसिंह जैसे कवियों की कृतियाँ किसी भी भाषा को गौरव दे सकती हैं। इन लेखकों की भाषा प्रायः परिनिष्ठित अपभ्रंश कही जाती है। किंतु ९ वीं शताब्दी से पहले की कृतियों की भाषा प्राकृत से इतनी आक्रांत और बोझिल है कि इसमें भाषा का सहज प्रवाह नहीं दिखाई पड़ता वैसे इनके भीतर भी हम प्रयत्न करके ब्रजभाषा के विकास के कुछ तत्त्व पा सकते हैं। वस्तुतः ९वीं शती तक की यह अपभ्रंश भाषा अत्यंत कृत्रिम तथा रूढ़ प्रयोगों से दबी हुई है। यह आज की पंडिताऊ हिंदी की तरह अत्यंत पुस्तकीय और प्राकृत का अनावश्यक सहारा लेने के कारण पंगु मालूम होती है। अपभ्रंश का लोकमान्य तथा सहज रूप नवीं-दसवीं शताब्दियों के बाद की रचनाओं में मिलता है। गुलेरी जी ने ठीक ही कहा था कि 'पुरानी अपभ्रंश संस्कृत और प्राकृत से मिलती है और पिछली, पुरानी हिंदी से। विक्रम की ७वीं से ११वीं तक अपभ्रंशों की प्रधानता रही और फिर वह पुरानी हिंदी में परिणत हो गई।'[५] हम गुलेरी जी की तरह बाद की अपभ्रंश को पुरानी हिंदी न भी कहें तो भी इतना तो मानना ही पड़ेगा कि पुरानी हिंदी या ब्रजभाषा के स्वरूप में सहायक भाषिक तत्त्वों के अन्वेषण के लिये यही बाद की अपभ्रंश ही महत्त्वपूर्ण है। इस बाद की अपभ्रंश में भी सबसे ज्यादा महत्त्वपूर्ण कृतियाँ वे हो सकती हैं, जो शौरसेनी अपभ्रंश के निजी क्षेत्र में लिखी गई हों। अभाग्यवश इस तरह की और इस काल की कोई प्रामाणिक कृति, जो मध्यदेश में लिखी गई हो, प्राप्त नहीं होती। मुसलमानों के निरंतर आक्रमण से ध्वस्त मध्यप्रदेश में हस्तलेखों की सुरक्षा का कोई प्रयत्न नहीं हुआ। मध्यदेश की अपभ्रंश भाषा सारे भारत की भाषा बनी, किंतु मध्यदेश में क्या लिखा गया, इसका कुछ भी पता नहीं चलता।

संस्कृत तथा प्राकृत वैयाकरणों ने प्राकृत के साथ साथ अपभ्रंश का उल्लेख किया है रामशर्मन्, मार्कण्डेय, त्रिविक्रम, लक्ष्मीधर आदि वैयाकरणों ने प्राकृत का काफी अच्छा विवरण प्रस्तुत किया है, किंतु अपभ्रंश का जैसा सुंदर और विषद् विवरण हेमचंद्र ने उपस्थित किया, वैसा अन्यत्र उपलब्ध नहीं होता। हेम-व्याकरण के अपभ्रंशभाग की सबसे बड़ी विशेपता नियमों के उदाहरणरूप में उद्धृत अपभ्रंश के दोहे हैं जिनके चयन और संकलन में हेमचंद्र की अद्वितीय काव्यमर्मज्ञता और तत्त्वग्राहिणी प्रतिभा का पता चलता है। 'सीला बीनने वालों की तरह वह (हेमचंद्र) सीला बीनने वाला न था। हेमचंद्र का पहला महत्त्व है कि और वैया-

४. जिन रत्नकोश, खंड १, १९४४ ई०।
५. पुरानी हिंदी, नागरीप्रचारिणी सभा, संवत् २००५, पृ० २९–३०।

करणों की तरह केवल पाणिनि के व्याकरण के लोकउपयोगी अंश को अपने ढचर में बदल कर ही वह संतुष्ट न रहा, पाणिनि के समान पीछा नहीं तो आगा देखकर अपने समय तक की भाषा का व्याकरण बना गया–उसने एक बड़े भारी साहित्य के नमूने जीवित रखे, जो उसके ऐसा न करने से नष्ट हो जाते, वह अपने व्याकरण का पाणिनि और भट्टोजी दीक्षित होने के साथ साथ उसका भट्टि भी है।' हेमव्याकरण में संकलित अपभ्रंश के ये नमूने इस भाषा की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण और प्रमाणभूत सामग्री समझे जाते हैं।

हेमचंद्र के इस अपभ्रंश को विद्वानों ने शौरसेनी अपभ्रंश कहा है। डा० एल० पी० तेस्सीतोरी ने स्पष्ट लिखा है कि शौरसेनी अपभ्रंश के बारे में अब तक हमारी जानकारी मुख्यतः हेमचंद्र प्राकृत ४।३२९–४४६ सूत्रों के उदाहरणों और नियमों पर आधारित है। हेमचंद्र १२वीं शताब्दी ईस्वी (संवत् ११४४–१२२८) में हुए थे और स्पष्ट है कि उन्होंने जिस अपभ्रंश का परिचय दिया है, वह उनसे पहले की है इसलिये इस प्रमाण के आधार पर हम हेमचंद्र वर्णित शौरसेनी अपभ्रंश की पूर्ववर्ती सीमा १०वीं शताब्दी ईस्वी रख सकते हैं[६] तेस्सीतोरी ने हेमचंद्र के व्याकरण के दोहों को शौरसेन अपभ्रंश क्यों मान लिया, इसके बारे में कोई स्पष्ट पता नहीं चलता। संभवतः उन्होंने यह नाम जार्ज ग्रियर्सन के भाषासर्वे में व्यक्त मत के आधार पर ही स्वीकार किया था। डा० ग्रियर्सन ने मध्यदेशीय अपभ्रंश को नागर अपभ्रंश बताया जिसका एक रूप शौरसेनी कहा। उन्होंने यह भी कहा कि इस नागर अपभ्रंश का गौर्जर से घनिष्ठ संबंध है। आगे डा० ग्रियर्सन ने बताया कि हेमचंद्र के व्याकरण का अपभ्रंश 'नागर' था। इस प्रकार मार्कंडेय के नागर-उपनागर और व्राचड वाले विभाजन को आधार मानकर ग्रियर्सन ने भारतीय नव्य भाषाओं का जो समूहीकरण किया वह बिल्कुल आनुमानिक (हायपोथिटिकल) था। यहाँ उनके इसी कथन से मतलब है कि हेमचंद्र की अपभ्रंश नागर थी जो मध्यदेश की भाषा थी।[७] डा० भंडारकर अपभ्रंश भाषा के उद्गम और विकास का क्षेत्र मथुरा के आस पास मानते हैं। उन्होंने स्पष्ट लिखा है कि ६ठीं-७वीं शताब्दी के आसपास अपभ्रंश का जन्म उस प्रदेश में हुआ, जहाँ आजकल ब्रजभाषा बोली जाती है।[८] हेमचंद्र के काल में मध्यदेशीय शौरसेनी अपभ्रंश का सारे उत्तर भारत में आधिपत्य था। श्री क० मा० मुंशी ने लिखा है कि 'एक जमाना था जब शौरसेनी अपभ्रंश गुजरात में भी प्रचलित थी।[९] 'प्रसिद्ध जर्मन भाषाविद् पीशेल हेमचंद्र के व्याकरण के अपभ्रंश दोहों की भाषा को शौरसेनी ही मानते हैं।[१०] इसी प्रकार डा० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या हेमचंद्र के दोहों को पश्चिमी अपभ्रंश (जिसे मूलतः

६. पुरानी राजस्थानी, नागरीप्रचारिणी सभा, पृ० ५।

७. वी मे देयरफोर अज्यूम् दैट नागर अपभ्रंश वाज़ आइदर द सेम ऐज़ और वाज़ क्लोज़ली रिलेटेड टु शौरसेनी अपभ्रंश।–जार्ज ग्रियर्सन आन द माडर्न इंडो आर्यन वर्नाक्युलर्स पृ० ६६३।

८. एबाउट द सिक्स्थ और सेवेंथ सेंचुरी, द अपभ्रंश वाज़ डेवलप्ड इन द कंट्री, इन व्हिच द ब्रजभाषा प्रिवेल्स इन मॉडर्न टाइम्स।–विल्संस फिलोलाजिकल लेक्चर्स पृ० ३०१।

९. के० एम० मुंशी, गुजरात एंड इट्स लिटरेचर, पृ० २०।

१०. डा० भायाणी की पुस्तक 'वाग्व्यापार' का पृष्ठ १४६ द्रष्टव्य।

वे शौरसेनी मानते हैं ) की रचनाएँ स्वीकार करते हैं। 'पश्चिमी अपभ्रंश को एक तरह से ब्रजभाषा और हिंदुस्तानी की उनके पहले की ही पूर्वज कहा जा सकता है। गुजरात के जैन आचार्य हेमचंद्र ( १०८८–११७२ ई० ) द्वारा प्रणीत व्याकरण में उदाहृत पश्चिमी अपभ्रंश के प्रचलित साहित्य के कुछ उदाहरणों से हमें इस बात का पता चलता है कि उक्त काल की भाषा हिंदी के कितनी निकट थी।'[११] एक दूसरे स्थान पर डा० चाटुर्ज्या लिखते हैं– 'मध्ययुग के उत्तर भारत के संत और साधु लोगों की परंपरा जिन्होंने स्थापित की थी, ऐसे राजपूताना, पंजाब और गुजरात के जैन आचार्य लोग तथा पूर्व भारत के बौद्ध सिद्धाचार्य लोग, और बाद में समग्र उत्तर भारत में फैले हुए शैव योगी या नाथ पंथ के आचार्य लोग, बंगाल के सहजिया पंथ के साधक इन सभों के लिये शौरसेनी अपभ्रंश जनता के समक्ष अपने मत और अपनी शिक्षा के प्रसार के वास्ते एक अच्छा साधन बना।'[१२] इस कथन में 'जैन आचार्य' पद से हेमचंद्र की ओर संकेत स्पष्ट है।

एक ओर उपर्युक्त और अन्य भी बहुतेरे विद्वान् हेमचंद्र की अपभ्रंश को शौरसेनी मानते हैं, दूसरी ओर गुजरात के कुछेक विद्वान् इसे 'गुर्जर अपभ्रंश' मानने का आग्रह करते हैं। सर्वप्रथम श्री के० ह० ध्रुव ने दसवीं–ग्यारहवीं शती में गुजरात में लिखे अपभ्रंश के साहित्य की भाषा को प्राचीन गुजराती विकल्प से अपभ्रंश नाम देने का सुझाव रखा। इसी मत को और पल्लवित करते हुए श्री केशवराम काशीराम शास्त्री ने हेमचंद्र के व्याकरण के अपभ्रंश को शुद्ध गौर्जर अपभ्रंश सिद्ध करने का प्रयास किया।[१३] 'आपणा कवियो' के उदोद्‌घात में उन्होंने संकल्प किया कि इस पुस्तक में हेमचंद्र के अपभ्रंश को गौर्जर सिद्ध करके रहेंगे। उनके तर्क इस प्रकार हैं। मार्कण्डेय ने २७ अपभ्रंशों के नाम गिनाए हैं। उनमें एक का संबंध गुजरात से है। भोज के सरस्वतीकंठाभरण में 'अपभ्रंश तुष्यतिस्वेन नान्येन गौर्जराः' की जो हुंकार सुनाई पड़ती है, वह किसी न किसी हेतु से ही, इसमें किसे शंका हो सकती है। महाराष्ट्री और शौरसेन आदि नाम कोई खास महत्त्व नहीं रखते। साहित्यिक या स्टांडर्ड अपभ्रंश में बहुत सी बातें प्रांतीय हैं, कुछ विशेषताएँ व्यापक भी हैं। किंतु प्रांतीय विशेषताओं पर ध्यान देने पर शास्त्री जी के मत से 'एटले आ० हेमचंद्रना अपभ्रंश ने तेनी प्रांतीय लाक्षणिकताये गौर्जर अपभ्रंश कहेवा मां मने बाध जणातो न थी।'' ब्रजभाषा और गुजरात में बहुत निकट का संबंध स्थापित कराने में आभीर और गुर्जर लोगों का 'फैलाव' ( बिखराव के अर्थ में शायद ) भी कारण रहा है। शास्त्री जी के मत से वस्तुतः यदि ब्रजभाषा के विकास के लिये किसी क्षेत्रीय अपभ्रंश का नाम लेना हो, तो उसे 'आभीरी अपभ्रंश' कहना चाहिए। यह आभीर अपभ्रंश मध्यदेश का था ऐसा 'जूना वैयाकरणो' का कहना है। हेमचंद्र की अपभ्रंश को शौरसेनी कहने वालों पर रोष प्रकट करते हुए शास्त्री जी लिखते हैं – 'श्री उपाध्ये शौरसेनी नी छाँट आ० हेमचंद्र ना अपभ्रंश मां जोई छे। डा० जैकोबी, पीशल,

११. आर्यभाषा और हिंदी पृ० १७८–१७९।

१२. राजस्थानी भाषा पृ० ६२–६३।

१३. आपणा कवियो, खंड १, नरसिंह युगनी पहेलां, उपोद्‌घात, पृ० ३६–४० और पृ० ६८–७८।

सर ग्रियर्सन, डा० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या, डा० गुणे वगेरे विद्वानों पण जोई आ० हेमचंद्रना अपभ्रंश ने 'शौरसेनी अपभ्रंश, कहेवा ललचाय छे,' इसके बाद हेमचंद्र की बताई शौरसेनी प्राकृत की आपवादिक विशिष्टताओं का प्रभाव अपभ्रंश में न देखकर शास्त्री जी इसकी शौरसेनी से भिन्नता का निर्णय दे देते हैं।

मुझे शास्त्री जी के तर्कों पर विस्तार से कुछ नहीं कहना है क्योंकि ये तर्क स्वतोव्याघात दोष से पीड़ित हैं। मैं स्वयं शौरसेनी से भिन्न एक अलग गुर्जर अपभ्रंश मानने के पक्ष में हूँ। किंतु उस गुर्जर अपभ्रंश का विकास ईस्वी सन् की दसवीं शताब्दी तक दिखाई नहीं पड़ता। गुजरात के लेखकों की लिखी अपभ्रंश रचनाओं में निश्चित ही पुरानी गुजराती की छाप मिल सकती है। यदि यह रंग गाढ़ा हो, यदि उसमें गुजराती के तत्त्व प्रचुर मात्रा में उपलब्ध हों, तो उसे निश्चित ही गुजराती का पूर्व रूप मानना चाहिए किंतु यह विशिष्टता १२ वीं शताब्दी के बाद की रचनाओं में ही दिखाई पड़ सकती है। पहले की रचनाएँ चाहे गुजरात में लिखी हों चाहे बंगाल में यदि उनमें शौरसेनी की प्रधानता है तो उसे शौरसेनी ही कहा जाएगा, किंतु कोई भी भाषा का विद्यार्थी 'भरतेश्वर बाहुबलिरास' (सं० १२४१) को गौर्जर अपभ्रंश कहे जाने पर आपत्ति न करेगा क्योंकि उसमें गुजराती के पूर्व रूप का घोर प्रभाव दिखाई पड़ता है।

अपभ्रंश भाषा में लिखे समूचे अपभ्रंश साहित्य को जो लोग शौरसेनी या उसपर आधृत परिनिष्ठित अपभ्रंश का बताते हैं, वे भी एक प्रकार के अतिवाद के शिकार हैं। परमात्म-प्रकाश की भूमिका में डा० उपाध्ये ने 'भाषिक तत्त्वों' के आधार पर कहा कि स्वर और विभक्ति संबंधी छोटे मोटे भेदों को भुलाकर भी परमात्मप्रकाश और हेमचंद्र की अपभ्रंश का आधार शौरसेनी का परमात्मप्रकाश में पता भी नहीं चलता। इसके सिवा हेमचंद्र की अपभ्रंश की और भी बहुत सी बातें परमात्मप्रकाश में नहीं पाई जातीं।[१४] 'सोमप्रभ के कुमारपाल प्रतिबोध की अपभ्रंश तथा नेमिनाथ चरित के लेखक हरिचंद्र सूरि की भाषा हेमचंद्र के दोहों की भाषा से बहुत भिन्न मालूम होती है। यह अंतर खास तौर से तृतीया एकवचन, षष्ठी विभक्ति (संबंध के) तथा भूत कृदंत के रूपों में दिखाई पड़ता हैं। उसी प्रकार पुष्पदंत की भाषा भी हेमचंद्र से भिन्न मालूम होती है।'[१५] गुजरात के जैन लेखकों की बहुत सी रचनाओं की भाषा, जिन्हें श्रीमोहनलाल दलीचंद देसाई ने जैन गुर्जर कवियो, भाग १ और २ में संकलित किया है, जिनमें कई ग्यारहवीं शताब्दी की भी हैं, हेमचंद्र की अपभ्रंश से भिन्न मालूम होती है। इसमें पश्चिमी अपभ्रंश का रूप तो है किंतु रंग पुरानी गुजराती का जरूर है। जंबू स्वामी चरित्र (सं० १२१०) रैवंतगिरि दास (१२३०) आदि रचनाओं में गुजराती के भाषिक तत्त्व ढूँढ़े जा सकते हैं। किंतु हेमचंद्र के व्याकरण की अपभ्रंश तो निश्चित ही गौर्जर अपभ्रंश नहीं कही जा सकती। इस प्रसंग में डा० हरिवल्लभ भयाणी का निष्कर्ष अत्यंत निष्पक्ष मालूम होता है, हेमचंद्र गुजरात के जरूर थे किंतु उनके रचे हुए अपभ्रंशव्याकरण से गुर्जर अपभ्रंश का कुछ प्रत्यक्ष 'लेवा देवा' नहीं है। क्योंकि

१४. परमात्मप्रकाश, एस० जे० एस० १६, प्रस्तावना पृ० १०८।
१५. आपणा कवियो ना मूल्यांकन, वाग्व्यापार पृ० ३७७।

उन्होंने प्राचीन प्रणाली और पूर्वाचार्यों के अनुसरण पर बहुमान्य, साहित्यप्रयुक्त अपभ्रंश का व्याकरण लिखा था। बोलचाल की भाषाओं ( क्षेत्रीय ) का सूक्ष्म अध्ययन करके व्याकरण लिखने का चलन बिल्कुल आधुनिक है।[१६]

हेम-व्याकरण के अंतःसाक्ष्य से भी मालूम होता है कि अपभ्रंश का अर्थ यहाँ शौरसेनी से ही है। ३२९ वें सूत्र की वृत्ति में हेमचंद्र ने लिखा है—

'यस्यापभ्रंशे, विशेषो वक्ष्यते तस्यापि क्वचित्प्राकृतवत् शौरसेनीवच्च कार्यं भवति'।

अर्थात् अपभ्रंश में कहीं प्राकृत कहीं शौरसेनी के समान कार्य होता है। एक दूसरे सूत्र की वृत्ति में वे लिखते हैं—

'अपभ्रंशे प्रायः शौरसेनीवत् कार्यं भवति। —८।४।४४६

यहाँ अर्थ और भी स्पष्ट है। पहले सूत्र में प्राकृत का अर्थ लोग महाराष्ट्री प्राकृत लगाते हैं क्योंकि इसे मूल प्राकृत कहा गया है, किंतु महाराष्ट्री अलग प्राकृत नहीं बल्कि शौरसेनी का ही एक विकसित रूप है, और शौरसेनी प्राकृत की अपेक्षा उसके विकसित रूप की हैसियत से यह अपभ्रंश से कहीं ज्यादा निकट है। इसलिये यदि अपभ्रंश में प्राकृत ( यानी महाराष्ट्री = विकसित शौरसेनी ) के नियम अधिक लागू होते हैं तो इसमें आश्चर्य और अनौचित्य क्या है। ईस्वी सन् ४००-५०० के आसपास प्राकृत वैयाकरण वररुचि ने केवल प्राकृत ( शाब्दिक अर्थ प्रकर्षेण = अत्युत्तम बोली ) का उल्लेख किया है जो उसकी शौरसेनी रही होगी, वररुचि के समय में ही यह भाषा ( महाराष्ट्री = शौरसेनी प्राकृत ) अभ्यंतर व्यंजनों के लोप के साथ अपनी द्वितीय म० भा० आ० अवस्था तक पहुँच चुकी थी।[१७] इस प्रकार शौरसेनी प्राकृत और शौरसेनी अपभ्रंश के बीच की कड़ी हेमचंद्र के 'प्राकृत' में दिखाई पड़ती है। अतः अंतःसाक्ष्यों के आधार पर भी हेमचंद्र की अपभ्रंश शौरसेनी ही साबित होती है।

इस प्रसंग में गुजरात और मध्यप्रदेश की सांस्कृतिक एकता तथा संपर्कता पर भी विचार होना चाहिए। केवल हेमचंद्र के अपभ्रंश को शौरसेनी समझने के लिये ही इस 'एकता' पर विचार अनिवार्य नहीं बल्कि ब्रजभाषा के परवर्ती विकास में सहायक और भी बहुत सी सामग्री गुजरात में मिलती है, जिस पर भी इस तरह का स्थानसंबंधी विवाद हो सकता है। इस प्रकार की सामग्री के संरक्षण और सृजन का श्रेय निःसंकोच भाव से गुजरात को देना चाहिए, साथ ही इस समता और एकतासूचक सामग्री के मूल में स्थित सांस्कृतिक संपर्कों

१६. हेमचंद्र गुजरातना हता पण तेमणे रचेला अपभ्रंश व्याकरण ने गुर्जर अपभ्रंश साथे प्रत्यक्ष पणे कशी लेवा देवा न थी। केम के पूर्वाचार्यों अने पूर्वप्रणाली ने अनुसरीने तेमणे बहुमान्य साहित्य प्रयुक्त धोरणसरना अपभ्रंश नुं व्याकरण रचेलुं छे। बोलचाल नी भाषानां सूक्ष्म भेदो नुं अनुकरण करी तेनुं व्याकरण रचवानुं चलण आधुनिक छे।

—वाग्व्यापार, भारतीय विद्याभवन १९५४, पृ० १७०।

१७. भारतीय आर्य भाषा और हिंदी पृ० १७७।

का सर्वेक्षण भी हमारा कर्तव्य हो जाता है। जार्ज ग्रियर्सन ने गुजराती को मध्यदेशी अथवा अंतर्वर्ती समूह की भाषा कहा था। इतना ही नहीं इस समता के पीछे ग्रियर्सन ने कुछ ऐतिहासिक कारण भी ढूँढ़े थे जिनके आधार पर उन्होंने गुजरात को मध्यदेश का उपनिवेश कहा।[१८] डा० धीरेंद्र वर्मा राजस्थान और गुजरात पर गंगा की घाटी की संस्कृति के प्रभाव को दृष्टि में रखकर लिखते हैं 'भौगोलिक दृष्टि से विंध्य के पार पहुँचने के लिये गुजरात का प्रदेश सबसे अधिक सुगम है, इसलिये बहुत प्राचीन काल से यह मध्यदेश का उपनिवेश रहा है।'[१९] इन वक्तव्यों में प्रयुक्त उपनिवेश शब्द का अर्थ वर्तमान प्रचलित उपनिवेश से भिन्न समझना चाहिए। यहाँ सुदूर अतीत में मध्यदेश के लोगों के अपने निवासस्थान छोड़कर गुजरात में जाकर बसने का संकेत मिलता है। महाभारत में कृष्ण का यादव कुल के साथ मथुरा छोड़कर द्वारावती (वर्तमान द्वारिका) में बस जाने का उल्लेख हुआ है।[२०] महाभारत के रचनाकाल को बहुत पीछे न भी मानें तो भी यह प्रमाण ईस्वी सन् के आरंभ का तो कहा ही जा सकता है। ऊपर श्री के० का० शास्त्री द्वारा आभीरों और गुर्जरों के फैलाव को भी निकटतासूचक एक कारण मानने की बात कही जा चुकी है। वस्तुतः आभीरों का दल उत्तर पश्चिम से आकर पहले मध्यदेश में आबाद हुआ, वहाँ से पश्चिम और पूरब की ओर बिखरने लगा। गुजरात में आभीरों का प्रभाव इन मध्यदेशीय आभीरों ने ही स्थापित किया। अपभ्रंश का संबंध आभीरों से बहुत निकट का था, संभवतः ये अनार्य जाति के लोग थे जो संस्कृत नहीं जानते थे, इसलिये उन्होंने मध्यदेश की जनभाषा को सीखा और उसे अपनी भाषा से भी प्रभावित किया। शासन पर अधिकार करने के बाद इनके द्वारा स्वीकृत और मिश्रित यह भाषा अपभ्रंश के नाम से प्रचलित हुई। आभीरों के पहले एक दूसरी विदेशी जाति अर्थात शकों ने उत्तर भारत के एक बहुत बड़े हिस्से पर अधिकार किया था। बाद में ये हिंदू हो गए थे।

महाप्रतापी शकों का शासन भारत के एक बहुत बड़े भाग पर स्थापित था और इतिहासकारों का मत है कि ये दो-तीन शाखाओं में विभक्त थे, जो गुजरात से मध्यदेश तक फैली हुई थीं। मथुरा इन्हीं शाखाओं में एक की राजधानी थी। ईसा पूर्व पहली शताब्दी में मथुरा के प्रसिद्ध क्षत्रप शोडास के राज्यकाल का एक शिलालेख प्राप्त हुआ है जिसमें एक वासुदेवभक्त अपने स्वामी क्षत्रप शोडास के कल्याण के लिये वासुदेव से प्रार्थना करता है।[२१] ईस्वी १८८२ में श्री कनिंघम को मोरा नामक स्थान पर एक लेख मिला था जो दूसरे क्षत्रप राजूलस के काल का बताया जाता है, जिसमें पंचवीरों (कृष्ण, संकर्षण, बलराम, सोम और अनिरुद्ध) की प्रतिमाओं की चर्चा है।[२२] क्षत्रप रुद्रदामन गुजरात का प्रसिद्ध शासक था जो संस्कृत का बहुत बड़ा हिमायती और विद्वान था। इस प्रकार शकों के शासनकाल में मध्यदेश और गुजरात का संबंध बहुत नजदीकी हो गया था।

१८. आन द मॉडर्न इंडो आर्यन वर्नाक्युलर्स, § १२।
१९. ब्रजभाषा, हिंदुस्तानी एकेडमी, इलाहाबाद; १९५४ पृ० ३।
२०. मथुरां संपरित्यज्य गता द्वारवतीपुरीम् महाभारत २।१३।६५।
२१. श्री रायप्रसाद चंदा मेमायर्स आफ आर्क्योलॉजिकल सर्वे आफ इंडिया, नं० ५। आर्क्योलाजी आव वैष्णव ट्रेडीशन।
२२. मोरा वेल इंस्क्रिप्शन, एपिग्राफिया इंडिका, पृ० १२७।

वासुदेवधर्म के ह्रास के दिनों में मथुरा में जैन धर्म का प्रभाव बढ़ रहा था। सन १८८९–९१ इस्वी में श्री फ्यूहर ने मथुरा के पास कंकाली टीले की खुदाई कराई। फलस्वरूप जैन संस्कृति और मध्यकालीन भारत के इतिहास पर प्रकाश डालने वाली अत्यंत महत्त्व की सामग्री का पता चला। कंकाली टीले की खुदाई[२३] में प्राप्त प्रमाणों के आधार पर विदित होता है कि कुषाण काल से ईस्वी सन् की दसवीं शताब्दी तक मथुरा जैन धर्म का प्रबल केंद्र रहा। जैनतीर्थंकर सुपार्श्व की जन्मभूमि होने के कारण उत्तर भारत के जैनियों के लिये इसका आकर्षण अक्षुण्ण था। यह परंपरा प्रसिद्ध है कि जैनियों की दूसरी धर्मसभा स्कंदिलाचार्य के नेतृत्व में मथुरा में हुई थी जिसमें धार्मिक ग्रंथों को सुव्यवस्थित किया गया। अतः स्पष्ट है कि मथुरा मध्ययुग में जैन धर्म का सर्वश्रेष्ठ पीठस्थल मानी जाती थी। इस प्रकार गुजरात के जैनियों का यहाँ से संबंध एकदम अनुमान की ही चीज़ नहीं है। मथुरा की भाषा और जैनसंस्कृति से सुदूर पूर्व के जैन नरेश खारवेल भी प्रभावित थे।

खारवेल के हाथीगुंफा वाले लेखों की भाषा में मध्यदेशीय प्रभाव देखकर लोगों ने निष्कर्ष निकाला था कि ये लेख खारवेल के जैन गुरुओं की शौरसेनी भाषा में थे, जो मथुरा से आए थे।[२४] उसी तरह मथुरा की जैन संस्कृति का प्रभाव पश्चिम गुजरात तक भी अवश्य ही पहुँचा था। यही नहीं जैन आगामों और परवर्ती रचनाओं में कृष्णकाव्य का अत्यंत प्राचुर्य दिखाई पड़ता है, जिसे मथुरा का भी प्रभाव मानना अनुचित न होगा।[२५] जैनपरंपरा के अनुसार गुजरात के प्रथम चालुक्य राजा कन्नौज से आए।[२६]

इस प्रकार ऊपर के विवरण से स्पष्ट है कि गुजरात और मध्यदेश का अत्यंत घनिष्ठ संबंध रहा है। परवर्ती मध्यकाल में वैष्णव धर्म के उदय के बाद तो यह संबंध और भी दृढ़तर हो गया। इसी कारण गुजरात की प्रारंभिक रचनाओं और शौरसेनी अपभ्रंश में बहुत साम्य है। ब्रजभाषा का प्रभाव भी गुजरात पर कम न पड़ा। वल्लभाचार्य के ज्येष्ठ पुत्र श्री गोपीनाथ का प्रभावक्षेत्र गुजरात ही रहा। विट्ठलनाथ ने भी एकाधिक बार गुजरात की यात्रा की और वैष्णवभक्ति का प्रचार किया। भालण, नरसी, केशवदास आदि कवियों की भाषा पर न केवल ब्रज का प्रभाव है बल्कि इन्होंने तो ब्रजभाषा के कुछ फुटकर पद्य भी लिखे।[२७]

हेमचंद्र के शौरसेनी अपभ्रंश के उदाहरणों की भाषा को हम ब्रजभाषा की पूर्वपीठिका मानते हैं। हेमचंद्र के द्वारा संकलित अपभ्रंश रचनाओं में १४१ पूर्ण दोहा, ४ दोहों के अर्धपाद और बाकी भिन्न भिन्न १७ छंदों में २४ पूर्ण और १० अपूर्ण श्लोक (पद्य) मिलते हैं।

२३. रिपोर्ट आफ आर्क्योलाजिकल सर्वे आफ इंडिया, फॉर कंकाली टीला एक्सकवेशन १८८९–९१।

२४. राजस्थानी भाषा पृ० ४५।

२५. जैन साहित्य में कृष्ण का स्थान के लिये द्रष्टव्य श्री अगरचंद नाहटा का लेख 'जैनागमों में श्रीकृष्ण' विश्वभारती, खंड ३ अंक ४, १९४४ पृ० २२६।

२६. श्री के० का० शास्त्री कृत भालण कवि चरित, भाग १।

२७. वी० स्मिथ, जे० आर० ए० एस०, १९०८, पृ० ७६८।

ये रचनाएँ कहाँ कहाँ से ली गईं, इसका पूरा पता नहीं चलता। हेमव्याकरण के अपभ्रंश-दोहे कहाँ से संकलित किए गए, इनके मूल स्रोत क्या हैं, आदि प्रश्न उठते हैं? अब तक इन दोहों में से सभी का उद्गमस्रोत ज्ञात नहीं हो सका है। इनमें से कुछ दोहे कुमारपाल प्रतिबोध में संकलित मिलते हैं। कुमारपाल प्रतिबोध एक कथाप्रबंध-ग्रंथ है जिसमें भिन्न भिन्न काल की ऐतिहासिक लौकिक और निजंधरी कथाएँ संकलित की गई हैं। कुमारपाल प्रतिबोध[२८] की रचना 'शशिजलधिसूर्य वर्षे' अर्थात् संवत् १२४१ की आषाढ़ सुदि अष्टमी, रविवार को अनहिलवाड़े में श्री सोमप्रभ सूरि ने की। यह ग्रंथ हेमचंद्र के बाद ही का है और इसमें हेमचंद्र संबंधी विवरण ऐतिहासिक दृष्टि से बहुत कुछ यथातथ्य मालूम होते हैं, इसमें सोमप्रभ के कुछ अपभ्रंश दोहे भी हैं जो परवर्ती अपभ्रंश को समझने में सहायक हो सकते हैं। हेमचंद्र के व्याकरण का एक दोहा कवि अद्दहमाण के संदेशरासक के एक दोहे से एकदम मिलता है—

जउ पवसन्ते सहु न गय न मुअ विओएँ तस्सु
लज्जिजउँ संदेसडा दिंतेहिं सुहय स जणस्स

— हेम (४।४१६) ५

जसु पवसंतण पवसिया मुअए विओइ ण जासु
लज्जिजउं संदेसडउ दिन्ती पहिअ पियासु

— (सं० रा० ७२)

संदेसरासक का यह दोहा न केवल रचनाकाल की दृष्टि से भी बल्कि भाषा की दृष्टि से भी स्पष्टतया परवर्ती प्रतीत होता है। यही नहीं किंचित् परिवर्तनों को देखते हुए प्रतीत होता है कि यह दोहा अद्दहमाण ने हेमचंद्र से नहीं किसी दूसरे स्रोत से प्राप्त किया था। संभव है कि यह अद्दहमाण का निर्मित भी हो, किंतु हेमचंद्र के व्याकरण के रचनाकाल को देखते हुए, ऐसी संभावना बहुत उचित नहीं मालूम होती; क्योंकि अद्दहमाण का समय अधिक से अधिक पीछे ले जाने पर भी १२ वीं १३ वीं शतो के पहले नहीं पहुँचता, यदि हेमचंद्र का समसामयिक भी माने तो भी हेमचंद्र ने अद्दहमाण से यह दोहा लिया ऐसा नहीं प्रतीत होता। लगता है कि दोनों ही लेखकों ने यह दोहा लोक में प्रचलित किसी बहुमान्य कवि की कृति से या किसी लोकगीति (फोक सांग) से प्राप्त किया था। इस दोहे पर लोकगीति के स्वर और स्वच्छंद वर्णन की विशिष्ट छाप आज भी सुरक्षित है। हेम-व्याकरण के अन्य दोहों में से एक परमात्मप्रकाश में उपलब्ध होता है और कुछेक की समता सरस्वतीकंठाभरण, प्रबंधचिंतामणि, चतुर्विंशतिप्रबंध आदि में संकलित दोहों से स्थापित की जा सकती है।[२९] हेमचंद्र के कई दोहे अपनी मूल परंपरा में विकसित होते होते कुछ और ही रूप ले चुके हैं, गुलेरी जी ने 'वायसउड्डावंतिए' वाले तथा और कुछेक दोहों के बारे में संतुलनात्मक विवेचन पुरानी हिंदी में उपस्थित किया है।[३०]

२८. कुमारपाल प्रतिबोध, गायकवाड़ सीरीज नं० १४ (४।४३६), सं० मुनि जिनविजय।

२९. मधुसूदन मोदी का लेख 'जूना गुजराती दूहा' बुद्धि प्रकाश (गुजराती) अप्रैल-जून, १९३३ अंक २ में प्रकाशित।

३०. पुरानी हिंदी, पृ० १५–१६।

इन दोहों में एक दोहा 'मुंज भणिता' से युक्त भी मिलता है जो प्रबंधचिंतामणि वाले मुंजभणितायुक्त दोहों की परंपरा में प्रतीत होता है।

> वाहं विछोडवि जाहि तुहुँ हउं तेवइं को दोसु।
> हियट्ठिय जइ नीसरइ जाणउं मुंज सरोस।

व्रजकवि सूरदास के जीवन से संबद्ध ऐसा ही एक दूसरा दोहा भी है, इन दोनों का विचित्र और मनोरंजक साम्य देखते ही बनता है। सूरसंबंधी दोहा यह है —

> बाँह छुड़ाए जात हौ निबल जानिकै मोँहि।
> हिरदै से जब जाहुगे तौ हौं जानौं तोहिं॥

क्या यह साम्य आकस्मिक है? क्या इस दोहे को सूरदास के काल में या किसी ने या सूरदास ने स्वयं हेमव्याकरण के दोहे के आधार पर रूपांतरित किया था। यह पूर्णतः असंभव है, और संभव यही है कि जिस मध्यदेश में यह दोहा निर्मित हुआ, उसी का एक पूर्ववर्ती रूप हेमचंद्र ने अपने व्याकरण में संकलित किया। शौरसेनी अपभ्रंश के उदाहरण के लिये, वही अपनी स्वाभाविक परंपरा और जनमानस में निरंतर विकसित होकर सूर के पास पहुँचा, लौकिक श्रृंगार के स्थान पर भक्ति का पीतांबर डालकर, किंचित् भिन्न अर्थ में।

मालवनरेश मुंज का चरित्र मध्यकाल के शौर्य और श्रृंगार से रंगे सामंती वातावरण में अपनी विचित्र प्रेमभंगी और अति कारुणिक परिणति के कारण अद्वितीय आकर्षण की वस्तु हो गया था। मुंज (वाक्पतिराज द्वितीय, उत्पलराज, अमोघवर्ष, पृथ्वीवल्लभ) १०२५–१०५५ विक्रमी के बीच मालवा का राजा था।[31] विक्रमी = १०५५ के बाद ५६ के बीच कभी उसने कल्याण के सोलंकी राजा तैलप पर चढ़ाई की, पराजित हुआ और कैद होकर शत्रु के हाथों मारा गया। मुंज अप्रतिम विद्यानुरागी, मर्मज्ञ काव्यरसिक, श्रेष्ठ कवि, उत्कट वीर तथा उद्दाम श्रृंगारिक था। उसके आकर्षक व्यक्तित्व और उन्नत स्वाभिमान की गाथाएँ उसकी विचित्र मृत्यु के बाद सारे देश में छा गई होंगी। शत्रुभगिनी मृणालवती के प्रेम में उसने प्राण गँवाए, पर पृथ्वीवल्लभ की आन में फरक नहीं आने दिया। इस प्रकार के जीवंत प्रेमी और वीर की मृत्यु के बाद न जाने कितने कवियों और लेखकों ने उसकी प्रेमगाथा को भाषाबद्ध किया होगा, ये दोहे निःसंदेह उस भाववेगाकुल काव्यसृजन के अवशिष्ट अंश हैं जो मुंजराज की मृत्यु के बाद जनमानस से स्वतः फूट पड़े थे। मध्यदेश में रचित ये ही दोहे प्रबंधचिंतामणि और प्राकृतव्याकरण में संकलित किए गए – इन्हीं दोहों में से एक भाषाप्रवाह में बहता हुआ सूरदास के पास पहुँचा। मेरा तो अनुमान है कि हेमव्याकरण के ६० प्रतिशत दोहे मध्यदेश के अत्यंत लोकप्रिय काव्यों, लोकगीतों, आदि से ही संकलित किए गए। इनके प्रभाव से अद्दहमाण भी मुक्त न रह सका।

३१. मुंज और भोज का कालनिर्णय, डा० गौरीशंकर हीराचंद ओझा का लेख – ओझा निबंध-संग्रह, प्रथम भाग, उदयपुर, पृ० १७४–७८।

मुंज और मृणालवती के प्रेम के दोहे मध्यदेशीय अपभ्रंश के जीते जागते नमूने हैं। कुछ लोग इन्हें मुंज की रचना कहते हैं, यह भी असंभव नहीं है।[32] मुंज के दोहे प्रबंधचिंतामणि[33] और पुरातन प्रबंधसंग्रह[34] के मुंजराजप्रबंध में आते हैं। प्रबंधचिंतामणि में मृणालवती को तैलप की भगिनी 'कारायां तद्भगिन्यासह' और पुरातन प्रबंधसंग्रह में राजा की चेटी कहा गया है (मृणालवती चेटी परिचर्या कृते मुक्ता)। इसीके आधार पर एक नया दोहा भी वहाँ दिया हुआ है।

> वेसा छंडि वड़ाइती जे दासिहिं रचन्ति
> ते नर मुंज नरिंद जिम परिभव घणा सहन्ति

वार्धक्य से चिंतित मृणालवती को सांत्वना देते हुए मुंज ने यहाँ एक और भी दोहा कहा है —

> मुंज भणइ मुणालवइ केसां काइं चुयन्ति
> लद्धउ साउ पयोहरहं वंधण भणीअ रअन्ति

इस प्रकार पुरातन प्रबंधसंग्रह और प्रबंधचिंतामणि के आधार पर मुंज का एक विचित्र प्रकार का व्यक्तित्व सामने आता है जो कवि, प्रेमी, कामुक, वीर, शृंगारिक और सबसे ऊपर मस्त और स्वच्छंद आदमी प्रतीत होता है। उसकी मृत्यु पर कहा हुआ यह श्लोक अत्यंत उपयुक्त है—

> लक्ष्मीर्यास्यति गोविन्दे वीरश्रीर्वीरवेश्मनि
> गते मुंजे यशःपुञ्जे निरालम्बा सरस्वती। — प्र० चि०

मुंज का भतीजा भोजराज भी अपभ्रंश का प्रेमी और संस्कृत का उत्कट विद्वान राजा था। अपने पिता सिन्धुराज की मृत्यु के बाद वि० सं० १०६७ के आसपास गद्दी पर बैठा। भोज भी विक्रमादित्य की तरह निजंधरी कथाओं का नायक हो चुका है। उसकी प्रशंसा के श्लोक में लिखा हुआ है—इस पृथ्वीतल पर कवियों, कामियों, योगियों, दाताओं, शत्रुविजेताओं, साधुओं, धनियों, धनुर्धरों, धर्मधनिकों में कोई भी नृप भोज के समान नहीं है। भोजराज का सरस्वतीकंठाभरण साहित्य का महत्त्वपूर्ण शास्त्रग्रंथ माना जाता है। इसमें कुछ अपभ्रंश की कविताएँ संकलित हैं जो हमारे लिये महत्त्वपूर्ण हैं। हालांकि ये कविताएँ प्राकृत के प्रभाव से अत्यंत जकड़ी हुई हैं, फिर भी उनमें भाषा का ढाँचा देखा जा सकता है। सरस्वतीकंठाभरण के एक श्लोक का मैं जिक्र करना चाहता हूँ जिसमें व्रजभाषा की दो पंक्तियाँ मिलती हैं —

> 'हाँ तो जो ज्जलदेउ' नैव मदनः साक्षादयं भूतले
> तत्किं 'दीसइ सचमा' हतवपुः कामः किल श्रूयते

३२. गुलेरी जी का 'राजा मुंज : हिंदी का कवि', पुरानी हिंदी पृ० ४२–४४।
३३. दोनों पुस्तकें सिंघी जैन ग्रंथमाला में मुनि जिनविजय द्वारा प्रकाशित।
३४. पुरातन प्रबंधसंग्रह पृ० १४।

'ऐ दूए किअलेउ' भूपतिना गौरीविवाहोत्सवे
'ऐसे सच्चु जि वोल्लु' हस्तकटकः किं दर्पणे नेक्ष्यते

( स० कंठाभरण १।१५८ )

इस श्लोक में 'हाँ तो जो ज्जलदेउ', 'दीसइ सचमा', 'ऐ दूए किय लोउ,' 'ऐसें सच्चु जि वोल्लु' आदि वाक्य या वाक्यार्थ तत्कालीन भाषा की सूचना देते हैं । निचले पद का रूप तो आज की भाषा के समान दिखाई पड़ता है । 'ऐसे साचु जु वोलु' यह सूर की भाषा की कोई पंक्ति नहीं प्रतीत होती क्या ? भोज का यह श्लोक तत्कालीन व्रजभाषा की आरंभिक स्थिति की सूचना का प्रवल आधार है । ज्जलदेउ < उज्ज्वलदेव का तथा किअलेउ < कृतलेप का रूप हो सकते हैं । ऐसे साच जु बोलो तो सीधा व्रज प्रयोग प्रतीत होता है ।

आगे हेमव्याकरण के अपभ्रंश दोहों की भाषा में प्रारंभिक व्रजभाषा के उद्गम और विकासचिह्नों का विवेचन प्रस्तुत किया जाता है ।

## ध्वनिविचार

१– हेमअपभ्रंश की प्रायः सभी स्वरध्वनियाँ व्रजभाषा में सुरक्षित हैं । पश्चिमी अपभ्रंश से संबद्ध होने पर भी खड़ी बोली में ह्रस्व एँ और ओँ का प्रयोग समाप्त हो चुका है । किंतु व्रजभाषा में, खास तौर से प्राचीन व्रजभाषा में ये ध्वनियाँ पूर्णतः विद्यमान हैं । अपभ्रंश में कंतहोँ, जुज्झंत होँ, देन्हतोँ ( ४।३७५ ) तहेँ ( ३८२ ) एँह ( ४।४२५ ) केँरए (४।४२२) आदि में ह्रस्व एँ और ओँ के प्रयोग हुए हैं । इसी प्रकार व्रजभाषा में प्रायः छंदानुरोध के कारण ह्रस्व एँ और ओँ के प्रयोग दिखाई पड़ते हैं । मेरिओँ पीर ( घनानंद ) अवधेस कैँ द्वारेँ सकारेँ गई ( तुलसी ) । अपभ्रंश में ऋ के अ, आ, ए, ई और ओ रूपांतर होते थे, जो व्रजभाषा में भी दिखाई पड़ते हैं । तृणु, सकृदु ( हेम० ८।४।३२९ ) आदि शब्दों में जिस तरह अपभ्रंश ने इसके मूल रूप को सुरक्षित रखा है, उसी प्रकार व्रजभाषा में भी वहुत से शब्दों में ऋ के प्रयोग मिलते हैं जो प्रायः भक्तिआंदोलन और ब्राह्मण धर्म के पुनरुत्थान के जमाने में संस्कृत शब्दों की प्रयोगवहुलता के कारण सुरक्षित रहे, किंतु व्रजभाषा में इनका उच्चारण 'रि' या 'इर' की तरह होता था ( व्रजभाषा § ८८ ) । अपभ्रंश में प्राकृतपरंपरा से स्वरों की विवृत्ति की सुरक्षा हुई है, किंतु व्रजभाषा में अउ या अइ का 'ओ,' 'औ या 'ए,' 'ऐ' हो जाता है । यह प्रवृत्ति कुछ अंशों में हेमव्याकरण के प्राकृतांश में भी दिखाई पड़ती है, यद्यपि अत्यंत न्यूनांश में । ऐ ( ८।१।१६९ < आयि ) आओ ( आयो = व्रज, ८।१।२६८ < आगतः ) किंतु हेमव्याकरण के अपभ्रंश भाग में यह प्रवृत्ति नहीं दिखाई पड़ती । फिर भी लोण < (४।४४८ लउण < लवण) तथा सोएवा ( ८।४।४३८ < संउ < स्वयं ) तौ < ( ४।३७९ < तउ < ततः ) । आश्चर्य तो यह देखकर होता है कि प्राकृत वाले हिस्से में जिन शब्दों में स्वरविवृत्ति को हटाने का प्रयत्न हुआ है, उन्हींको वाद में सुरक्षित दिखाया गया है, इसे लिपिकार की प्रवीणता कहें या नियम की प्रतिकूलता । चौदह ( ८।१।१७१ < चतुर्दश ) चौद्दसी ( ८।१।१७१ < चतुर्दशी ) चोव्वारो ( ८।१।१७७ < चतुर्वारः ) यही चतुर्दश शब्द मुंज के दोहे में 'चउदहसइ' दिखाई पड़ता है । जो भी हो अपभ्रंश की यह अइ-अउ वाली प्रवृत्ति ही व्रज में ऐ और औ के रूप में दिखाई पड़ती है ।

२– व्यंजन की दृष्टि से व्रजभाषा में लुंठित सघोष 'ल्ह' सघोष अनुनासिक म्ह, न्ह आदि ध्वनियाँ मौलिक और महत्त्वपूर्ण कही जा सकती हैं। इनका भी आरंभ अपभ्रंश के इन दोहों में दिखाई पड़ता है। उण्हउ(४।२४३ < उष्ण),तुम्हेहिं < ४।३७१ < तुष्मे), अम्हेहि(४। ३७१ < अष्मे) ण्हाहु (४।३६६ < स्नान, = न्हानो, व्रज)। उल्हवइ < (४।४१६ < उल्लसति) इसी तरह मेल्हइ < मेल्लइ (४।४३०) का परवर्ती विकास हो सकता है। 'ल्ल' का उच्चारण संभवतः मौलिक रूप में उतना सुकर न था इसलिये उल्लास < उल्हास, आदि परिवर्तन अवश्यंभावी हो गए। मैथिली के प्राचीन प्रयोगों से तुलनीय। — वर्णरत्नाकर § २२।

३ – व्रजभाषा में व्यंजन द्वित्व को उच्चारणसौकर्य के लिये सरल करके (सिम्प्लीफ़िकेशन) उसके स्थान पर एक व्यंजन और परवर्ती स्वर को दीर्घ कर देने की प्रवृत्ति काफी प्रबल है। उदाहरण के लिये व्रज में जूठो (जुट्ठ < जुष्ट या उच्छिष्ट) ठाकुर < (ठक्कुर अप०) डाढौ (डड्ढा < अप० < दग्ध) तीखो (< तिक्खेइ अप० < तीक्ष्ण) आदि शब्दों में यह क्षतिपूरण, सरलीकरण की प्रवृत्ति दिखाई पड़ती है। अपभ्रंश के इन दोहों में भी यह व्यवस्था शुरू हो गई थी यद्यपि उसका विकास परवर्ती अपभ्रंश में ज्यादा हुआ।

> ऊसासेंहि (४।४३१ < उच्छ्वासे), ओहट्टइ (४।४१६ अंउं < अपभ्रश्यते), दूसासणु (४।३६१ < दुस्सासणु < दुःशासन) नीसरहि (४।४३६ < निस्सरहि < निःसरसि), नीसासु (४।४३० < निस्सास < निःश्वास), सीह (४।४१८ < सिंह), तासु (४।३५८ तस्स < तस्य), जासु (< जस्स < यस्य) कासु, (कस्स < कस्य)।

जैसा कि ऊपर निवेदन किया गया अपभ्रंश में ऐसे नियम बहुप्रचलित नहीं हुए थे। इनका वास्तविक विकास १२ वीं शताब्दी के बाद की आरंभिक व्रजभाषा में दिखाई पड़ता है, वैसे यह भाषाविकास की एक महत्त्वपूर्ण प्रवृत्ति मानी जाती है, किंतु ऐसे रूप प्राकृत में भी कम नहीं मिलते। प्राकृत वाले भाग में भी यह प्रवृत्ति मिलती है, ऊसव (८।२।२२ < उत्सव) ऊससिरो (२।१४५ < उच्छ्वसशील) ऊसारियौ (२।२१ < उत्सारित) कासिवो (१।४३ < कश्यप) दूहियो (१।१३ < दुःखितः)।

४ – हेमचंद्र ने अपभ्रंश में अंत्य स्वर के लोप या ह्रस्वीकरण का जिक्र किया है जैसे रेखा < रेह; धन्या < धण आदि। यह प्रवृत्ति बाद में व्रजभाषा में और भी विकसित हुई। बाम < बामा (बिहारी) बात < वार्ता, प्रिय < प्रिया, बाल < बालिका आदि।

५ – स्वरसंकोच (वावेल कंट्रैक्शन) अंत्याक्षरों में व्यंजनध्वनि के ह्रास या लोप के बाद उपधा स्वर (पेनल्टीमेट) और अंत्य स्वर का संकोच दिखाई पड़ता है। उदाहरणार्थ अंधारइ < (४।४३६ अंधकारे) रन्नु (४।३४१ < अरण्य) पराई (४।३५०, ३६७ < सं० परकीया) नीसावन्नु (४।३४१ < निःसामान्ये) चत्तंकुस (४।३४५ < त्यताङ्कुशः) सलोणी < (४।४२० सलावण्या) तइज्जी < (४।४११ तृतीयाः) दूरुड्डाणें < (४।३३७ दूरोड्डाणेन)। हालांकि इस प्रकार के प्रयोग अभी शुरू ही हुए थे क्योंकि इनके अधिक उदाहरण नहीं मिलते। संदेशरासक

की भाषा में ऐसे बहुत से उदाहरण प्राप्त होते हैं। ब्रजभाषा में यह प्रवृत्ति काफी प्रचलित रही है। हिंदी ब्रज के उदाहरणों के लिये द्रष्टव्य, हिंदी भाषा–उद्गम और विकास §§ ९८–१००।

६ – म् और व के परिवर्तन–मध्यम म् का रूपांतर प्रायः वँ होता है। जैसे कँवलु (४।३९७ < कमलम्) कवँलि (४।३९५ < कमलिनी) भँवइ (४।४०१ < भमइ < भ्रमति) जेँव (४।४०१ < जेम = यथा) तिवँ (४।३७५ < तिम = तथा) नीसाँवन्नु (४।३४१ < निःसामान्य)। ब्रजभाषा में इसके उदाहरण साँवरो < श्यामलु, कुवाँरे या कुँवर < कुमारो, आँवलो < आमलक आदि देखे जा सकते हैं। तुलनीय (ब्रजभाषा§१०६ में बोली के कुछ उदाहरण दिए गए हैं)।

७ – मध्यग व चाहे वह मूल तत्सम शब्द से आया हो या स्वरों की विवृत्ति से उत्पन्न असुविधा को दूर करने के लिये 'व' श्रुति के प्रयोग से आया हो, अपभ्रंश के इन दोहों में 'उ' के रूप में परिवर्तित हो जाता है। उदाहरण के लिये घाउ (४।३४६ घाव < घातः) झुणि (४।४३२ < ध्वनि) ठाउ (४।३५८ < ठावँ < स्थान) पसाउ (४।४३० < पसाव < प्रसाद) सुरउ सुरउ (४।३३२ < सुख < सुरत) मउलिअहिं (४।३९५ < मुवुलअहि < मुकुलंति) पिउ (४।४४२ पिव < प्रियः) हेम० प्राकृत में भी इस प्रकार के रूप मिलते हैं। पाउओ (१।१३१ < प्रावृतम्) पाउरण (१।१७५ < प्रावरणम्) पाउसो (३।५७ < प्रावृट्) राउल (१।२६७ < रावल < राजकुल) विउहो (१।१७७ विवुहो < विबुध)। मध्यग व के ह्रास की यह प्रवृत्ति ब्रजभाषा में भी पाई जाती है। (संदेसरासक स्टडी § ३३)।

८ – अघोष क का सघोष ग में भी परिवर्तन होता है। विगुत्ताइं (४।४२१ < वियुक्ताइ) खयगालि (४।४०१ < क्षयकाले) नायगु (४।४४७ < नायकः) ब्रजभाषा में शकुन < सगुन, शुक < सुग्गा, लोक < लोग; भक्त < भगत; सकल < सिगरे या सगरो, रोग-शोक < रोग सोग आदि रूप मिलते हैं। उसी प्रकार अघोष ट ध्वनि का कई स्थान पर सघोष ड में परिवर्तन होता है। घडावइ (३।३४० < 'घट') चवेड (४।४०६ < देशी चपेट) देसुच्चाडण (४।३३८ < देशोच्चाटन) रडन्तरउ ४।४४५ < रट् दे०) उसी प्रकार ब्रजभाषा का घोडो < घोटक, अखाडा < अक्षवाट, कड़ाही < कटाह आदि रूप भी निष्पन्न होते हैं।

९ – कारकविभक्तियाँ

(१) कारकविभक्तियों को दृष्टि से इन दोहों की भाषा का अध्ययन काफी महत्त्वपूर्ण और परवर्ती भाषाविकास की कतिपय उलझी हुई गुत्थियों को खोलने में सहायक है। अपभ्रंश की सब से महत्त्वपूर्ण विभक्ति 'हि' है जिसका प्रयोग अधिकरण और करण, इन दोनों कारकों में होता था।

क – अंगहि अंगनु मिलिउ ४।३३२ : करण

ख – अद्धा वलय महिहि गउ ४।४२२ : अधिकरण

ग – नवि उज्जाण वणेंहि ४।४२२ : अधिकरण

ब्रजभाषा में 'हिं' विभक्ति का प्रयोग न केवल करण-अधिकरण में बल्कि कर्म और संप्रदान में भी बहुतायत से होता है। परसर्गों के प्रचुर प्रयोग के कारण जहाँ खड़ी बोली में प्राचीन

विभक्तियों के अवशिष्ट चिह्नों का एकदम अभाव दिखाई पड़ता है, वहाँ ब्रजभाषा में परसर्गों के प्रयोग के साथ प्राचीन विभक्तियों के विकसित रूपों का प्रयोग भी सुरक्षित रहा। खड़ी बोली में कर्म-संप्रदान में 'को' 'के लिये', आदि के साथ 'हि' का कोई प्राचीन रूप नहीं मिलता।

ब्रजभाषा में 'हि' के कुछ उदाहरण उपस्थित किये जाते हैं —

क – राधेहि सखी बतावत री (सूर० ३४५८) : कर्म

ख – सूर हमहिं पहुँचाइ मधुपुरी (सूर० ३४७१) : कर्म

ग – राजदीन्हो उग्रसेनहिं (सूर० ३४८५) : कर्म-संप्रदान

घ – लै मधुपुरिहिं सिधारे (सूर० ३५६४) : अधिकरण

ङ – धरयो गिरिवर बाम कर तिहिं (सूर० ३०२७) : करण

न केवल ब्रजभाषा में ये पुरानी विभक्तियाँ सुरक्षित हैं बल्कि इनके प्रयोग की बहुलता दिखाई पड़ती है साथ ही एकाधिक कारकों में इसका स्वच्छंद प्रयोग दिखाई पड़ता है, परवर्ती अपभ्रंश या अवहट्ट में तः इसका प्रयोग अत्यंत स्वच्छंद हो ही गया था; जिसे डा० चाटुर्ज्या के शब्दों में कामचलाऊ सर्वनिष्ठ विभक्ति (ए सार्ट आफ मेड आफ आल वर्क) कह सकते हैं; किंतु इन अपभ्रंश दोहों की भाषा में भी इसके प्रयोगों में ढिलाई दिखाई पड़ती है। ऊपर अधिकरण और करण के उदाहरण दिए गए हैं। चतुर्थी और द्वितीया में इसके प्रयोग के उदाहरण नहीं मिलते, किंतु हेमचंद्र ने चतुर्थी के परसर्गों 'केहि और रेसि' के उदाहरण में चतुर्थी अर्थ में 'हि' का प्रयोग किया है।

तुहुँ पुणु अन्नहिं रेसि ४।४२५ (अन्य के लिये)

इस प्रकार के प्रयोग बाद में कुछ परसर्गों के साथ और कुछ बिना परसर्ग के भी 'हि' विभक्ति द्वारा चतुर्थी का अर्थ व्यक्त करने लगे होंगे।

१० – हेमव्याकरण के अपभ्रंश दोहों की भाषा में एक विशिष्टता यह भी दिखाई पड़ती है कि परसर्गों का प्रयोग मूल शब्दों के साथ नहीं बल्कि सविभक्तिक पदों के साथ सहायक शब्द के रूप में होता है। अर्थात् 'रेसि' परसर्ग चतुर्थी में 'अन्नहिं' यानी सविभक्तिक पद के साथ प्रयुक्त हुआ है। वैसे ही अन्य परसर्ग भी।

क – **जसु केरउ** हुंकारडए (४।४२२) षष्ठी

ख – **जीवहि मज्झे** एहि (४।४०६) सप्तमी

ग – अह भग्गा **अम्हहं तणा** (४।३६१) षष्ठी

घ – **तेहिं तणेण** (४।४२५) (४।३६१) षष्ठी

यहाँ परसर्गों के पहले तसु, जीवहं, अम्हह, तेहिं आदि पूर्ववर्ती पद सविभक्तिक हैं। ब्रजभाषा में निर्विभक्तिक या मूल शब्दों के साथ परसर्गों के प्रयोग बहुत मिलते हैं, किंतु सविभक्तिक पदों के साथ भी इनके प्रयोग कम नहीं हैं।

क – तब हम अब **इनहीं** की दासी (सूर ३५०१)

ख – **हिरदे माँझ** बतायो (सूर ३५१२)

ग – धिक **मौकौं** धिग मेरी करनी ( सूर ३०१३ )

इस प्रकार के सविभक्तिक रूपों के अलावा ब्रजभाषा में विकारी रूपों के साथ परसर्गों के विविध प्रयोग दिखाई पड़ते हैं। इनमें प्रथमा द्वितीया के 'इनि' प्रत्यय नैननि कौं, कुंजनि तैं आदि वाले बहुवचन के रूपों का बाहुल्य दिखाई पड़ता है। यह प्रवृत्ति बाद के अपभ्रंशपिंगल से विकसित होकर ब्रज में पहुँची।

११ – परसर्ग

नव्य आर्य भाषाओं की विश्लिष्टताप्रधान प्रवृत्ति के विकास में परसर्गों का महत्वपूर्ण योग माना जाता है। वैसे परसर्गों का प्रयोग अपभ्रंशकाल में ही पुष्ट हो गया था किंतु मध्य आर्यभाषा के अंत तक इनका प्रयोग कारकों के सहायक शब्दों के रूप में ही होता था बाद में ध्वनिविकार और बलाघात के कारण इनके रूपों में शीघ्रगामी परिवर्तन उपस्थित हुए और ये टूटफूट कर द्योतक शब्दमात्र रह गए और आज तो इनकी अवस्था इतनी बदल गई है कि इनके मूल का पता लगाना भी केवल अनुमान का विषय रह गया है। हेम० व्याकरण के अपभ्रंश दोहों में प्रयुक्त परसर्गों में से अधिकांश किसी न किसी रूप में ब्रजभाषा में सुरक्षित हैं, यह अवश्य है कि इस विकासक्रम में इनके रूपों में अद्भुत विकास या विकार दिखाई पड़ता है, नीचे दोनों के तुलनात्मक उदाहरण उपस्थित किए जाते हैं —

( १ ) जसु केरउ हुँकारडएँ ( ४।४२२ )

( २ ) तुम्हहं केरउ धड़ ( ४।३७३ )

( ३ ) जहे केरउ, तहे केरउ ( ४।३५६ )

यह केरउ, जिसकी उत्पत्ति संस्कृत कार्य < कज्ज < कौ, केरउ आदि मानी जाती है, को, का, के, की के रूप में ब्रजभाषा में वर्तमान है।

( १ ) वह सुख कहाँ **का कै** साथ ( सूर ३४१७ )

( २ ) हंस काग **कौ** संग भयो ( सूर ३४१८ )

( ३ ) मधुकर राखि जोग की बात ( सूर ३८६३ )

( ४ ) कहा बुद्धि उन **केर** ( सूर ३५२८ )

अधिकरण के परसर्गों में हेमचंद्र ने मज्झे के प्रयोग बताए हैं। मज्झे के ही रूपांतर माँहि, यह या माझ होते हैं। यह मज्झे मध्य का विकसित रूप है। इन दोहों में मज्झ के तीन प्रयोग मज्झहे ( ४।३५० ) मज्झे ( ४।४०६ ) और मज्झे ( ४।४४० ) हुए हैं। ब्रजभाषा के उदाहरण नीचे दिए जाते हैं —

( १ ) सबै रहीं जल **माँझ** उघारी ( सूर ३१७९ )

( २ ) हिरदै **माँझ** बतायौ ( सूर ३५१२ )

( ३ ) ज्यों जल **माँहि** तेल की गागर ( सूर )

इसी का परवर्ती विकास 'में' के रूप में भी दिखाई पड़ता है। अधिकरण में एक दूसरे परसर्ग 'उप्परि' का भी प्रयोग हुआ है।

सायरि उप्परि तृण धरेइ ४।३३४।

इस उपरि के ऊपर, पर, पै आदि रूप विकसित हुए जिनके प्रयोग ब्रजभाषा में प्राप्त होते हैं।

मदन ललित वदन **उपर** वारि डारे ( सूर कोश )

पुनि जहाज **पै** आवै ( १६८ )

आपुनि पौढ़ अधर सेज्या **पर** ( १२७३ )

संप्रदान के परसर्ग केहि का कहै, कौं आदि रूप भी ब्रजभाषा में प्रयुक्त हुए हैं किंतु सबसे महत्त्वपूर्ण विकास तणा या तणेण परसर्ग का है जो ब्रजभाषा में तें या त्यो के रूप में दिखाई पड़ता है। हेम व्याकरण में ये कुल आठ बार प्रयुक्त हुए हैं।

( १ ) तेहि तणेण ( ४।४२५ करण )

( २ ) अह भग्गा अम्हहँ तणा ( ४।२७९ संबंध )

( ३ ) वड्डत्तण हो तणेण ( ४।४३७ संप्रदान )

अपभ्रंश में यह परसर्ग करण, संप्रदान और संबंध इन तीन कारकों में प्रयुक्त होता था, इसी का परवर्ती विकास तणेण < तनें, < तैं के रूप में हुआ। ब्रजभाषा में तैं और त्यौं के प्रयोग नीचे दिये जाते हैं। ब्रज में इसका अपादान में भी प्रयोग होता है।

( १ ) लच्छा गृह **तैं** काढि कै ( अपादान )

( २ ) तुव सराप **तैं** मरिहैं ( करण )

( ३ ) भीर के परै **तैं** धीर सबहिन तजी ( करण )

तण का 'तन' प्रयोग ओर के अर्थ में भी चलता है। हम **तन** नहीं पेखत ( २४८४ ) हमारी ओर नहीं देखते (

अपभ्रंश के कारण का सहुं परसर्ग बाद में सउँ > सौं के रूप में ब्रज में प्रयुक्त हुआ।

( १ ) मइ **सहुं** नवि तिल तार ४।३५६

( २ ) जइ पवसंतें **सहुं** न गय ४।३१९

यहाँ सहुँ का अर्थ मूलतः सह या साथ ही है, उसका तृतीया का 'से' अर्थ बोध तब तक प्रस्फुटित नहीं हुआ था, बाद में इसने साथ-सूचक का कर्तृत्व-सूचक रूप ले लिया।

( १ ) का **सौं** कहैं पुकारी ( सूर ३६८७ )

( २ ) हरि **सौं** मेरो मन अट्क्यो ( सूर ३५८५ )

( ३ ) अब हरि कौने **सौं** रति जोरी ( सूर ३३६१ )

१२ – हेम व्याकरण अपभ्रंश के सर्वनामों में न केवल ऐसे रूप हैं जो ब्रजभाषा के सर्वनामों के निर्माण में सहायक हुए बल्कि कई ऐसे प्रयोग हैं जिन्होंने ब्रजभाषा में विचित्र प्रकार साधित सर्वनाम रूपों को जन्म दिया। ब्रज में सर्वनाम जिस, तिस, किस प्रकार के नहीं बल्कि जा, ता, का प्रकार के साधित रूपों से बनते हैं। नीचे अपभ्रंश और ब्रजभाषा के सर्वनामिक रूपों के उदाहरण प्रस्तुत किए जाते हैं।

पुरुषवाचक सर्वनाम के उत्तम पुरुष के हउँ और मइ के दो रूप हेमव्याकरण में प्राप्त होते हैं। हउँ के १३ प्रयोग और मइँ के १५ प्रयोग हुए हैं। यानी दोनों प्रकार के रूप बराबर बराबर के अनुपात में मिलते हैं, यही परिस्थिति लगभग ब्रजभाषा में भी है।

**हउं** झिज्जउं तउ केंहि पिय ( ४।४२० )

ढोला **मइ** तुहं वारियो ( ४।२३० )

**हौं** प्रभु जनभजनय की चेरी ( ४७६ )

**हौं** वलि जाउं छबीले लाल की ( ७२३ )

**मैं** जानति हौं ठीक कन्हाई ( २०४२ )

हेमव्याकरण की भाषा के अम्हे ( ४।३७६ ) अम्हेंहि ( ४।३७१ ) आदि रूपों से ब्रज का 'हम' रूप विकसित हो सकता है। अम्हेहि की तरह ब्रज का विभक्तिसंयुक्त रूप हमहिं दिखाई पड़ता है।

ब्रजभाषा के मो और मोहिं रूप इन दोहों में प्राप्त नहीं होते किंतु प्राकृतांश में अस्मद् के मो रूपांतर का वर्णन मिलता है। 'अस्मदो जसा सह एते वडादेशा भवंति। अम्ह, अम्हे, अम्हो, मो, वयं, भो भणामो ( हेम ३।१०६ ) ब्रज में मो और मोह दोनों के उदाहरण मिलते हैं। मो विकारी साधित रूप कहा जा सकता है जिसमें परसर्गों का, मो को, मोसौं, मो पै आदि में प्रयोग हुआ है।

( १ ) **मो** सौं कहा दुरावति प्यारी ( ३२८७ सूर )

( २ ) **मो** पर ग्वालिनी कहा रिसाति ( १६५१ )

( ३ ) **मो** अनाथ के नाथ हरी ( २४६ )

( ४ ) **मो तैं** यह अपराध पर्‌यो ( २७१६ )

( ५ ) **मोंहि** रहत जुवती सब चोर ( १०१६ )

मध्यपुरुष के तुहुँ ( < तुष्म ( ४।३३० ) तइं ( ४।३७० ); तुम ( ४।३८८ ) तउ ( ४।३५० ), तुज्झ ( ४।३६७ ) आदि रूप मिलते हैं। इनमें तुहुँ < तइं < तै, तुम, तू तो < तउ, तुझ आदि आदि का ब्रजभाषा में ज्यों का त्यों प्रयोग होता है।

( १ ) तब तैं गोविंद क्यों न संभारे ( ३३४ )

( २ ) तब **तू** मारवोइ करत ( ३७५६ )

( ३ ) **तुम** अब हरि को दोष लगावति ( १६६२ )

( ४ ) **तो** सौं कहाँ धुताई करिहौं ( ११५५ )

( ५ ) **तोहि** किन रूठ न सिखई प्यारी ( ३३७० )

मध्यपुरुष के इन सर्वनामों के प्रयोग आश्चर्यजनक रूप से अपभ्रंश दोहों के प्रयुक्त सर्वनामों से मिलते जुलते हैं। अन्यपुरुष के सर्वनामों के संस्कृत सः वाले 'तद्' के रूपों में तं ( ४।३२० ) तेण ( ४।३६५ ) तासु ( ४।४०१ ) सो ( ४।३८४ ) सोइ ( ४।४०१ ) तसु ( ४।३३८ ) तांह (४।३५०) तें अग्गिं ( ४।३४३ ) आदि के प्रयोग हुए हैं। खड़ी बोली में अन्य पुरुष में

के, वह, उसने आदि रूप चलने लगे हैं। ब्रज में भी इनके प्रयोग हुए हैं। किंतु ब्रज में अपभ्रंश के इन प्राचीन रूपों की भी सुरक्षा हुई है।

१ – सोइ भलो जो रामहिं गावै ( २३३ )

२ – सो को जिहि नाहीं सचुपायो ( ४१५४ )

३ – धाइ चक्र लै ताहि उबारयो ( सूर )

४ – अर्जुन गये गृह ताहिं ( सूर० सारा० )

५ – तासौं नेह लगायो ( सूर )

वे, उन, आदि रूपों के लिये भी हम अपभ्रंश का 'ओइ' सर्वनाम देख सकते हैं —

१ – तो वड्डा घर ओइ ( ४।३६४ )

२ – वे देखो आवत दोऊ जन ( ३६५४ सूर० सा० )

३ – वह तो मेरी गाइ न होइ ( २६३३ सूर० सा० )

सर्वनामों की दृष्टि से ब्रजभाषा की सबसे बड़ी विशिष्टता उसके साधित रूप हैं, जिनमें परसर्गों के प्रयोग से कारकों का निर्माण होता हैं, ताकौ, वाकौ, जाकौं, तानै, वानै, आदि रूप। इस प्रकार के रूपों का भी आरंभ अपभ्रंश के इन दोहों की भाषा में दिखाई पड़ता है।

जा वाप्पी की भुइहड़ी ४।३६५

इसी जा में कौ, सौं, तैं आदि के प्रयोग से जाकौ, जातैं, जासौं आदि रूप बनते हैं। जा के अलावा संबंधवाचक 'यद्' के अन्य रूप भी अपभ्रंश से ब्रज में आए। जिनमें जो ( ४।३३० ) जेण ( ४।४१४ ) जास ( ४।३५८ ) जसु ( ४।३७० ) जाहं ( ४।३५३ ) आदि रूप महत्त्वपूर्ण हैं। इनके ब्रज में प्रयोग निम्नप्रकार होते हैं —

१ – घर की नारि बहुत हित जासों ( सूर )

२ – जासु नाम गुन गनत हृदय तें ( सूर )

३ – जा दिन तें गोपाल चले ( ४२६२ )

प्रश्नवाचक सर्वनाम कवण ( ४।३५० ) कवणु ( ४।३६५ ) कवणेण ४।३६७ क्रमशः कौन, कौनो और कवने का रूप लेते हैं। ये सर्वनाम ब्रजभाषा में बहुतायत से प्रयुक्त हुए हैं।

१ – कौन परी मेरे लालहिं वानि ( १८२६ )

२ – कौने बाँध्यो डोरी ( सूर )

३ – कहौ कौन पै कढ़त कनूकी ( सूर )

४ – किन नभ बांध्यो झोरी ( सूर )

१३ – सर्वनामिक – पुरुषवाचक और निजवाचक इन दो प्रकार के सर्वनामों को छोड़कर बाकी सभी प्रकार के सर्वनाम विशेषणवत प्रयुक्त हो सकते हैं। फिर भी इस वाद के दो मुख्य सर्वनामिक विशेषण जाने जाते हैं।

अइसो ( ४।४०३ ईदृशः ), यह प्रकारसूचक सर्वनामिक विशेषण है। दूसरे परिमाण-सूचक एवड्ड ( ४।४०८ इयत ) तथा सत्तुलो ( ४।४०८ ) इयान् हैं। अइस के – ऐसा, ऐसे, ऐसो रूप बनते हैं जबकि एत्तुली से एतो, इती, इतना, आदि।

१ – एतौ हठि अब छांडि मानि री ( सूर ३२११ )

२ – तुम बिनु एती को करै ( ब्रज कवि )

३ – ऊधौ इतनी कहियो जाइ ( सूर ४०५६ )

ऐसो – १ – ऐसौ एक कोद कौ हेत ( सूर ४५३७ )

२ – ऐसेई जन धूत कहावत ( सूर ४१४२ )

३ – ऐसी कृपा करी नहिं काहू ( सूर ११८७ )

१३ – पूर्ण संख्या वाचक लक्खु ( ४।३३२ ) लाखो – ब्रज ) सएण ( ४।३३२ से, ब्रज ) दुहुँ ( ४।४४० दूनो ) दोएणी ( ४।३४० दूनी ) एक्कहिं ( ४।३५७ एकहिं ) पंचहिं ( ४।४२२ पाँचहिं ) चउद्दह ( १।१७१ चौदह ) चउव्वीस ( ३।१३७ चौबीस ) आदि कुछ महत्त्वपूर्ण प्रयोग हैं जो ब्रज में ज्यों के त्यों अपनाए गए।

क्रमसंख्यावाचक–पढ्यो (१।१२५ प्रथम) तइज्जी (४।३३९ तीजी) चउत्थी (१।१७१ चौथी)।

अपूर्ण संख्यावाचक – अद्धा ( ४।३५२ आधो )।

आवृत्तिसंख्या का उदाहरण–चउगुणी ( १।१७६ चौगुनो ) प्राकृतांश में प्राप्त होता है।

**१४ – क्रियापद**

( क ) ब्रजभाषा क्रिया का सबसे महत्वपूर्ण रूप भूतकाल का निष्ठा रूप है जो अपनी ओकारांत विशिष्टता के कारण हिंदी की सभी बोलियों से अलग प्रतीत होता है। चल्यौ, गयौ, कह्यौ आदि रूपों में यह विशिष्टता परिलक्षित होती है। अपभ्रंश के इन दोहों की भाषा में भी भूतकाल के यही रूप प्रयुक्त हुए हैं।

( १ ) ढोला मइं तुहुँ वारियो[३५] ( ४।३३०।१ )
मानत नाहिन वरज्यो ( सूर २३४७ )
**मिल्यो** धाइ **वरज्यो** नहिं मान्यौ ( सूर २२८३ )

( २ ) अंगिहि अंग न **मिलिउ** ( मिल्यो ) ( ४।३३२।२ )

( ३ ) असइहिं हसिउं निसंक ४।३९६।१, हंस्यो निसंक
हियडा पइं एहुं वोल्लिओ ( ४।४२२।११ )
मइं जाणिउं ( ४।४२३।१ )
मैं जान्यौ री आये हैं हरि ( ३८८० )
हउं झिज्झउं तव केहि पिय ( ४।४२५।१ )
अंजलि के जल ज्यों तन **छीज्यौं** ( सूर )

३५. तीन प्रतियों के आधार पर संपादित प्राकृतव्याकरण की दो प्रतियों में वारियो पाठ है एक में वारिया, प्राकृत व्याकरण पृ० ५९५।

स्त्रीलिंग भूत कृदंतज निष्ठा रूपों के प्रयोग में भी काफी समानता है नीचे कुछ विशिष्ट रूप ही दिए जा रहे हैं —

( १ ) सुवन्न देह कसवट्टइ दिण्णी ( ४।३३० )

( २ ) प्रीति कर **दीन्हीं** गले छुरी ( सूर ३१२५ )

( ३ ) हउं रुट्ठी ३।४१४।४ ( रूठी )

( ख ) अपभ्रंश में सामान्य वर्तमान के तिङन्त रूपों का ब्रजभाषा में सीधा विकास दिखाई पड़ता है। वर्तमान खड़ी बोली में सामान्य वर्तमान में कृदंत और सहायक क्रिया के संयोग से संयुक्त क्रिया का निर्माण और प्रयोग होता है, यहाँ खड़ी बोली ने अपभ्रंश की पुरानी परंपरा को छोड़ दिया है। किंतु ब्रज में वह पूर्ववत् सुरक्षित है। केवल अंतिम संप्रयुक्त स्वरों को संयुक्त करके अइ < ऐ या अउ < औ कर दिया जाता है।

( १ ) निच्छइ रुसइ जासु ( ४।३५८ )
निहिचै रुसै जासु

( २ ) तलि घल्लइ रयणाइ ( ४।३३४ )
मातु पितु संकट **घाले** ( सूर ११३१ )

( ३ ) उच्छंगि धरेइ ( **धरै** ) ४।३३६

( ४ ) जो गुण **गोवइ** अप्पणा
लाजनि अखियनि **गोवै** ( सूर ३४५ )

( ५ ) हउँ वलि **किज्जउं** ( ४।३३८ )

( ६ ) हौं वलि **जाउँ** ( सूर ७२३ )

बहुवचन में प्रायः हिं विभक्ति चलती है जो ब्रजभाषा में भी प्राप्त होती है।

मल्ल जुज्झ ससि राहु **करहिं** ( ४।३८२ )

पूरी पंक्ति जैसे ब्रजभाषा की ही है। ब्रज में यही अहिं < अइं होकर ऐं हो जाता है जो चलैं करें आदि में मिलता है।

( ग ) भविष्यत् काल में ब्रजभाषा में गा वाले रूपों की अधिकता दिखाई पड़ती है किंतु 'ह' प्रकार के रूप भी कम नहीं हैं जो ष्यति < स्सइ < हइ < है के रूप में ब्रज में आए अपभ्रंश में हइ वाले रूप प्राप्त होते हैं।

निहए गमिही रत्तडी का मग्मिही < णमिहै होकर ब्रज में प्रयुक्त होता है किंतु अधिकांशतः, जाइहै < गयिहै के रूपांतर जाइहै का प्रयोग होता है। आगे कुछ समतासूचक रूप दिए जाते हैं – होहिइ < ( ४।३८८ होइहै )।

हेमचंद्र ने प्राकृतांश में स्पष्टतः भविष्य के लिये इहि का प्रयोग किया है।

'भविष्यति डज्झिहिइ; डहिहिइ' ( २।४।२४६ )

इस डहिहिइ का रूप डहिहै ब्रज में अत्यंत प्रचलित है। उसी तरह पठिहिइ ( अ १७७ पढ़िहै )

(घ) नव्य आर्यभाषाओं में संयुक्त क्रिया का अपने अलग ढंग का विकास हुआ है। भूत कृदंत असमायिका क्रिया तथा क्रियार्थक क्रियापदों तथा अन्य क्रिया के तिङन्त रूपों की मदद से ये रूप निष्पन्न होते हैं।

पहिय रडन्तउ जाइ (४।४४५)

कुछ कह्यो न जाइ (सूर)

तुम अलि कासों कहत बनाइ (सूर ३६१७)

भूतकालिक से —

भग्गा **घर एन्तु** (४।३५१)

नैना **कह्यो न मानत** (सूर)

**बहे जात** मांगत उतराई (सूर)

पूर्वकालिक से —

१ – वाहूँ **विछोडवि जाहि** तुंह (४।४३५)

२ – वाह **छुड़ाये जात** हौ (व्रज)

तिमिर डिम्भ **खेलन्ति मिलिय** (४।३८२)

(३) चितै चलि ठिठुकि रहत (सूर० २५८५)

क्रियार्थक संज्ञा से —

तिंतुवाणु करंत (४३११)

**खेलन चली** स्यामा (३६०७)

इन धौसनि **रुसनो करति** (२८२६)

(ङ) संयुक्तकाल के रूप अपभ्रंश के इन दोहों में प्राप्त होते हैं जो आगे चलकर हिंदी (खड़ी ब्रज आदि) में बहुत प्रचलित हुए—

भूत कृदंत के साथ भू या अस् के बने रूपों के योग —

१ – करत म अच्छि (हेम ४।३८२)

(मत करता हो)

(२) वाल संघाती जानत है (सूर २३२७)

(३) स्याम संग सुख लूटति हौ (सूर २२१२)

पूर्ण भूत और आसन्न भूत के उदाहरण हेमव्याकरण अपभ्रंश में नहीं मिलते।

१५ – क्रियाविशेषण तो आश्चर्यजनक रूप से एक जैसे प्रतीत होते हैं किंचित् ध्वनि परिवर्तन अवश्य दिखाई पड़ता है।

कालवाचक —

अज्ज ( ४।४१४ अद्य-आज ) एंवहि ( ४।३८६ इदानीम् – अवहिं ) जांव ( ४।३९५ यावत् = जाम, व्रज, सूर ) तो ( ४।४३६ ततः = व्रज तौं ) पच्छि ( ४।३८८ पश्चात् = पाछे ) ताव ४।४४२ तावत् < तौं )।

स्थानवाचक —

कहिं ( ४।४२२ कुत्र = व्रज० कहीं ) कहिं वि ( ४।४२२ कहीं भी ) जहिं ( ४।४२२ यत्र = जहिं व्र० ) तहिं ( ४।३५७ तत्र = तहिं, तहाँ )

रीतिवाचक —

अइसो ( ४।४०३ ईदृशः = व्र० ऐसो ) एउं ( ४।४३८ एतत् = व्र० यौं ) जेवं ( ४।३९७ यथा = ज्यों व्रज ) जिँव ( ४।४३० व्र० जिम ) जिवँ जिवँ ( ४।३४४ जिमि जिमि व्र० ) जि ( ४।२३ व्रज० जु ) तिवँ ( ४।३७६ = व्रज० तिमि ) तिवँ तिवँ ( ४।३४४ तिमि तिमि-व्रज० )।

**शब्दावली**

१६ – अपभ्रंश में प्रायः दो प्रकार के शब्दों की बहुलता है। संस्कृत के तत्सम शब्दों के विकृत यानी तद्भव रूप और दूसरे देशज शब्द। तद्भव शब्दों का प्रयोग प्राकृत की आरंभिक अवस्था से ही बढ़ने लगा था। तद्भव शब्दों में ध्वनिपरिवर्तन तथा अवशिष्ट स्वरों की मात्रा में ह्रासलोपादि के कारण मूल से काफी अंतर दिखाई पड़ता है, ऐसे शब्दों की संख्या काफी बड़ी है। इनका कुछ परिचय ध्वनिविचार के सिलसिले में दिया गया है। किंतु तद्भव शब्दों से देशज शब्दों का कम महत्त्व नहीं है। ये शब्द जनता में प्रयुक्त होते थे और उनके किंचित् परिष्कृत रूप भाषा के गठन और व्याकरणिक ढाँचे के अनुसार कुछ परिवर्तित होकर प्रयोग में आते थे – हेमव्याकरण के दोहों में प्रयुक्त इन शब्दों की संख्या भी कम नहीं है, वैसे हेमचंद्र ने इन शब्दों के महत्त्व को स्वीकार करके अलग देशी नाममाला में इनका संकलन किया। नीचे प्राकृत व्याकरण के कुछ महत्त्वपूर्ण तद्भव और देशज के कुछ उदाहरण दिए जाते हैं। इन शब्दों में से कुछेक की संस्कृत व्युत्पत्ति भी ढूँढ़ी जा सकती है।

| | | | |
|---|---|---|---|
| ओक्खल | १।१७७ | ओखरी | ( सूर० को० १७६ ) |
| कुम्पल | १।२६ | कोंपल और कोंप | ( सूर० को० ९५ ) |
| खाइं | ४।४२४ | खाई | चहुदिसि खाई गहिर गभीर ( प्र० चरित ) |
| खोडि | ४।४१९ | खोरि, त्रुटि | मेरे नयननि ही सब खोरि ( सूर ) |
| गड्डो | २।३५ | गड्ढा | ( सूर० को० ३६८ ) गड्हा, गड्डु, |
| घुग्घिउ | ४।४२३ | घुड़की | घुघुआना, सूर० को० ४५६, दियौ तुरत नौवा कौं घुरकी ( १०।१८० ) |
| चूडल्लउ | ४।३९५ | चूड़ी | ( सू० को० ५२३ ) |
| छइल्ल | ४।४१२ | छैला | छैलनि को संग यों फिरैं ( सूर २।४४ ) |
| छुंच्छ | २।२०४ | छूंछा | छूंछी छाँडि मटकिया दधि की १०।२६० प्रश्न तुम्हारे छूंछे |

| | | | |
|---|---|---|---|
| झुम्पड़ा | ४।४१६ | झोपड़ा | ( सूर० को० ६८ ) |
| डाल | ४।४४५ | डाल, डार | एक डार के से तोरे ( ३०५६ ) |
| ढोल्ला | ४।३३० | दूल्हा | नवरंग दूलह रास रच्यो (कुंभन दास ३८) |
| तिरिच्छी | ४।४१४ | तिरछी | तिरछे ह्वै जु अरे ( सूर ) |
| थू | २।२०० | ( कुत्सायां निपातः | थू थू |
| थूणा | १।१२२ | थूनी | वहु प्रयुक्त |
| नवल्ली | २।१६५ | नवेली | नवेली सुनु नवल पिय नव निकुंज हैं री ( ३०७१ ) |
| नवखी | ४।४२० | नोखी | कैसी बुद्धि रची है नोखी ( सूर० २१६० ) |
| पराई | ४।३५० | परकीया | नारि पराई देखिकै ( सू० सा० २१६५ ) |
| वप्पुडा | ४।३८० | वापुरो | कहा वापुरो कंचन कदली ( कुंभन १६८ ) |
| लट्ठी | १।२४७ | लाठी | लाठी कवहु न छांड़िय ( गिरधरदास ) |
| लोहडी | ४।४२३ | लुगरी | वहु प्रयुक्त लुगरी |
| विहांण | ४।३३० | विहान | विहान, सवेरा |
| सलोणी | ४।४२० | सलोनी | कहाँ तै आई परम सलोनी नारी ( सूर० सा० २१५९ ) |

१७ – हेमचंद्र ने लोकअपभ्रंश में प्रयुक्त होनेवाले देशी शब्दों का एक संग्रह देशीनाम माला[36] में प्रस्तुत किया है। इस शब्द संग्रह में वहुत से ऐसे शब्द हैं जो ब्रजभाषा में प्रयुक्त होते हैं। नीचे उन शब्दों की संक्षिप्त सूची दी गई है। साथ ही इन शब्दों के परवर्ती रूपों का ब्रजभाषा में प्रयोग भी दिखाया गया है —

| | | |
|---|---|---|
| अग्घाणो | १।४१९ | निद्रा अति न अघानौ ( १४६ सूर० सा० ) |
| अगालियं | १।२८ | अंगारी, इक्षुखंड |
| अच्छं | १।४९ | अत्यर्थम्, सारंग पच्छ अच्छ सिर ऊपर ( साहि० ल० १००) |
| अम्मा | १।५ | माँ |
| आइप्पण | १।७८ | ऐपन की सी पूतरी सखियन कियो सिंगार ( सूर० १०१४० ) |
| उक्खली | १।८८ | ऊखल, ओखरी ( ब्रज० सूर कोश ) |
| उग्गाहिअं | १।१३१ | उगाहना – हाट वाट सब हमहिं उगाहत अपणो दान जगात ( सूर १०८७ ) |
| उज्जड़ | १।९६ | ऊजर, ज्यो ऊजर खेरे के देवन को पूजै को मानै ( सूर ३३०६.) |

३६. देशी नाममाला 'द्वितीय संस्करण, सं० श्री वेंकट रामानुज स्वामी, पूना, १९३८।

| | | |
|---|---|---|
| उड्डिदो | १।६८ | ऊड़द |
| उड्डुसो | १।६९ | ऊड़स ( मत्कुण ) |
| उव्वरिज | १।३२ | उबरना, बचना ( अधिकम् ) उवरो सो ढरकायो ( सूर ११२८ ) |
| उव्वाओ | १।१०२ | ( खिन्नः ) ऊबना ( सूर० को० ) |
| ओसारो | १।१४६ | गोवाटः, ( सूर कोश १८३ ) |
| ओहट्टो | १।१६६ | ओहार, परदा ( सू० को० १८३ ) |
| कट्टारी | २।४ | छुरिका ( सूर कोश १६६ ) |
| कतवारो | २।११ | तृणाद्युत्करः, ( सूर कोश २०० ) |
| करिल्लं | २।१० | वंशांकुर, करील की कुंजन ऊपर ( रसखानि ) |
| कल्होड़ी | २।६ | वत्सरी, बछिया ( सूर० को० २२६ ) |
| काहारो | २।२७ | कंहार, पानी लाने वाला |
| कुंडयं | २।६३ | कुंडा, कुंडरा ( सूर० को० २६४ ) |
| कुल्लड़ | २।६३ | कुल्हड़ मिट्टी का पुरवा ( सूर० को० ३७६ ) |
| कोइला | २।४६ | कोयला, (सूर० को० ३००) कोयला भई न राख (कबीर) |
| कोल्हुओ | २।६५ | इक्षुनिपीनयंत्रम्, कोल्हू ( सूर कोश ३०१ ) |
| खणुसा | २।६२ | खिन्न मनस् , न्याय के नहि खुनुस कीजै ( सूर १।१६६ ) |
| गगरी | २।३६ | जलपात्रम्, ज्यौं जल मैं काची गगरि गरी (सूर० १०।१२०) |
| गुत्ती | २।११० | शिरोबन्धनम्, पाटाम्बर गाती सब दिये ( सूर ) |
| गोच्छा | २।६५ | गुच्छा ( सूर० को० ४०० ) |
| गोहुरं | २।६६ | गोहरा ( सूर० को० ४३४ ) |
| घग्घरं | २।१०७ | जघनस्थ वस्त्रभेदः । घघरा मोहन मुसुकि गही दौरत में छूटी तनी छंद रहित घाघरी ( २३६६ ) |
| घट्टो | २।१११ | नदीतीर्थम्, घाट धर्‌यो तुम यहै जानि कै ( सूर ) |
| घम्मोइ | २।१०६ | गुण्डुत्संज्ञतृणम् ( सूर० को० ४४६ ) |
| चंग | ३।१ | चंगा, ठीक, चंगी । रही रीझ वह नारि चंगी (सूर) ६७ |
| चाउला | ३।८ | चावल, ब्रज० चाउर ( सूर० को० ४६६ ) |
| चोट्टी | ३।१ | चोटी, मैया कब बढ़िहै मेरी चोटी ( सूर ) |
| छइल्लो | ३।२४ | छैला, छैलनि के संग यों फिरैं जैसे तनु संग छाई ( सूर० १४४ ) |
| छलियो | ३।२४ | छलिया, जिन चखनि छलियौ बलि राजा (१०।१४१) |
| छासी | ३।२४ | छांछ भये छांछ के दानी ( ३३०२ ) |
| छिण्णलो | ३।२६ | छिनाल, जारः । चोरी रहीं छिनारौ अब भयो ( सूर, ७७३ ) |
| झंखो | ३।५३ | झंख, झँखत यशोदा जननी तीर ( १०।१६१ ) |
| झड़ी | ३।५३ | निरंतरवृष्टिः, ( सूर० को० ६४८ ) ब्रजपर गई नेक न झारि ( ६७३ ) |
| झाड़ | ३।५७ | लतागहनम् ( सूर० को० ६५७ ) |
| झिल्लिरिआ | ३।६२ | झिल्ली ( सूर० को० ६६१ ) |
| झोलिआ | ३।५६ | झोली, बडुआ झोरी देऊ अधारा ( ३२८४ ) |

| | | |
|---|---|---|
| ढल्लो | ४।५ | निर्धनः, बेकार, ऐसी को ढाली वैसी है तो सौं मूड़ चटावै ( ३२८७ ) |
| डोला | ४।११ | शिविका, ( सूर० को० ७२४ ) |
| दोरो | ३।५८ | सूत्रम्, डोरा । तोरि लयौ कटिहू को डोर ( सूर २।३० ) |
| पपीओ | ६।१३ | बहुत दिन जीओ पपीहा प्यारे ( सूर ) |
| फग्गु | ६।८२ | फाग, हरि संग खेलन फागु चली ( सूर० २१८३ ) |
| बप्पो | ६।८८ | बाप, बाबा, बाबा मों को दुहन सिखायो ( सूर १२८५ ) |
| वाउल्लो | ७।५६ | वावरी, वावरी वावरे नैन, वावरी कहाँ धौं अब वासुंरी सौं तू लरै ( सूर १६०८ ) |

१८ – इस प्रसंग में हेमचंद्र के व्याकरण में प्रयुक्त देशी धातुओं का भी विचार होना चाहिए। अपभ्रंश में कुछ अत्यंत महत्त्वपूर्ण देशी क्रियाओं का इस्तेमाल हुआ है, जो व्रजभाषा में भी दिखाई पड़ती हैं, इनमें से कुछ क्रियाएँ तो इतनी रूपांतरित हो चुकी हैं कि उनका ठीक मूल रूप जानना भी कठिन है, कुछ क्रियाओं के हम संस्कृत मूल ढूँढने का प्रयत्न भी करने लगते हैं और प्राचीन भाषा में ठीक ठीक कोई शब्द न पाकर किसी संभावित (हाइपोथेटिकल) रूप की कल्पना भी करने लगते हैं किंतु व्रज में प्रयुक्त बहुत सी देशी क्रियाएँ शौरसेनी अपभ्रंश की रचनाओं में प्राप्त होती हैं, हम इसके आधार पर इन प्रयोगों की प्राचीनता तो देख ही सकते हैं। नीचे हेमव्याकरण में प्रयुक्त कुछ क्रियाओं के प्रयोग और उनके व्रज समानांतर रूप उपस्थित किए जाते हैं।

| | | | |
|---|---|---|---|
| अग्घाड् | ( पूर ) | ३।१६६ | अग्घवइ |
| अच्छ | ( आस्ते ) | ४।४०६ | आछे |
| घल्लइ | ( क्षिपति ) | ४।३३४ | घालनो |
| चडइ | ( आरोहिति ) | ४।४४५ | चढ़नो |
| चुक्कइ | ( भ्रश्यते ) | ४।१७७ | चूकनो |
| छड्डुइ | ( मुंचति ) | ४।४२२ | छांड़नो |
| झंखइ | ( विलपति ) | ४।४२२ | झंखनो |
| झल्लकिअउ | ( संतप्तम् ) | ४।३९६ | झार लगना, जलना |
| तडुफडइ | ( स्पन्दते ) | ४।३६६ | तड़फड़ानो |
| थक्कइ | ( तिष्ठति ) | ४।३७० | थकनो |
| पहुच्चइ | ( प्रभवति ) | ४।३०० | पहुँचनो |
| विरमालइ | ( गुप्यते ) | ४।१९३ | विरमानो |
| विसूरइ | ( खिद्यति ) | ४।४२२ | विसूरनो |

### वाक्यविन्यास

१९ – अपभ्रंश का पदविन्यास प्राचीन और मध्यकालीन दो स्तरों की प्राकृत भाषा से पूर्णतः भिन्न दिखाई पड़ता है। इस काल तक आते आते संश्लिष्टताप्रधान भारतीय आर्य भाषा पुनः प्राचीन वैदिक भाषा की तरह और कई दृष्टियों से उससे भी बढ़कर अश्लिष्ट होने लगी। परसर्गों का प्रयोग, सर्वनामों के अत्यंत विकसित और परिवर्तित रूप, क्रियापदों में संयुक्तकाल और कृदंतज रूपों के बाहुल्य ने इस भाषा को एक दम नवीन रूप-आकार में प्रस्तुत किया। अपभ्रंश ने नए सुबंतों, तिङन्तों की भी दृष्टि की ओर ऐसी दृष्टि की है जिससे वह हिंदी से अभिन्न

हो गई है और संस्कृत-प्राकृत-पाली से अत्यंत भिन्न।[37]

(१) अपभ्रंश में कारक विभक्तियों की स्वच्छंदता का पीछे परिचय दिया जा चुका है, इस काल में निविभक्तिक प्रयोग भी होने लगे। हेमचंद्र ने अपभ्रंश के निर्विभक्तिक प्रयोगों को लक्ष्य नहीं किया क्योंकि परिनिष्ठित या साहित्यिक अपभ्रंश के तात्कालिक ढाँचे में निर्विभक्तिक प्रयोग बहुत नहीं मिलते, बाद की अपभ्रंश में तो इनका अत्यंत आधिक्य दिखाई पड़ता है। ब्रज में निर्विभक्तिक प्रयोग की बहुलता द्रष्टव्य है। हेमव्याकरण के इन दोहों की भाषा में भी निर्विभक्तिक प्रयोग मिलते हैं किंतु विरल।

एत्तहे मेह पियंति जल, एत्तहिं वडवानल आवट्टइ ४।४१९।

इस पंक्ति में नेह और बड़वानल दोनों का प्रथमा में निर्विभक्तिक प्रयोग हुआ है। नीचे कुछ संतुलनात्मक प्रयोग उपस्थित किए जाते हैं।

प्रथमा —

१ – **कायर** एम्व भणन्ति ४।३७६
२ – **धण** मेल्लइ नीसासु ४।४३०
३ – **मोहन** जा दिन वनहि न जात (सूर० ३२०२)
४ – **लोचन** करमरात हैं मेरे (कुंभन० २१८)

द्वितीया —

१ – संता **भोग** जु परिहरइ ४।३८९
२ – जइ पुच्छइ **घर** वड्डाइं ४।३६४
३ – **फल** लिहिआ भुंजन्ति ४।३३५
४ – निरखि कोमल चारु **मूरति** (सूर ३०२९)
५ – काहे बांधति नाहिन छूटे **केस** (कुंभन ३०४)

अपभ्रंश में करण, अधिकरण और अपादान के निर्विभक्तिक प्रयोगों का एकदम अभाव है। संबंध में इस तरह के निर्विभक्तिक प्रयोग बहुत मिलते हैं किंतु वहाँ समस्तपाद की तरह ही प्रयुक्त हुए हैं। अपभ्रंश में अधिकरण में इकारांत प्रयोग मिलते हैं। जैसे तालि, यदि, घरि आदि। ये रूप उच्चारणसौकर्य के लिये बाद में या तो आकारांत रह गए या उनमें 'ऐ' विभक्ति का प्रयोग होने लगा इस तरह ब्रजभाषा में कुछ रूप निर्विभक्तिक दिखाई पड़ते हैं। कुछ रूपों में ऐ लगकर घरै, द्वारै, आदि रूपांतर बन जाते हैं। ब्रजभाषा में प्रायः प्रत्येक कारक में निर्विभक्तिक प्रयोग प्राप्त होते हैं।

(२) विभक्तियों के प्रयोग के नियमों के शिथिलता की बात पहले कही जा चुकी है। इस शिथिलता के कारण कुछ विशिष्ट प्रकार के कारक प्रयोग भी दिखाई पड़ते हैं। अपभ्रंश में इस प्रकार के विभक्तिव्यत्यय के उदाहरण पर्याप्त मात्रा में मिलते हैं। हेमचंद्र ने प्राकृत में इस प्रकार के व्यत्यय को लक्षित किया था। षष्ठी विभक्ति का प्रयोग एकाधिक कारकों का भाव व्यक्त करने के लिये किया जाता था, इस विषय में उन्होंने स्पष्ट संकेत किया है। चतुर्थ्याः स्थाने

३७. राहुल सांकृत्यायन, काव्यधारा की अवतरणिका, पृ० ६।

षष्ठी भवति। मुणिस्स, मुणीण देइ, नमो देवस्स।[३८] यही नहीं द्वितीया के लिये भी षष्ठी प्रयोग होता था। द्वितीया और तृतीया और पंचमी में सप्तमी (अधिकरण) का प्रयोग भी प्रचलित था। अधिकरण अर्थ में द्वितीया का प्रयोग भी चलता था।[३९] प्राकृत (शौरसेनी) की यह प्रवृत्ति शौरसेनी अपभ्रंश को भी प्राप्त हुई। व्यंजनव्यत्यय के उदाहरण हेमव्याकरण के अपभ्रंश दोहों में कम नहीं मिलते। इसी प्रवृत्ति का विकास ब्रजभाषा में भी हुआ। अपभ्रंश में कथ, भण आदि क्रियाओं के साथ कर्म हमेशा द्वितीया में ही होता था, किंतु अपभ्रंश में यह कर्म षष्ठी में दिखाई पड़ता है। संदेशरासक में इसके कुछ उल्लेखनीय उदाहरण मिलते हैं।[४०]

भणइ **पहिस्स** अइ करुण दुक्खिन्निया (सं० रा० ८५)

**पियह** कहिव हिव इक्क (सं० रा० ११०)

कुमारपालप्रतिबोध के अपभ्रंश दोहों में भी कई उदाहरण मिलते हैं —

सुणियि नंदु वुत्तं यह **सयडालस्स**।

यह 'स्स' रूप ही सों या से के रूप में विकसित हुआ। ब्रज में कथ या भण के साथ कर्म का प्रयोग तृतीया में होता है।

अलि कासों कहत बनाइ (सूर० सा० ३६१७)

हेमव्याकरण में अपभ्रंश का एक करणकारक का रूप महत्त्वपूर्ण है —

तुह **जलि** महु पुणु **वल्लहइ** विहित न पूरिअ आस ४।३८३

तेरी **जल** से मेरी **प्रिय से,** दोनों की आसा पूरी न हुई। यहाँ करण कारक के अर्थ में सप्तमी का प्रयोग द्रष्टव्य है। ब्रजभाषा में अधिकरण का परसर्ग 'पै' तृतीयार्थ में अनेक बार प्रयुक्त हुआ है।

१ – **मो पै** कही न जाइ (सूर १८६८) मोसौं, मेरे द्वारा

२ – हम उन **पै** वन गाइ चराई (सूर० सा० ३१६२)

३ – **जापै** सुख चाहत जियौ (बिहारी)

यही नहीं अधिकरण का अपादान के अर्थ में भी प्रयोग होता है।

१ – कौन **पै** लैहि उधारै (सूर० सा० ३५०४)

(३) क्रिया रूपों में कर्मवाच्य के कृदंतज रूप अपभ्रंश की परवर्ती अवस्था में कर्तृवाच्य की तरह प्रयोग में आने लगे —

'ढोल्ला मइ तुहं वारियो' या 'विट्टीए मइ भणिय तुहुँ' में कर्मवाच्य का रूप स्पष्ट दिखाई पड़ता है किंतु बहुत से रूपों में यह अवस्था समाप्त होने लगी थी।

मइ जाणिउं पिय (४।३७७) में जान्यों (मेरे द्वारा जाना गया) साथ ही 'तो हउं जाणउं एहो हरि (४।३९७) में हौं जान्यौ का विभेद मुश्किल हो जाता है। कर्ता के प्रथमा रूप के साथ कृदंतज रूपों के प्रयोग इस भाषा को ब्रज के अत्यंत नजदीक पहुँचाते हैं।

३८. चतुर्थ्या षष्ठी हेमव्याकरण ८।३।१३१।

३९. षष्ठी क्वचिद् द्वितीयादेः ३।१३४, द्वितीयातृतीययोः सप्तमी ३।१३५, पंचम्यास्तृतीया च ३।१३६, सप्तम्या द्वितीया ३।१३७।

४०. संदेसरासक – भूमिका• पृ० ४३।

१ – आवासिउ सिसिरु (४।३५७)
२ – सासातल जाल झलक्कियउ (४।३९५) झलक्यो
३ – वद्दलि लुक्कु मयंक (४।४०१) लुक्यो
४ – महु खण्डिउ माणु (४।११८) मेरो यान खण्ड्यो

(४) क्रियार्थक रूपों के साथ निषेधात्मक ण या न तथा क्रिया की पूर्णता में असमर्थता-सूचक 'जाइ' प्रयोग अपभ्रंश की निजी विशेषता है। इस तरह के प्रयोग हेमचंद्र के अपभ्रंश-दोहों, जयेन्दु के परमात्मप्रकाश और संदेशरासक में दिखाई पड़ते हैं। यह प्रवृत्ति परवर्ती भाषा में भी दिखाई पड़ती है।[४१]

१ – पर भुंजणह ण जाइ (४।४४१ हेम०)
२ – जं अक्खणह न जाइ (४।३५० हेम०)
३ – न धरणउ जाइ (सं० रा० ७१ क)
४ – कहणु न जाइ (सं० रा० ८१ क)

इस प्रकार के रूप ब्रजभाषा में किंचित परिवर्तन के साथ प्राप्त होते हैं —

१ – मो पै कही न जाइ (सूर० १८६८)
२ – कछु समुझि न जाइ (सूर० २३२३)
३ – सोभा बरनि न जाइ (कुंभ० २३)

(५) वाक्यगठन की दृष्टि से अपभ्रंश के इन दोहों की भाषा ब्रज के और भी अधिक नजदीक मालूम होती है। मार्दव, संक्षेप, लोच और शब्दों के अत्यंत विकसित रूपों के कारण इस भाषा का स्वरूप प्रायः पुरानी ब्रज जैसा ही है। नीचे कुछ चुने हुए वाक्य उद्धृत किए जाते हैं —

| अपभ्रंश | ब्रज |
|---|---|
| १ – अंगहि अंग न मिलिउ ४।३३२ | १ – अंगहि अंग न मिल्यो |
| २ – हंउ कि न जुत्यउँ दुहुँ दिसिंहिं ४।३४० | २ – हौं किन जुत्यों दुहुं दिसहिं |

४१. द यूज आफ द इन्फिनिटिव विद ण (ऑर ऐंड इन्ट्रोगेटिव पार्टिकिल) ऐंड जाइ टु डिनोट इंपासिबिलिटी आफ परफार्मिंग ऐन एक्शन बिकाज आफ इट्स एक्स्ट्रीम नेचर इन पिक्युलियारिटी आफ अपभ्रंश। वी फाइंड दिस कंस्ट्रक्शं इन हेमचंद्रज इलस्ट्रेटिव स्टैंजाज इन द परमात्माप्रकाश आफ जयेंदु। द इडिअम्स करेंट इन माडर्न लैंग्वेजेज। – संदेश-रासक स्टडी, पृ० ४४–४५।

द डायलेक्ट आफ ब्रज इज मोस्ट इंपार्टेंट ऐंड इन द सेंस मोस्ट फेथफुल रिप्रेजेंटेटिव आफ शौरसेनी स्पीच आफ द अपभ्रंश वर्स कोटेड इन द प्राकृत ग्रामर आफ हे० चं० (१०१८–११७७) आर इन शौरसेनी स्पीच हिच रिप्रेजेंट्स द प्रिमाडर्न स्टेज आफ वेस्टर्न हिंदी। — ओरिजन ऐंड डेवलपमेंट आफ बंगाली पृ० ११।

३ – वप्पीहा पिउ पिउ भणवि कितिउ रुवहि हयास ४।३८२ ३ – पपीहा पिउ पिउ भनि किती रुवै हतास

४ – जइ ससणेही तौ मुवइ जइ जीवइ निन्नेह ४।३६७ ४ – जो ससनेही तो मुवै जो जीवै विनु नेह

५ – वप्पीहा कइ बोल्लिएण निग्घिण वा रई वार। सायरि भरिया विमलजल लहइ न एक्कइ धार। ४।३८२ ५ – पपीहा के बोलिए निर्घृण वारहिँ वार। सागर भरियो विमल जल लहै न एकौ धार।

६ – साव सलोणी गोरडी नवखी कवि विस गण्ठि ४।४२० ६ – साव सलोनी गोरी नोखी विसकै गांठि

इस प्रकार की अनेक अर्द्धालियाँ, पंक्तियाँ, दोहे ब्रजभाषा से मिलते जुलते हैं। कुछ दोहों में राजस्थानी प्रभाव के कारण ण, उ, ड, आदि के प्रयोग अधिक हैं। भूत क्रिया के आकारांत रूप भी मिलते हैं किंतु अधिकांश दोहे ब्रजभाषा के निकटतम प्राचीन रूप ही कहे जाएँगे। डा० चाटुर्ज्या के इस कथन के साथ हम समाप्त करेंगे कि ब्रजभाषा पुरानी शौरसेनी भाषा की सबसे महत्त्वपूर्ण और शुद्ध प्रतिनिधि है, हेमव्याकरण के अपभ्रंश दोहों की भाषा इसी की पूर्व पीठिका है।

*

# विमर्श

## 'जेहि महँ' और 'एहिसन'

•

अवधी आदि में 'ए', तथा 'ओ' स्वर द्विधा उच्चरित होते हैं – 'गुरु' और 'लघु'। स्वभावतः 'ए' तथा 'ओ' स्वर गुरु ही है; क्योंकि अ+इ='ए' और अ+उ='ओ' बने हैं। 'एक' में 'ए' तथा 'ओर' में 'ओ' का उच्चारण स्पष्टतः गुरु है। अतएव संस्कृत में '**एचां ह्रस्वाभावः**' कहा गया है – यानी ('एच्') ए, ऐ, ओ, औ, ये चार संधिनिष्पन्न या संयुक्त स्वर दीर्घ हैं। राष्ट्रभाषा (खड़ी बोली) में भी यही स्थिति है। प्रक्रिया में जब आद्य स्वर ह्रस्व होता है, तो 'ए' को 'इ' तथा 'ओ' को 'उ' होता है। यानी 'ए' या 'ओ' रूप नहीं रहता। परंतु अवधी आदि में स्थिति भिन्न है। 'ए' को वहाँ 'इ' नहीं होता, न 'ओ' को ही 'उ' होता है; उच्चारण कुछ लघु अवश्य हो जाता है। इस लघु उच्चारण को व्यक्त करने के लिये नागरी-प्रचारिणी सभा (काशी) ने मात्रा स्वरूप में अंतर प्रकट किया है – 'जे न मित्र दुख होहिं दुखारी' में 'जे' में 'ए' का उच्चारण पूर्ण या गुरु है; पर 'जेहि महँ', 'तोहि महँ' आदि में 'ए' का उच्चारण हलका है, जिसे प्रकट करने के लिये 'सभा' ने 'जेहि महँ' 'तेहि महँ' जैसे रूप चलाए हैं, जो ठीक हैं, जरूरी हैं। 'तेहि' और 'तेहि' में अंतर है। 'खड़ी बोली' में तो 'इ' 'उ' हो जाते हैं* —

| साधारण | प्रक्रिया |
|---|---|
| देखता है | दिखाता है |
| जोड़ता है | जुड़वाता है |
| छोड़ता है | छुड़ाता है |

परंतु अवधी आदि में 'इ' – 'उ' न होकर 'ए' – 'ओ' कुछ ह्रस्व हो जाते हैं* —

| साधारण | प्रक्रिया |
|---|---|
| देखत | देखावत |
| ओढ़त | ओढ़ावत |
| रोवत | रोवावत |

यों अवधी आदि में 'ए' 'ओ' का ह्रस्व उच्चारण प्रकट करने के लिये टाइप में जो चिह्न-कल्पना की गई है, बहुत ठीक है। परंतु –

एक जगह क्या होगा ?

* शीर्षक में मुद्रित 'जेहि' शब्द का ह्रस्व रूप देखिए। ऐसे ही 'देखावत' 'ओढ़ावत' भी समझें। —संपादक।

सर्वत्र तो 'ए' 'ओ' का ह्रस्व उच्चारण उस चिह्न से प्रकट कर दिया जाएगा; किंतु 'एहि-महँ रघुपति नाम उदारा' के ह्रस्व 'ए' का उच्चारण कैसे प्रकट किया जाएगा ? 'एहि महँ' लिखा जाएगा क्या ? 'ए' पर उसकी अपनी ही मात्रा कैसी रहेगी ? अन्य किसी स्वर पर उसकी मात्रा लगती है क्या ? 'ओहि महँ' को 'ओहि महँ' करने पर 'ओ' में उसकी मात्रा नहीं है, 'अ' में 'ओ' की मात्रा है और 'औ' में भी 'अ' पर 'औ' की मात्रा है – अ + ो = ओ और अ + ौ = औ। मात्रा लगने पर 'अ' अपना उच्चारण पृथक् नहीं रखता; यानी 'ओ' का उच्चारण 'अओ' जैसा नहीं होता, न 'औ' का उच्चारण 'अऔ' ही होता है। जैसे 'ए' 'ऐ' के उच्चारण हैं, उसी तरह 'ओ' 'औ' के भी। संभव है, कभी 'ओ' 'औ' के भी पृथक् लिपिसंकेत रहे हों, जैसे कि 'ए' 'ऐ' हैं; पर वे क्यों लुप्त हो गए ? 'अ' में ही मात्राएँ लगाकर 'ओ' 'औ' क्यों लिखा जाने लगा ? हमें पता नहीं। संभव है, इन दोनो स्वरों के लिये पृथक् लिपि-संकेत पहले ही न कायम किए गए हों। जो भी हो, इन दो स्वरों के लिये लिपि में संकेत पृथक् नहीं हैं और 'अ' में ही मात्रा लगाकर काम चलाया जाता है। यही स्थिति 'ऋ' की है। यहाँ भी 'अ' में मात्रा लगाकर 'ऋ' रूप है और मराठी 'अ' में ऋ की मात्रा लगाकर 'ऋ' रूप बना है।

हम कहना चाहते थे कि 'ऐहि महँ' ठीक नहीं। किसी भी स्वर पर उसी की मात्रा नहीं लगती। हाँ, 'ओहि महँ' की तरह 'अेहि महँ' अवश्य ठीक है।

## स्वरों की बारह खड़ी

ऊपर हम ने 'ओ' 'औ' का दृष्टांत देकर स्पष्ट किया कि 'अ' में मात्राएँ लगाकर स्वर-उच्चारण प्रकट किए जा सकते हैं – इ - अि, उ - अु, ऊ - 'अू' आदि। इससे 'अेहि महँ' ठीक हो जाएगा।

कुछ लोग कहते हैं कि 'ई' की जगह 'अी' लिखने से 'ए' बन जाएगा – अ+ई='ए' ! कैसी बेसमझी है ! कितना भ्रम है ! 'ओ' में अ+ओ='औ' उच्चारण क्यों नहीं होता ? 'ओर' को 'और' क्यों नहीं हो जाता ?

भाई, 'अ' में जब भिन्न मात्राएँ लगती हैं, तो वह अपना अलग उच्चारण नहीं रखता। इसीलिये 'ओ' का उच्चारण 'औ' नहीं होता और 'अी' का 'ए' नहीं हो सकता। हाँ, अपनी ही मात्रा लगने पर स्वरूप अवश्य रहेगा, मात्रागौरव के साथ 'आ'। अन्यत्र (अि, अी आदि में) 'अ' का पृथक् उच्चारण न रहेगा, 'ओ' 'औ' की तरह। 'इको यणचि' की जगह 'अिको यणचि' लिखा जा सकता है। 'अि' को विना सिखाए भी सब 'इ' पढ़ लेंगे। 'इ' 'ई' भी हाथ से लिखने में चलते रहेंगे। परंतु 'अेहि महँ' लिखने में तो 'ए' न रहेगा।

सो, यदि अवधी आदि के ह्रस्व 'ए' 'ओ' का उच्चारण प्रकट करने के लिये पृथक् लिपि-संकेत वे रखने हैं, तो फिर 'अ' में बारह खड़ी लगाकर स्वररूप बनाने होंगे। 'ओ' और 'औ' इसी मार्ग में सब से आगे चलकर हमें सब कुछ बता रहे हैं।

— किशोरीदास वाजपेयी

# तीन संशोधन

## राधावल्लभीय चतुर्भुजदासकृत ग्रंथ

मेरा एक लेख ना० प्र० पत्रिका वर्ष ५६ अंक २ में पृष्ठ १६२ पर 'राधावल्लभीय चतुर्भुज-दासकृतग्रंथ' नाम से प्रकाशित हुआ था। उस समय उस लेख में 'हितजू को मंगल' नामक ग्रंथ के विषय में, उद्धरण न मिलने के कारण केवल संभावना प्रकट की गई थी कि "यदि यह 'मंगल' भी कोई 'यश' ही सिद्ध हो तो राधावल्लभीय चतुर्भुजदासकृत एक ही ग्रंथ – 'द्वादश यश' – मानना पड़ेगा।"

इधर मुझे बहुत प्रयत्न के पश्चात् इस 'मंगल' के उद्धरण प्राप्त हुए। इन उद्धरणों का मिलान 'द्वादश यश' के 'मंगलसार यश' से करने पर पूर्वोक्त संभावना बिल्कुल ठीक निकली। यह 'मंगल' भी कोई स्वतंत्र ग्रंथ नहीं है, केवल 'द्वादश यश' का ही एक 'यश' मात्र है। हाँ, इस 'द्वादश यश' ग्रंथ के अतिरिक्त सन् १६१२–१४ की 'हिंदी के हस्तलिखित ग्रंथों की खोजरिपोर्ट' में इनके 'पदों' की एक प्रति के प्राप्त होने का अवश्य उल्लेख किया गया है। पदों के उद्धरणों से निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि ये पद वास्तव में इन्हीं राधावल्लभीय चतुर्भुज दास कृत हैं। मिश्रबंधुओं ने भी यही संभावना प्रकट की है। इस प्रति में इनके केवल सत्रह पद होने का उल्लेख है, जिनका विषय रस और सिद्धांत का वर्णन करना है। 'श्रीहित राधावल्लभीय साहित्य रत्नावली' में इनके तीन ग्रंथों का होना लिखा गया है —

१. 'द्वादश यश', २. 'पदावली', ३. 'यमुनाष्टक'।

*

## पद्मिनीचरित्र का समय।

ना० प्र० पत्रिका के वर्ष ४ पृ० १८३ पर 'पद्मनीचरित्र' का रचनाकाल श्री अगरचंद नाहटा की सूचना के अनुसार डा० पीतांबरदत्त बड़थ्वाल ने सं० १७०२ की पूर्व स्थापना के विरुद्ध १७०७ माना है। वहाँ उस ग्रंथ के समयसूचक दोहे के **'बड़ोतरे'** शब्द के संबंध में उन्होंने यह कल्पना की है कि संभवतः यह **'बरोतरे'** शब्द का विकृत रूप है, जिसका अर्थ 'वार उत्तर' अर्थात् सात (वार सात होते हैं) अधिक है, अतः दोहे के **'संवत् सतरे से बडोतरे'** का अर्थ संवत् सात अधिक सत्तरह सौ (= १७०७) है। परंतु इसे कल्पना ही मान कर उन्होंने इस संबंध में विद्वानों से कुछ अधिक प्रकाश डालने की आशा की थी।

श्री रविशंकर देराश्री जी ने वर्ष ४७ अंक ३–४ पृ० ३६५ पर 'बडोतरे' शब्द का स्पष्टीकरण करते हुए 'संवत सतरै से बडोतरे' का अर्थ १७०२ किया है और इस संवत को 'पद्मनी-चरित्र' का आरंभसंवत माना है और समाप्ति सं० १७०७ माना है। 'राजस्थान में हिंदी के हस्तलिखित ग्रंथों की खोज' भाग १, पृ० ५२ और भाग ३, पृ० ८८ पर 'पद्मनी चरित्र' ग्रंथ के विवरण दिए गए हैं जिनमें 'संवत सतरै से बडोतरे' वाला दोहा भिन्न पाठांतर से प्राप्त होता

है। **'तास हुक्म संवत् सतर छीडोतरे रे, श्रीउदेपुर सु बखाण'**। इस के अनुसार 'संवत सतर छीडोतरे' का अर्थ १७०६ होता है। यह दोहा ग्रंथ के प्रारंभ करने के समय को सूचित करता है। श्री देराश्री ने 'संवत सतरे से बडोतरे' वाले दोहे के आधार पर प्रारंभ होने का समय १७०२ माना है। यह समय अधिक उपयुक्त नहीं लगता। क्योंकि १७०२ और १७०७ के बीच ५ वर्ष का अंतर पड़ जाता है। जो ग्रंथ की रचना के लिये अधिक समय प्रतीत होता है। १७०६ और १७०७ में केवल एक वर्ष का अंतर है, जिसमें ग्रंथ की रचना स्वाभाविक प्रतीत होती है।

अतः मेरा विचार है कि ग्रंथ का आरंभ सं० १७०२ में न होकर सं० १७०६ में हुआ और समाप्ति सं० १७०७ में हुई। ग्रंथ की समाप्ति का दोहा निम्न है —

**'तस आग्रह करि संवत सतर सतोत्तरे, चैत्र पूनिम शनिवार।**
**नव रस सहित सरस सबंध विरच्यउरे, निजबुद्धि ने अनुसार॥'**

*

## 'माधुर्यलहरी' के कर्ता कृष्णदास का वासस्थान

ना० प्र० पत्रिका वर्ष ५९, अंक २ पृ० १६० पर श्री विश्वनाथप्रसाद जी मिश्र ने 'माधुर्य-लहरी' के कर्ता श्रीकृष्णदास के वासस्थान पर विचार किया है और अंत में इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि "यह निश्चय करना कठिन हैं कि 'गिरिजा पत्तन' ग्राम कहाँ था, पर मेरी धारणा यह है कि यह न 'मिरजापुर' है न 'गाजीपुर'। वह ग्राम ही है।"

लेखक ने अपने वासस्थान का उल्लेख अपने तीन ग्रंथों में किया है —

( १ ) विंध्य निकट तट सुरधुनी गिरिजापत्तन ग्राम। – भागवत भाषा,

( २ ) विंध्य निकट तट सुरधुनी गिरिजापुर वर नाम। – भागवत माहात्म्य, और

( ३ ) विंधि निकट तट सुरधुनी गिरिजापत्तन ग्राम। – माधुर्य लहरी।

संख्या १ तथा संख्या ३ में शब्दशः स्थानसंबंधी उल्लेख मिल जाता है किंतु सं० २ के उल्लेख में कुछ अंतर है। इस अंतर पर मिश्र जी ने अपनी धारणा इस प्रकार व्यक्त की है — "मेरी धारणा हैं कि 'गिरजापुर वरनाम' के बदले 'गिरिजा पत्तन ग्राम' कदाचित् वहाँ (प्रति में) भी होगा। प्रतिलिपिकार की असावधानी से यह परिवर्तन हो गया हैं।" मिश्र जी के विचार से 'गिरिजा पत्तन ग्राम' का प्रतिलिपिकार की असावधानी से 'गिरिजापुर वरनाम' हो जाना तो संभव है, किंतु 'मिरजापुर' के स्थान पर 'गिरिजापुर' हो जाना उन्हें कोरी कल्पना ही जान पड़ती है। वास्तव में यह 'मिरजापुर' ही है, जो प्रतिलिपिकार की वास्तविक भूल है। अतः भूल से 'मिरजा' का 'गिरजा' हो गया।

वासस्थान के उद्धरणों से इस 'गिरिजापुर' अथवा 'गिरजापत्तन' की स्थिति गंगा के किनारे विंध्याचल ( विंध्य वासिनी ) के समीप बैठती है। विंध्याचल ( विंध्यवासिनी ) के निकट 'मिरजापुर' ही एक ऐसा स्थान है जो उपर्युक्त उद्धरणों की संगति में आ सकता है। 'गाजी-

पुर' की स्थिति इन उद्धरणों के आधार पर ठीक नहीं बैठती है। अतः 'गिरिजापुर' के लिये 'गाजीपुर' की बात सोचना नितांत भ्रामक है। यह भी कहना ठीक नहीं है कि 'यह न 'गिरजापुर' है न······। यह ग्राम ही है।' किंतु विंध्याचल ( विंध्यवासिनी ) के समीप गंगा के तट पर इस नाम के किसी ग्राम का पता कहीं नहीं लगता। यहाँ तक कि भूगोल कार्यालय, प्रयाग से प्रकाशित 'गंगा एटलस' में भी ऐसे किसी ग्राम का उल्लेख नहीं हुआ है, जब कि उसमें गंगा के किनारे के छोटे से छोटे ग्राम का नाम दिया गया है।

अब रही बात 'गिरिजापत्तन' के 'पत्तन' शब्द की। 'पत्तन' शब्द के अर्थ 'पुर', 'ग्राम' होते हैं, और यह नगर, ग्राम, स्थानों के नाम के पीछे लिखने की एक विशेष प्रणाली है। इस प्रकार के उदाहरण प्राप्त होते हैं यथा ऋषिपत्तन (सारनाथ), वैराटपत्तन ( ढिकुली, कमायूँ ), विठभयपत्तन ( बीठा ), वत्स्यपत्तन ( कौशांबी ), नागवत्तन ( उरगपुर ), जाबलिपत्तन ( जबलपुर ) आदि।

अतः हम निश्चयपूर्वक कह सकते हैं कि कवि ने अपने वासस्थान का उल्लेख 'मिरिजापुर' और 'मिरजापत्तन' दोनों नामों से ही किया था किंतु प्रतिलिपिकार की असावधानी से वे क्रमशः 'गिरिजापुर' एवं 'गिरिजापत्तन' हो गए। वास्तव में विंध्याचल (विंध्यवासिनी) के निकट गंगा के किनारे पर स्थित 'मिरजापुर' ही कवि का वासस्थान है।

— वेदप्रकाश गर्ग

*

## चयन

# राष्ट्रभाषा की समस्या

राजबली पांडेय

### (१) नागरीप्रचारिणी सभा की चिंता

भारत के बौद्धिक पुनरुत्थान तथा राष्ट्रीय आंदोलन के माध्यमों के रूप में हिंदी और अन्य भारतीय भाषाओं की उन्नति और समृद्धि से प्रगाढ़ संबंध रखनेवाली अखिल भारतीय संस्था के नाते सभा को यह देखकर बड़ा दुःख होता है कि हाल में देश के कुछ भागों में हिंदी को लेकर न केवल हिंदी की अपितु समूचे राष्ट्र की प्रतिष्ठा के विरुद्ध एकांत निराधार और अनुचित आक्षेप तथा आलोचनाएँ चल रही हैं। अबतक समझा तो यही जाता रहा कि समुचित प्रजातंत्रात्मक ढंग से लंबे सोचविचार के बाद हमारे संविधान ने देश की राजभाषा के प्रश्न को हल कर दिया है और केवल रह गया है सुंदर से सुंदर क्रियात्मक रीति से उसे कार्यान्वित करना। राष्ट्रपति द्वारा नियुक्त राजभाषा आयोग ने यथासंभव समस्त साक्ष्यों को एकत्र करके अच्छी तरह छानबीन के अनंतर उक्त सांवैधानिक व्यवस्था के क्रमिक कार्यान्वय की सिफारिश करते हुए अपना प्रतिवेदन संसद के विचारार्थ प्रस्तुत कर दिया है। उस पर वहाँ विचार होने के पहले ही देश के कुछ भागों में घोर विवाद खड़ा करके मुख्यप्रश्न को उलझा दिया जा रहा है। ऐसी गंभीर स्थिति में सभा अपने मंतव्य व्यक्त करके देश के राष्ट्रीय और सांस्कृतिक जीवन को प्रभावित करनेवाले राजभाषा के इस प्रश्न के कुछ महत्त्वपूर्ण पहलुओं पर जनमत केंद्रित करना आवश्यक समझती है।

### (२) राजभाषा के रूप में कोई भारतीय भाषा—ऐतिहासिक अनिवार्यता

स्वतंत्रता का अर्थ राजनीतिक पराधीनता का अंत और शासन में परिवर्तन मात्र नहीं है। सारे देश के लिये एक राजभाषा का चुनाव उसका नैसर्गिक फल है। स्वतंत्रता का अर्थ उसकी राष्ट्रीय चेतना का पुनः साक्षात और सांस्कृतिक मूल्यों का पुनः स्थापन है जिनसे विचार–विनिमय के साधनों का नित्य संबंध है। इसीसे यद्यपि भारत स्वतंत्र १९४७ में हुआ, सांस्कृतिक जागृति का प्रादुर्भाव १९ वीं शती के आरंभ में ही हो चुका था। तब से बराबर वह राजनीतिक स्वतंत्रता की लड़ाई से बल प्राप्त करती हुई साथ साथ बल और विस्तार पाती रही। भारत की प्रत्येक भाषा और साहित्य में स्वतंत्रता की भावना प्रतिबिंबित और पुष्ट हुई। राष्ट्रीय स्वतंत्रता का संबंध देश की सारी जनता से होने के कारण हमारे नेताओं ने भाषा–समस्या की गुरुता तुरंत समझ ली और अंग्रेजी के बदले भारतीय भाषाओं को अपने कार्य का माध्यम बनाने का निश्चय किया। स्वामी दयानंद सरस्वती, कवींद्र रवींद्रनाथ ठाकुर, लोकमान्य बालगंगाधर तिलक, महामना मदनमोहन मालवीय,

महात्मा गांधी, जस्टिस वी० कृष्णस्वामी अय्यर, जस्टिस शारदाचरण मित्र प्रभृति ने प्रादेशिक भाषाओं पर जोर दिया और सारे भारत के लिये एक राष्ट्रभाषा के प्रश्न पर गंभीरता से विचार किया। दिव्य-दृष्टि-संपन्न कुशल राजनीतिज्ञ महात्मा गांधी ने देश भर के लिये एक ही राष्ट्रभाषा के प्रश्न को सबसे अधिक महत्त्व दिया। उनके नेतृत्व में अखिल भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस ने हिंदी को राष्ट्रभाषा के रूप में चुना। महात्मा जी के लिये भारत की राष्ट्रभाषा के रूप में हिंदी की उन्नति और प्रसार एक व्रत था जिसका पालन उन्होंने अपने सार्वजनिक जीवन में अफ्रीका से भारत तक सर्वत्र एक ही उत्साह और लगन से किया। वर्तमान भारत के गणतंत्रात्मक संविधान के अंतर्गत समाजवादी तथा लोककल्याणकारी राज्य के संचालन के लिये किसी सार्वजनिक राष्ट्रभाषा का होना अनिवार्य है। यह राष्ट्रीय एकता और गौरव दोनों के लिये आवश्यक है।

## (३) राष्ट्रपिता महात्मा गांधी और भाषापरिवर्तन

भारतीय भाषाओं के समुचित स्थानों के बारे में 'यंग इंडिया' (१९२१) में महात्मा गांधी ने लिखा था —

"आज हमारी मातृभाषाओं को पदच्युत करके अंग्रेजी ने हमारे हृदय पर बलात् अधिकार जमा रखा है। अंग्रेजी से हमारे विषम संबंध के कारण उसकी यह स्थिति अस्वाभाविक है। अंग्रेजी के ज्ञान के बिना ही भारतीय प्रतिभा का पूर्ण विकास संभव होना चाहिए। हमारे बालक और बालिकाओं में यह भावना भरना कि अंग्रेजी जाने बिना श्रेष्ठ समाज में प्रवेश असंभव है, भारतीय पुरुष जाति और विशेषतः स्त्री जाति का अपमान है। इसकी कल्पना ही असह्य है। अंग्रेजी के इस व्यामोह से पिंड छुड़ाना स्वराज का एक अनिवार्य अंग है।"

अंग्रेजी से भारतीय भाषाओं के संक्रमण के विषय में उन्होंने १९४७ में (हरिजन, २१ सितंबर) फिर लिखा —

"इस आवश्यक परिवर्तन में एक दिन की देर राष्ट्र की उतनी ही सांस्कृतिक हानि है। पहला और सबसे बड़ा कार्य उन प्रांतीय भाषाओं का पुनरुद्धार है जो भारत की महान संपत्ति हैं। यह दलील पेश करना कि हमारे न्यायालयों में, हमारे विद्यालयों में और हमारे सचिवालयों में भी इस परिवर्तन के पहले कुछ समय संभवतः लगना जरूरी है, बौद्धिक आलस्य के अतिरिक्त और कुछ नहीं। भाषा के आधार पर प्रांतों का विभाजन होने के पहले बंबई और मद्रास जैसे बहुभाषी प्रांतों में थोड़ी कठिनाई का अनुभव अवश्य होगा। फिर भी प्रांतीय सरकारें ऐसा रास्ता निकाल सकती हैं जिससे वहाँ के लोग यह अनुभव कर सकें कि वे भी स्वतंत्र हो गए हैं।

प्रांतों के लिये यह आवश्यक नहीं कि वे इस प्रश्न को हल करने के लिये केंद्र की प्रतीक्षा करें। यदि पहला कदम, अर्थात् प्रत्येक सार्वजनिक विभाग में प्रांतीय भाषा का पुनः प्रचार, तुरंत संपन्न हो जाता है तो अंतर्प्रांतीय भाषा वाला दूसरा प्रश्न अविलंब सिद्ध हो जायगा। प्रांतों को केंद्र से बरतना पड़ेगा। यदि केंद्रीय शासन में चटपट यह समझने की बुद्धिमानी हुई कि केवल मुट्ठीभर लोग अपनी सुविधा के लिये आलस्यवश एक ऐसी भाषा नहीं सीखना चाहते जो बिना किसी वर्ग की सांस्कृतिक क्षति किए सारे देश की भाषा हो सकती है, तो ये

प्रांत अंगरेजी का माध्यम स्वीकार करने का दुःस्साहस नहीं कर सकते। हमने जैसे अनुचित अधिकार जमाए रहनेवाले अंग्रेजों के राजनीतिक आधिपत्य को सफलतापूर्वक उखाड़ फेंका वैसे ही अंग्रेजी को भी अनुचित सांस्कृतिक अधिकार से अलग करने के लिये मेरा आग्रह है।"

## (४) भारत की राजभाषा के बारे में संविधान का समुचित निर्णय

राष्ट्र के महाप्रतिभ महापुरुषों से बनी हुई देश का प्रतिनिधित्व करनेवाली संविधान सभा भाषा की समस्या पर जिन उपयुक्त निर्णयों पर पहुँची थी वे अधोलिखित हैं —

(क) भारत की बहुभाषित और बहुजन सुगम भाषा हिंदी राष्ट्र की राजभाषा है। भारतीय जनसमुदाय का प्रायः ५० प्रतिशत हिंदी बोलता है और अन्य २५ प्रतिशत उसे समझ लेता है। हिंदी क्षेत्र के बाहर वह भारत के मुख्य मुख्य नगरों और कसबों में सामान्यतः व्यवहृत है तथा विश्व के बहुत से अन्य भागों में भी बोली और लिखी जाती है।

(ख) संविधान ने भारत की सब भाषाओं के पूर्ण विकास और सुप्रतिष्ठा की घोषणा करके स्पष्ट उल्लेख कर दिया है कि उनका और भारत की राजभाषा हिंदी का पारस्परिक संबंध बहनों का सा होगा और हिंदी उनके बीच समकक्षों में श्रेष्ठ मात्र है।

(ग) इस भाषा परिवर्तन की कालावधि के बारे में भी संविधान सभा ने बड़ी सतर्कता और समझदारी से काम लिया है। प्रत्येक परिवर्तन को स्वभावतः अंतः शैथिल्य से रहित होना चाहिए अन्यथा विकृत होते होते वह जड़रूढ़ि अवशिष्ट रहकर बेकार हो जाता है। जैसा ऊपर कह दिया गया है गांधी जी की सलाह तो तुरंत परिवर्तन की थी जिसे उन्होंने असहयोग आंदोलन के समय करके दिखा भी दिया था। किंतु इस अभिप्राय से कि अहिंदी भाषी देशवासियों को कम से कम असुविधा हो तथा दैनिक राज्यप्रबंध में भी सहसा कोई बाधा न उपस्थित हो जाय, पंद्रह वर्षों की कालावधि निर्धारित हुई। साथ ही ४५ वर्ष से अधिक अवस्था के राजसेवकों को हिंदी सीखने के बंधन से छूट दे दी गई।

## (५) वर्तमान विवाद का विश्लेषण

वर्तमान विवाद की तह में पैठने पर मालूम हो जाता है कि दासता और अराष्ट्रीयता से उत्पन्न पुरानी प्रवृत्तियाँ अभी सांस ही नहीं ले रही हैं अपितु सिर उठाने की कोशिशें भी कर रही हैं। अधिकतर इन्हीं प्रवृतियों से प्रेरित वर्तमान प्रतिगामी आंदोलन मुख्यतः नीचे दी हुई कोटियों के व्यक्तियों द्वारा खड़ा किया गया है —

(क) उस वर्ग के लोग, जो विश्वास करता था कि भारत कभी स्वतंत्र न होगा एवं अंग्रेजी शासन और अग्रेजी भाषा का प्रयोग दोनों हमारे जीवन के स्थायी अंग हैं एवं जिसकी धारणा थी कि अंग्रेजी साम्राज्य भारत के लिये एक दैवी विधान है।

(ख) सदा अपनी ही व्यक्तिगत उन्नति को सब कुछ समझनेवाला पुरानी नौकरशाही का वह अंग जो राष्ट्र की स्वतंत्रता और संमान के बारे में स्वप्न में भी नहीं सोचता था। जान पड़ता है कुछ समय बीत जाने पर शासनप्रणाली की आंतरिक शिथिलता और राज्यप्रबंध की जटिलता से प्रेरित होकर यह दल फिर सिर उठाने जा रहा है। यह नौकरशाही दल वर्तमान विधान और परिवर्तन से संतुष्ट नहीं है।

(ग) कुछ चुनी चुनाई सामग्रियों के आधार पर निर्धारित समस्याओं के संबंध में काम करनेवाले शिक्षकों, शिक्षाशास्त्रियों और कोरे विद्याव्यसनियों का समुदाय जो बाहर नहीं देखता और वस्तुस्थिति का मुकाबिला कदाचित ही करता है।

(घ) कुछ भग्नमनोरथ राजनीतिज्ञों की टोली जो भाषागत विवाद को आगे करके मन का गुब्बार निकालना और स्वार्थ साधना चाहती है।

(च) कुछ जड़ और तमोगुणी लोगों का समूह जो शैथिल्यवश परिवर्तित परिस्थिति के अनुसार व्यवस्थित होना पसंद नहीं करता। भारतीय समाज में यह समूह अब तक बना हुआ है। सतर्कता में थोड़ी भी कमी हुई या शिथिलता आई कि यह प्रगति का मार्गावरोध किए खड़ा हैं।

(छ) राष्ट्रीय आंदोलन के कुछ महाव्रती तथा समर्थकों का दल जो एक दिन के प्रमुख संरक्षक थे और जिनका आश्चर्यकारी रूप बदलना आज की एक कठोर पहेली है।

## (६) असंगत प्रश्न खड़े करना और अशिष्ट धमकियाँ देना

राजनीतिक स्वतंत्रता मिलने के बाद प्रस्तुत विवाद खड़ा करके भारत में प्रतिक्रांति संगठित करनेवाले लोग तरह तरह के बेतुके सवाल खड़े करके भाषा की मुख्य समस्या को सुलझने नहीं दे रहे हैं। वे हिंदी पर कीचड़ उछालकर भारत की किसी भी भाषा को भारतीय गणराज्य की राजभाषा मानने पर संघर्ष और अशांति उपस्थित करने की धमकियाँ दे रहे हैं। इन बेतुके सवालों में से कुछ नीचे दिए जाते हैं —

### (क) राष्ट्रीय एकता को संकट

कहा जाता है कि यदि संघ शासन में हिंदी के राजभाषा होने पर जोर दिया गया तो राष्ट्रीय एकता को धक्का लगेगा। अभिप्राय यह कि अब तक राष्ट्रीय एकता की रक्षा अंग्रेजी करती थी। यहाँ विदेशी सरकार द्वारा विदेशी माध्यम से लादी हुई निष्प्राण शासकीय एकता और देश की परंपरा के अनुकूल सामान्य विरासत में मिली हुई किसी सामान्य राष्ट्रभाषा द्वारा प्रतिष्ठित सामाजिक या राष्ट्रीय एकता को समझने में मौलिक भ्रम और असमंजस है।

### (ख) प्रशासकीय क्षमता

इस पर बड़ा बल दिया जाता है कि अंग्रेजी के ही द्वारा प्रशासकीय क्षमता निभाई जा सकती है, किसी भारतीय भाषा के माध्यम से नहीं। सारी दलील उन्हीं मुट्ठी भर भारतीयों के ध्यान से है जो पुराने विदेशी आधिपत्य के प्रभुत्व के कारण विदेशी माध्यम के व्यवहार से बँधे चले जा रहे हैं। लोकतंत्रात्मक व्यवस्था में प्रशासन की क्षमता का अभिप्राय है उसका जनता के लिये सुगम होना तथा उसकी विविध अवस्थाओं से जनता का संपर्क है।

### (ग) समाज के प्रत्येक वर्ग के लोगों में ज्ञानप्रसार

यह तर्क भी पेश किया जाता है कि हिंदी और राष्ट्र की अन्य भाषाओं के व्यवहार से देश में ज्ञान के विस्तार का मार्ग बंद हो जायगा। यह बड़ा विचित्र तर्क है। जीवन के प्रत्येक

क्षेत्र में हमारी जनता के पिछड़ी रह जाने का प्रधान कारण साम्राज्यवादी सरकार द्वारा विदेशी माध्यम का आरोप था। अंग्रेजी हमारे विदेशी शासकों के हाथ में भारतीय सिविल सर्विस और अन्य सरकारी कर्मचारियों द्वारा काम में लाया जानेवाला एक निरोधक हथियार था। किसी लोकप्रिय माध्यम से ही लोक में ज्ञान का विस्तार किया जा सकता है। हमारे देश के लिये ऐसा माध्यम अधिकांश देश में मातृभाषा के रूप में व्यवहृत और शेषांश में आसानी से समझी जानेवाली भारतीय भाषा को छोड़कर कोई दूसरी भाषा नहीं हो सकती। किसी विदेशी माध्यम के लिये आग्रह करना शिक्षा के समस्त प्रतिष्ठित सिद्धांतों और राष्ट्रीय मर्यादा का उपहास है।

## (घ) समस्त नागरिकों के लिये समान अवसरों की स्थिरता

देश के कुछ भागों में बहस की जाती है कि हिंदी को भारत की राजभाषा मान लेने पर भारत के कुल नागरिकों की उन्नति के निमित्त समान अवसर की निश्चित संभावना न रह सकेगी। उससे हिंदीभाषियों का लाभ और अन्य भाषाभाषियों का अहित होगा। उनसे पूछा जा सकता है कि क्या अंग्रेजी के प्रयोग ने देश के प्रत्येक प्रदेश और वर्ग को यह समान अवसर दे रखा है। प्रत्यक्ष है कि ऐसा नहीं है। जो लोग सबसे पहले अंग्रेजी शासन और विदेशी माध्यम के शिकार हुए, आगे चलकर वे ही शेष जनता पर ब्रिटिश आधिपत्य के साधनों के रूप में विकसित होकर विशेषाधिकारी बन बैठे। सच बात तो यह है कि ऐसे लोगों को डर है किसी लोकप्रिय भाषा के प्रयोग से उनका यह विशेषाधिकार जाता रहेगा।

## (ङ) भारत के आत्मसंमान की रक्षा

अत्यंत भोंड़ी दलीलों से यह सिद्ध करने की चेष्टा की जाती है कि विदेशों में भारत के आत्मसंमान की रक्षा केवल अंग्रेजी से हो सकती है। जिसमें राष्ट्र के स्वात्माभिमान का लेश-मात्र भी होगा वह ऐसी दलील कभी न पेश करेगा। आज से दस वर्ष पहले, जब भारत गुलाम था, हमारे विद्याव्यसनियों और नौकरशाही का अंग्रेजी का ज्ञान आज से कहीं अच्छा था। लेकिन तब भारत कहाँ संमानित था? किसी राष्ट्र की प्रतिष्ठा और आत्मसंमान राष्ट्रीय स्वतंत्रता, समाज की आंतरिक विशेषताओं और कृतियों, राष्ट्रीय नेताओं के व्यक्तित्व और किसी राष्ट्रीय माध्यम से प्रकाशित सुदृढ़ अंतर्राष्ट्रीय नीति से बढ़ता है, न कि सदा उसकी अयोग्यता और पिछली गुलामी की याद दिलाने वाले विदेशी माध्यम के व्यवहार से। संसार के छोटे से छोटे राष्ट्र भी अपने अंतर्राष्ट्रीय मामलों में गर्व और शान के साथ अपनी राष्ट्रभाषा का प्रयोग करते हैं और वे आज राष्ट्रसंघ में उच्चतम स्थान रखते हैं।

## (च) हिंदी साम्राज्यवाद

हिंदी साम्राज्यवाद की गोल-मोल बात भी कही जाती है। ऐसी बातें फैलानेवाले सोचते हैं कि हिंदी के विरोध में कोई भी चुटकला ठीक है। देश के आधे से अधिक भाग में हिंदी बोली जाती और विचारविनिमय तथा सांस्कृतिक आदानप्रदान में व्यवहृत होती है। देश के शेष भागों में हिंदी से यह अपेक्षा नहीं है कि वह उन क्षेत्रों की स्थानीय भाषाओं का स्थान ले ले। संविधान ने हिंदी को केंद्रीय प्रबंध और अंतर्प्रांतीय आदानप्रदान का माध्यम बनाया है। यदि कट्टर प्रादेशिकता के कारण भारत को छोटे छोटे राज्यों में छिन्न भिन्न नहीं होना है

तो उसे देश की सर्वसामान्य बातों के लिये कोई सर्वसामान्य भाषा भी चाहिए ही। यह सर्वसामान्य भाषा, विदेशी साम्राज्यवाद की प्रतीक विदेशी भाषा किसी भी हालत में नहीं हो सकती।

## ( छ ) हिंदी और अन्य प्रांतीय भाषाओं की न्यूनताएँ

हिंदी या अन्य भारतीय भाषाओं को शासन-प्रबंध तथा शिक्षा का माध्यम न बनाने के तर्कों में एक तर्क यह भी है कि वे शब्दभांडार और साहित्य में दरिद्र हैं। मजे की बात तो यह है कि भारतीय भाषाओं और व्यक्तियों के विरुद्ध ऐसे ही तर्क युरोपवाले दिया करते थे। भारतीय संविधान के विरुद्ध गला फाड़नेवाले वर्तमान आलोचकों को छोड़कर दुनियाँ के किसी कोने का कोई भी व्यक्ति जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में अपनी ही भाषा के व्यवहार के विरुद्ध इस प्रकार के तर्क नहीं रखता क्योंकि वह मानता है कि प्रतिष्ठा और उन्नति का द्वार अपनी ही प्रतिभा और अभिव्यंजना के स्वाभाविक माध्यम से खुलता है। शिक्षा का विशुद्ध मौलिक नियम और लोकतंत्रात्मक जीवन का सार्वभौम सिद्धांत मातृभाषाओं द्वारा जनता को ज्ञानवान् और सुसंस्कृत करना है। भारतीय भाषाओं की कमी का मूल कारण जीवन और अभिव्यंजना में विदेशी माध्यम का छा जाना ही है। वे स्वयं तभी उपयुक्त हो सकती हैं जब शिक्षा और राज्यप्रबंध का माध्यम तथा सांस्कृतिक विनिमय का साधन बनें। भावव्यंजना की शक्ति के विचार से वे प्रौढ़ हो चुकी हैं। अनुवाद की समुचित व्यवस्था से साहित्य के कतिपय क्षेत्रों की कमी आसानी से पूरी की जा सकती है। इसके लिये यह बिलकुल अनावश्यक है कि भारत के समूचे जनसमुदाय से विदेशी माध्यम सीखने और व्यवहार करने की दासता और अपमान बरदाश्त कराया जाय। यह किसी भी देश की कल्पना के बाहर की बात है और भारत की सजग जनता ऐसी व्यवस्था कभी न सहन करेगी।

## ( ज ) प्रश्न का गोलमाल

इस झूठे प्रचार से कि अंग्रेजी को तुरंत हटाकर हिंदी स्थानीय भाषाओं को बेदखल करने जा रही है, जानबूझकर गोलमाल खड़ा करके लोगों को हिंदी के विरुद्ध उभाड़ा जा रहा है। इससे बड़ा असत्य दूसरा हो ही नहीं सकता। हिंदी स्थानीय भाषाओं को कदापि बेदखल न करेगी। हमारे लोकतंत्रात्मक संविधान में परस्पर संपर्क और सहयोग से भारत की समस्त भाषाओं के फूलने फलने की आशा की जाती है। एक देश और एक राष्ट्र के विकास के लिये वे आपस में घुल मिलकर एक दूसरी की समृद्धि बढ़ाएँगी। समान राष्ट्रीय माध्यम के बिना राष्ट्र की एकता की भावना का स्रोत ही सूख जायगा। राष्ट्रीय राज्यप्रबंध और शिक्षा के माध्यम से धीरे धीरे ही अंग्रेजी हटाई जायगी। परंतु ज्ञान के साधनों के रूप में अन्यान्य बहुत से गैर अंग्रेजी देशों की भाँति भारत में भी उसका व्यवहार होता रहेगा।

## ( ७ ) समग्र भारत का एक भारतीय राष्ट्र में विकास होने के लिये स्पष्ट दृष्टि और दृढ़ संकल्प की आवश्यकता

जान पड़ता है कि हमारे राष्ट्र के पुनरुत्थान और देश की स्वतंत्रता के महारथियों के क्रमशः उठते जाने पर वास्तविक भारत और उसकी आत्माभिव्यक्ति की अनंत शक्तियों की दृष्टि धुंधली होती जा रही है तथा राष्ट्र निर्माण के सच्चे पथ पर बढ़ते रहने के संकल्प में शिथिलता

आती जा रही है। राष्ट्रीय शिथिलता और देश की राष्ट्रविरोधी तथा प्रतिक्रियावादी शक्तियाँ द्वारा उत्पन्न जटिलताएँ राष्ट्र के वर्तमान व्यामोह की जड़ में की जड़ हैं। तुच्छ स्वार्थपरायणता, अविश्वास और खींचातानी राष्ट्र को खोखला करती जा रही है। हमें अपने अधिकारों को फिर से घोषित करना है और स्वतंत्रता, एकता और एक राष्ट्रीयता के आदर्श को पुनः प्राप्त करना है। भारतीय स्वतंत्रता के उदय काल में जब समान समस्या और बलिदान से हमारी आँखें खुली हुई थीं और जब स्वतंत्रता के आंदोलन के सक्रिय केंद्र में प्रतिक्रियावादी शक्तियाँ घुसने नहीं पाई थीं, गणतंत्रात्मक लोकतंत्र के आदर्श से प्रेरित स्वतंत्र भारत ने हमारे संविधान के रूप में एक नियमित वैधानिक उपकरण प्रस्तुत किया। भारत के प्रत्येक स्वतंत्रताप्रिय व्यक्ति का पुनीत कर्तव्य है कि इस संविधान का पूर्ण समर्थन करे और उसके उद्देश्यों और आदर्शों की सिद्धि में योग दे। भारत में भाषास्वातंत्र्य उसका एक प्रधान अंग है जिसके बिना एक राष्ट्र के रूप में हमारा विकास असंभव है। धैर्य और आपसी समझदारी से वर्तमान व्यामोह दूर हो जायगा। लेकिन आदर्शों की पकड़ को शिथिल न होने देना चाहिए।

### (८) ब्रिटिश साम्राज्य और उसके माध्यम अंग्रेजी का पुरावर्तन संभव और सह्य नहीं

भारत में अंग्रेजी का जमाना लद गया है और विभिन्न कार्यों में लगे हुए अंग्रेज प्रेमियों और पुराने राजभक्तों को कोई भी प्रयत्न उसे लौटाने में सफल न होगा। इसी प्रकार कोई भी गुप्त या प्रकट प्रयत्न ब्रिटिश साम्राज्यवाद के माध्यम अंग्रेजी-भाषा-की शाहंशाही नहीं चला सकता। जनसत्तात्मक सार्वजनिक लोकतंत्र की आत्मा इसके विपरीत है। भारत में अंग्रेजी भाषा सम्राज्ञी अथवा स्वामिनी दोनों में से कोई भी बनकर नहीं रह सकती। उसे मातृभाषाओं या राष्ट्रभाषा का जन्मसिद्ध पद कभी हड़पने नहीं दिया जा सकता। हाँ, ज्ञानार्जन के अतिरिक्त साधन की तरह उसका प्रयोग किया जा सकता है। इस समस्या का सदा के लिये एक वार फिर समाधान कर देना चाहिए।

### (९) लोककल्याण की सद्भावना और सहानुभूति

अपने सच्चे और आदरणीय प्रतिनिधियों द्वारा प्रस्तुत संविधान को समस्त देश ने ग्रहण किया था। संविधान के मूल में सारी जनता की आकांक्षा थी जिसे पुष्ट करने के लिये सामान्य भाषा और सामान्य संस्कृति की अपेक्षा है। समस्त जनता के प्रत्येक वर्ग के लोगों के प्रति अटूट सद्भावना और दूरदर्शिता के साथ बड़ी से बड़ी बाधा हटाते हुए सर्वसामान्य बंधनों को दृढ़ करना चाहिए। हर एक स्वाभाविक कठिनाई को नवजन्म की सहज पीड़ा के समान उदारता से समझते हुए पारस्परिक सद्भावना और सहयोग के साथ दूर करना चाहिए।

### (१०) मार्ग और साधन : संतुलित और समालोचित

हमें एक राष्ट्र और एक देश के सामान्य लक्ष्यों और आदर्शों को ध्यान में रखकर संविधान के राजभाषा और स्थानीय भाषाओं से संबद्ध अनुच्छेदों को सुगमता से कार्यान्वित करने के लिये सभी संभव मार्गों और साधनों की छानबीन और व्यवहार करना चाहिए। पारस्परिक सद्भावना और सहानुभूति से अपनी आंतरिक विषमताओं को मिटा सकना हमारी शक्ति के भीतर है, इसमें संदेह नहीं।

*

# निर्देश

## हिंदी

**साहित्य** — ( बिहार राष्ट्रभाषा परिषद, पटना ) वर्ष ८, अंक २, जुलाई, १९५७।

१ - बिहार का प्राचीन कला वैभव — श्री परमेश्वरीलाल गुप्त। प्राचीन भारतीय स्थापत्य का ऐतिहासिक अध्ययन।

२ - राजस्थानी कहावतों में तुक के विविध रूप — डा० कन्हैयालाल सहल।

३ - राजा नरवाहन—श्री वेदप्रकाश गर्ग।

४ - प्राचीन हस्तलिखित पोथियों का विवरण — बिहार राष्ट्रभाषा परिषद द्वारा प्रस्तुत।

५ - भारतीय अभिलेख कोश ( गतांक से आगे ) — डा० देवसहाय त्रिवेद।

६ - भारतीय शिलालेखों का परिचयात्मक विवरण।

७ - श्री हर्ष — श्री व्रजविहारी शरण। प्रियदर्शिका, रत्नावली और नागानंद का विवेचन तथा यह स्थापना कि उक्त रचनाएँ सम्राट हर्ष की ही हैं।

बँगला साहित्य में कृष्ण भक्ति विषयक रचना — श्रीमती अरुण हल्दार।

**भारतीय साहित्य** ( आगरा विश्वविद्यालय हिंदी विद्यापीठ ) वर्ष २, अंक २, १९५७।

१ - तमिल के संघकालीन साहित्य में भक्ति के विभिन्न रूप — श्री चंद्रकांत।

२ - बादल, हवा और मौसम से संबंधित शब्दावली — डा० अंबाप्रसाद 'सुमन'।

३ - पद्मावत के कुछ शब्दों पर पुनर्विचार — डा० वासुदेवशरण अग्रवाल।

४ - 'यकार' और 'वकार' के रागात्मक रूप — डा० विश्वनाथप्रसाद।

५ - दिवाली और लोकवार्ता — डा० सत्येंद्र।

६ - अंग्रेजी भाषा में प्रयुक्त भारतयी शब्दावली — श्री गोलोकविहारी धल।

७ - अंगरेजी के गृहीत शब्दों का लिंगनिर्णय — श्री कैलाशचंद्र भाटिया।

८ - भारतीय साहित्य में बारहमासा और षड्ऋतु वर्णन — डा० मंजुलाल र० मजुमदार, श्री शांति आँकड़ियाकर, श्री एस० भगीरथी, श्री के० मीनाक्षी सुंदरम तथा श्री एन० कुमार स्वामी राजा, श्री न० वी० राजगोपालन।

क्रौंचपद — श्री० वी० वी० आर० शर्मा। क्रौंचपद वृत्त का विवेचन।

**संमेलन पत्रिका** ( हिंदी साहित्य संमेलन, प्रयाग ) भाग ४३, संख्या ४, संवत २०१४।

१ - हंस संदेश : एक अनुशीलन — श्री राघवाचार्य। आचार्य श्री वेंकटनाथ देशिक के खंडकाव्य हंस संदेश का विवेचन।

२ - कूर्मांचलीय बोली के स्रोत — श्री देवीदत्त शर्मा। हिमालय से घिरे कूर्मांचल प्रदेश की बोली का तुलनात्मक अध्ययन।

३ - गूजरों की ऐतिह्य परंपरा — श्री श्याम परमार। गूजरों में प्रचलित परंपराओं का अध्ययन।

४ - आंध्र लोकगीतों में नारी भावना — श्री कर्ण राजशेष गिरिराव।

५ - राय शिवदास कृत सरस ग्रंथ : एक परिचय — डा० आनंदप्रकाश दीक्षित। आठ विलासों में विभक्त तथा हिंदी साहित्य संमेलन के संग्रहालय में सुरक्षित 'सरस ग्रंथ' का विस्तृत परिचय।

६ - कबीर की जन्मभूमि मिथिला : एक समाधान — श्री पारसनाथ तिवारी।

## अंग्रेजी

जर्नल आफ द आंध्र रिसर्च सोसायटी, खंड तेईस, जुलाई १९५४ से अप्रैल १९५६।

१ - कम्युनिकेशन इन उड़ीसा ड्यूरिंग मराठा रूल — डा० भवानीचरण राय। १८वीं शती के उड़ीसा के यातायात का अध्ययन।

२ - मिरजा सालेह इन उड़ीसा — डा० भवानीचरण राय। १८ वीं शती के मिरजा सालेह का इतिहास।

कंट्रोवर्सीज ओवर द इंट्रोडक्शन आफ प्राइमरी सिस्टम आफ एजुकेशन इन टु इंडिया — डा० मन्मथनाथ दास। १८ वीं शती के अंतिम चरण से १९ वीं शती के आरंभ से लेकर अंगरेजी शासन में आरंभिक शिक्षा के विभिन्न स्तरों का ऐतिहासिक विवेचन।

रघुदेवपुरम् कापरप्लेट इंस्क्रिप्शन आफ रघुदेव गजपति, डेटेड शक संवत १७७८ — प्रो० आर० सुब्बाराव। शक संवत १७७८ के उपर्युक्त ताम्रपत्रों का अध्ययन। ये ताम्रपत्र संख्या में पाँच हैं तथा इनके दोनों ओर अभिलेख हैं।

**बुलेटिन आफ द डेकन कालेज रिसर्च इंस्टीट्यूट,** पूना, खंड सत्रह, संख्या ४।

१ - ज्योतिष रत्नमाला आफ श्रीपति भट्ट — संपादक एम० जी० पंसे। ज्योतिष के अंतर्गत गणित या सिद्धांत तथा फलित या होरा दोनों ही का समावेश है। दोनों शाखाओं पर यहाँ प्रकाशित तथा सुसंपादित ग्रंथ ज्योतिष के लिये उपयोगी हैं। अंत में अभिधान भी है।

❀

# समीक्षा

## अरस्तू का काव्यशास्त्र

अरस्तू का काव्यशास्त्र पाश्चात्य काव्यशास्त्र की प्रथम व्यवस्थित रचना है। इसमें प्रायः उन सभी मूलभूत तत्त्वों का समावेश किया गया है जिनके आधार पर पश्चिमी काव्यशास्त्र का सम्यक् विकास हुआ है। अपने आप में इस ग्रंथ में अनेक त्रुटियाँ हैं। इसे अरस्तू ने या तो अपने शिष्यों को बोलकर लिखवाया होगा या फिर अपनी स्मृति के लिये कुछ स्वयं लिख रखा होगा। इसमें कुछ महत्त्वपूर्ण विषयों की व्याख्या अनिर्णीत अवस्था में ही रह गई है। कुछ सामान्य विषयों को अधिक तूल दे दिया गया है और कुछ के संबंध में विषयांतर हो गया है।

अपनी इन सीमाओं के बावजूद भी इसमें बहुत से ऐसे अंश हैं जो अपनी जगह पर आज भी अपरिवर्तनीय और अक्षुण्ण हैं। उसके काव्यशास्त्र पर विचार करते समय हमें यह नहीं भूलना है कि वह एक देश और काल में लिखा गया। उसने जो कुछ कहा है उसके मूल में यूनानी साहित्य और चिंतन क्रियाशील रहा है। फिर भी साहित्य के संबंध में उसने कुछ ऐसी मौलिक विचारणाएँ भी प्रस्तुत की हैं जो विचारकों के लिये सर्वदा प्रेरणाप्रद सिद्ध हुई हैं।

इस काव्यशास्त्र की विषयवस्तु दो युग्मों में सीमित है—वीर और व्यंग्य काव्य तथा त्रासदी और कामदी। त्रासदी का विकास वीरकाव्यों से हुआ है तो कामदी का व्यंग्य-काव्यों से। एक का विकास दूसरे में होने के कारण जो सिद्धांत वीरकाव्य (महाकाव्य) पर लागू है वही त्रासदी पर भी समझना चाहिए और जो व्यंग्यकाव्य के संबंध में उपयुक्त है वही कामदी के संबंध में भी। पर दुर्भाग्य से यह काव्यशास्त्र खंडित रूप में ही उपलब्ध है, इसलिये त्रासदी का विश्लेषण तथा इसके निष्कर्षों पर महाकाव्यों के आकलन का निर्देश तो उसमें प्राप्त होता है पर व्यंग्यकाव्य तथा कामदीसंबंधी विवेचन उसमें नहीं मिलता। संभवतः इसकी मीमांसा अप्राप्य अंश में हुई होगी।

अतः मुख्य रूप से इस काव्यशास्त्र में त्रासदी की ही विशद व्याख्या की गई है। इसके साथ साथ अरस्तू की दो अत्यंत महत्त्वपूर्ण उपलब्धियाँ जो इस ग्रंथ में दिखाई पड़ती हैं; वे हैं— अनुकृति सिद्धांत की पुनर्व्याख्या तथा प्रतिष्ठा और विवेचन का सिद्धांत। अतः अरस्तू की महत्ता को समझने के लिये इनके महत्त्व का विवेचन-विश्लेषण बहुत आवश्यक है।

डा० नगेंद्र और उनके सहयोगी ने अरस्तू के काव्यशास्त्र का जो प्रामाणिक अनुवाद किया है उसमें अरस्तू के मूल सिद्धांतों को यथावत रखने का प्रयास किया गया है। क्लासिकल ग्रंथों की अनुवाद संबंधी कठिनाइयों का ख्याल करते हुए उनका यह प्रयत्न बहुत ही श्लाघ्य बन पड़ा है। पर एक विद्वत्तापूर्ण भूमिका के कारण इस ग्रंथ की उपादेयता और भी बढ़ गई है। यों तो इस भूमिका में उक्त काव्यशास्त्र में उठाए गए लगभग सभी सिद्धांतों की छानबीन की

गई है पर अरस्तू की उपलब्धियों के विवेचन में, जैसा स्वाभाविक भी था, उन्होंने अधिक गहराई में पैठने का प्रयास किया है।

अपने निवेदन में अपनी योजना को स्पष्ट करते हुए उन्होंने लिखा है — 'हमारे विवेचन का क्रम यह रहा है — १. आरंभ में अरस्तू के अपने शब्दों में सिद्धांत की व्याख्या, फिर २. अरस्तू के व्याख्याकारों और पश्चिम के अन्य आलोचकों के अनुसार उसका विश्लेषण, और अंत में ३. भारतीय सिद्धांतों के प्रकाश में आख्यान और परीक्षण।'

पहले अरस्तू के अनुकृति सिद्धांत को ही लीजिए। पहले ही कहा जा चुका है कि यह शब्द अरस्तू को अपने गुरु प्लेटो से मिला था। लेकिन जहाँ प्लेटो ने इसके आधार पर कवि को अपने आदर्शराज्य से वहिष्कृत किया वहाँ अरस्तू ने उसी के आधार पर कवि तथा काव्य की उपादेयता प्रतिष्ठित की। अनुकृति शब्द का आदि प्रयोक्ता प्लेटो भी नहीं था। उसके पूर्व के अनेकानेक आचार्यों ने इसका प्रयोग स्थूल अर्थ में वास्तविक की प्रतिकृति के अर्थ में किया था। प्लेटो नें कला को वास्तविकता की प्रतिकृति या प्रतिकृति की भी प्रतिकृति माना। पर अरस्तू ने इस शब्द को नई अर्थवत्ता दी।

डा० नगेंद्र ने 'अनुकृति' शब्द की विवेचना के लिये बुचर, गिल्बर्ट मरे, एटकिन्स आदि की व्याख्याओं का हवाला देते हुए इस प्रसंग में स्वयं अरस्तू के उन विचारों को भी उद्धृत किया है जो उक्त शब्द की व्याख्या में सहायता पहुँचाते हैं।

अरस्तू ने एक स्थान पर कहा है कि कला प्रकृति की अनुकृति है। योरप में प्रकृति शब्द काफी विवादास्पद बना रहा। पर उसके विभिन्न उद्धरणों के आधार पर यही सिद्ध होता है कि प्रकृति में उसने जीवन के बहिरंतर को समेट लिया है। फिर भी उस शब्द की अपनी सीमाएँ हैं। इस पर विचार करते हुए डा० नगेंद्र ने बतलाया है कि अनुकृति (इमीटेशन या मिमेसिस) की संकुचित परिधि में कल्पनात्मक पुनर्निर्माण का ठीक ठीक अंतर्भाव नहीं हो पाता। अरस्तू के उद्धरणों के आधार कल्पनात्मक पुनर्निर्माण का अर्थ उसमें से भले ही निकाल लिया जाय, पर स्वयं यह शब्द उस अर्थ के भारवाहन में असमर्थ है। अनुकृति शब्द का अर्थ-संकोच वहाँ पर भी दिखाई पड़ता है जहाँ गीतिकाव्य इसकी सीमा में अंतर्भुक्त नहीं हो सका है। दूसरों के जीवन का अंतर्वाह्य, जीवन के पुनर्निर्माण के अर्थ में अनुकरण हो सकता है पर अपनी ही अनुभूति की अनुकृति कैसी ? क्रोचे की सहजानुभूति का संनिवेश भी अनुकृति-सिद्धांत के भीतर नहीं हो सकता।

भारतीय सिद्धांतों के प्रकाश में 'अनुकरण' का परीक्षण कई पृष्ठों में किया गया है। भारतीय सिद्धांतों की चर्चा करते समय भी इस बात का पूरा ख्याल रखा गया है कि विषय वस्तु को और भी गहराई में पैठकर देखा जाय।

'काव्यशास्त्र' का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण विषय है त्रासदी का विवेचन। इसकी परिभाषा करते हुए अरस्तू ने लिखा है — 'त्रासदी किसी गंभीर, स्वतःपूर्ण तथा निश्चित आयाम से युक्त कार्य की अनुकृति का नाम है जिसका माध्यम नाटक के भिन्न भिन्न भागों में भिन्न भिन्न रूप से प्रयुक्त सभी प्रकार के आभरणों से अलंकृत भाषा होती है, जो समाख्यान रूप में न होकर कार्य व्यापार रूप में होती है और जिसमें करुणा तथा त्रास के उद्रेग द्वारा इन मनोविकारों का उचित विरेचन किया जाता है।' त्रासदी को ठीक ठीक समझने के लिये विरेचन व्यापार को समझना अत्यंत आवश्यक है। इस सिद्धांत के संबंध में जमकर विचार किया गया है।

'अनुकृति' की भाँति अरस्तू ने विरेचन ( कथारिसिस ) की भी व्याख्या नहीं की है। पर यह सिद्धांत भी प्लेटो के उस आरोप का उत्तर था जिसमें कहा गया है कि 'कविता हमारी वासनाओं का दमन करने के स्थान पर उनका पोषण और सिंचन करती है।' 'कथारिसिस' शब्द चिकित्साशास्त्र का है और इसका अर्थ है रेचक औषधि द्वारा शारीरिक विकारों की शुद्धि। डा० नगेंद्र ने विभिन्न व्याख्याकारों का निर्देश करते हुए उसके तीन अर्थों — धर्मपरक, नीतिपरक और कलापरक का उल्लेख किया है। प्रो० बुचर के अर्थ की चर्चा करते हुए उन्होंने कहा है कि 'हमारा मत है कि विरेचन कलास्वाद का साधक तो अवश्य है—समंजित मन कला के आनंद को अधिक तत्परता से ग्रहण करता है; परंतु विरेचन में कलास्वाद का सहज अंतर्भाव नहीं है, अतएव विरेचन सिद्धांत को भावात्मक रूप देना कदाचित् न्याय नहीं है, यह व्याख्याकार की अपनी धारणा का आरोप है।'

इस विरेचन के द्वारा त्रासदी के मुख्य प्रयोजन की सिद्धि होती है। विरेचन सिद्धांत और आनंद की व्याख्या करते हुए डा० नगेंद्र ने अरस्तू के उद्धरण द्वारा बतलाया है कि त्रास और करुणा दोनों ही दुखद अनुभूतियाँ हैं पर मानसिक विरेचन की प्रक्रिया द्वारा यह कटुता अथवा दंश नष्ट हो जाता है और प्रेक्षक एक प्रकार की मनःशांति का उपभोग करता है। विरेचन द्वारा उत्तेजना समाहित हो जाती है और मन सर्वदा विशद हो जाता है। यह मनः स्थिति कटु विकारों से मुक्त होने के कारण निश्चय सुखद होती है — पीड़ा या कटुता का अभाव भी अपने आप में सुख है।'

इतना मान लेने में तो किसी को कोई हिचक नहीं है कि विरेचन द्वारा मनःशांति हो जाती है क्योंकि अतिरिक्त मनोविकारों का समंजन हो जाता है। पर यदि चिकित्साशास्त्र के विरेचन और अरस्तू द्वारा प्रयुक्त विरेचन में दूर तक समता देखी जाय तो निराश होना पड़ेगा। अरस्तू ने 'राजनीति' में संगीत के प्रभाव का वर्णन करते हुए लिखा है कि 'कुछ व्यक्ति 'हाल' की दशा में आ जाते हैं; किंतु हम देखते हैं कि धार्मिक रागों के प्रभाव से—ऐसे रागों के प्रभाव से, जो रहस्यात्मक आवेश को उद्बुद्ध करते हैं — वे शांत हो जाते हैं, मानो उनके आवेश का शमन और विरेचन हो गया हो।' एक विशेष प्रकार के मनोवेग का शमन उसी प्रकार के मनोवेग के प्रयोग से — उच्चकोटि के उत्तेजनात्मक संगीत के प्रयोग से — हो जाता है। किंतु यह त्रासदी की विरेचनक्रिया द्वारा कैसे संभव है? इस प्रश्न को महत्व देते हुए एबर क्रांबी ने लिखा है — 'दिस थियरी, हाउएवर, इज़ अन्साउंड इन इट्सेल्फ ह्वाट अरिस्टाटल सेज़ आफ म्यूज़िक मे बी ट्रू बट इन दैट केस, दि पर्सन्स हू वेयर क्योर्ड बाइ एक्स्टाटिक म्यूज़िक वेयर आलरेडी पास्ड बाई एक्सटासी। बट पेन आडियंस डज़ नाट गो इन्टू ए थिएटर इन ए स्टेट आफ पिटी एंड फियर।' यद्यपि डा० नगेंद्र ने उपर्युक्त प्रश्न को नहीं उठाया है फिर भी करुणरस के प्रसंग में विरेचन सिद्धांत और भारतीय रससिद्धांत की तुलनात्मक व्याख्या करते समय कदाचित उक्त तथ्य को ध्यान में रखा है।

करुणरस की विद्वत्तापूर्ण विवेचना करते हुए उन्होंने साफ कहा है कि जहाँ विरेचन-सिद्धांत अभावात्मक है वहाँ रससिद्धांत भावात्मक शुद्ध-बुद्ध आत्मा का 'आत्म-भोग'। अरस्तू के विरेचनजन्य प्रभाव और भट्टनायक अभिनव के रसगत अंतर को 'क्षतिपूर्ति' और 'लाभ' का अंतर कहना भी उपर्युक्त मत की पुष्टि करता है। एक सहृदय के रूप में भी कई शंकाएँ उठाकर वे अपने पूर्व निष्कर्ष पर ही पहुँचे हैं। पर यदि रस के अलौकिकत्व और दार्शनिक

भूमिका को छोड़कर उसके सामाजिक पक्ष को प्रधानता देते हुए विचार किया जाय तो कुछ अन्य महत्त्वपूर्ण उपलब्धियाँ भी प्राप्त हो सकती हैं।

इन प्रमुख सिद्धांतों के अतिरिक्त त्रासदी, कामदी, महाकाव्य, काव्य-भाषा और शैली, दोषविवेचन, अरस्तू का रस विवेचन और अरस्तू का योगदान – मूल्यांकन के संबंध में धैर्यपूर्वक विस्तृत विवेचन किया गया है। इस विवेचन में लेखक ने अरस्तू के काव्यशास्त्र पर अब तक प्राप्त अनेक विचारों को ध्यान में रखते हुए भारतीय काव्यशास्त्र तथा आधुनिक मनोविज्ञान के अपेक्षित सिद्धांतों का सुविचारित प्रयोग किया है। इधर डा० नगेंद्र ने भारतीय काव्यशास्त्र का जो अध्ययन और चिंतन किया हैं उसका पूरा उपयोग इस भूमिका में किया गया हैं। इसके प्रकाश में अरस्तू के काव्यशास्त्र और भारतीय काव्यशास्त्र के सूक्ष्म भेदक तत्त्वों को समझने में ही सहायता नहीं मिलती बल्कि इससे अरस्तू के काव्यशास्त्र को अपने आप में अधिक स्पष्ट किया जा सका है। इन समस्त विवेचनों की गंभीरता के संबंध में दो मत नहीं हो सकते। पर 'अरस्तू का रस-विवेचन' शीर्षक पाठकों को चौंकाए बिना नहीं रह सकता। यद्यपि डा० नगेंद्र ने इसे स्पष्ट करते हुए कहा है कि इसे मैंने सामान्य अर्थ में लिया है फिर भी इसकी विवेचनाप्रणाली पर पूर्वाग्रह की ऐसी छाप मालूम पड़ती है कि मैं इस प्रकरण से असहमति प्रकट करने के लिये अपने को बाध्य पा रहा हूँ। अनुवाद का अंश स्पष्ट, बोधगम्य और मूल भावों को सुरक्षित रखनेवाला है। अतः इसकी प्रामाणिकता असंदिग्ध है।

अरस्तू के काव्यशास्त्र का यह प्रामाणिक अनुवाद उन थोड़े से महत्त्वपूर्ण अनूदित ग्रंथों में है जो हिंदी की नई मर्यादा – राष्ट्रभाषा के पद पर अधिष्ठित होने की मर्यादा – को संपुष्ट और संवृद्ध करते हैं। मूल अंश में विद्वत्तापूर्ण और सुविचारित भूमिका जोड़कर इस ग्रंथ की उपादेयता कहीं अधिक बढ़ा दी गई है। भूमिका वैसी ही है जैसी एक 'क्लासिकल' ग्रंथ की होनी चाहिए। इस समय हिंदी के लिये ऐसे ग्रंथों के परिनिष्ठित अनुवाद की कितनी आवश्यकता है यह किसी से छिपा नहीं है। इसके लिये डा० नगेंद्र और उनके सहयोगी निश्चय ही बधाई के पात्र हैं।*

— बच्चन सिंह

## जैन साहित्य और इतिहास

श्री नाथूराम जी प्रेमी जैनसाहित्य और इतिहास के क्षेत्र के अग्रणी विद्वानों में संमानित स्थान रखते हैं। पिछले ५० वर्षों से वे इन दोनों विषयों पर महत्त्वपूर्ण शोधकार्य करते रहे हैं। उनके लेख जैनहितैषी, जैनसाहित्य-संशोधक, अनेकांत आदि पत्रों में प्रकाशित हुए हैं। उन लेखों का संग्रह इसी नाम से १९४२ में प्रकाशित हुआ था जो कितने ही वर्षों से अप्राप्य था। उसी का संशोधित, परिवर्तित और परिवर्धित संस्करण प्रस्तुत ग्रंथ के रूप में किया गया है। लेखों को यथासंभव तिथिक्रम के अनुसार सजाया गया है। लोकविभाग और तिलोयपण्णत्ति, शुभ चंद्रिकाज्ञानार्णव, पद्मसुंदर और रायमल्ल – ये तीन लेख लगभग फिर से लिखे गए हैं। उमास्वाती सभाष्य तत्त्वार्थ, वट्टकेरि का मूलाचार, रत्नकरण्ड के कर्ता

*अरस्तू का काव्यशास्त्र अनुवादक — डा० नगेंद्र, श्री महेशचंद्र चतुर्वेदी, प्रकाशक — भारती भंडार, लीडर प्रेस, इलाहाबाद।

और कूर्चकों का संप्रदाय – ये चार नए लेख इसी संस्करण के लिये लिखे गए हैं। 'देवनंदी का जैनेंद्र व्याकरण' शीर्षक लेख में देवनंदी का समय जो पहले अनिश्चित था अब नई सामग्री के प्रकाश में लगभग निर्णीत हो गया है ( छठी शताब्दी )। सोमदेव का नीतिवाक्यामृत' शीर्षक लेख में अनेक प्रमाणों से अब यह सिद्ध किया गया है कि वे जिस महेंद्रदेव राजा की सभा में थे। वे गुर्जर प्रतिहार वंश के कान्यकुब्जाधिपति महेंद्रपाल देव ( द्वितीय ) थे।

इस संग्रह के लेखों की प्रशंसा मुक्तकंठ से करनी चाहिए। यह उस प्रफुल्लित वाटिका के समान है जिसमें अनेक सुरभित कुसुमों का परिचय हमें मिलता हैं। लेखों के ऐतिहासिक और शास्त्रीय सौरभ से मन आनंद से भर जाता है। भारतीय विधान की स्वयं प्रेरित इतिहास-साधना का धरातल किस कोटि का हो सकता है – यह लेख इसके उदाहरण हैं। प्रेमी जी का नाम भारतीय संशोधकों के उस वर्ग में स्थान पाने योग्य है जिसमें श्री भगवानलाल इंद्रजी, रामकृष्ण गोपाल भंडारकर, गौरीशंकर हीराचंद ओझा, हरप्रसाद शास्त्री, काशीप्रसाद जायसवाल जैसे दिग्गजों के नाम हैं। भारतीय इतिहाससंशोधन एक कला है जिसकी सिद्धि महती साधना की अपेक्षा रखती है। निरंतर श्रम से वाङ्मय के इस क्षेत्र में जिस प्रातिभ चक्षु की उपलब्धि होती है उसका वरदान प्रेमी जी ने भी प्राप्त किया है – यह तथ्य इन विवेचनात्मक लेखों में सर्वत्र अंकित है। वाङ्मय और पुरातत्त्व दोनों पर जिसका समान अधिकार हो, दूर दूर बिखरे हुए सूत्रों को मिलाने की जिसमें क्षमता हो नए नए उन्मेष से अनुशीलन की जिसमें प्रज्ञा हो, जिसमें बुद्धिगत सत्यपरायणता और श्रम की अपरिमित शक्ति हो, वही भारतीय इतिहास का सच्चा साधक बन सकता है। श्री नाथूराम जी प्रेमी निःसंदेह इसी कोटि में आते हैं। अपने आयुष्य का वे अब ७६ वां वर्ष पूरा कर रहे हैं। शोध के क्षेत्र में उनकी देन अमूल्य है और उन्होंने इतिहास-शोधन का जो पथ प्रशस्त किया है वह औरों के लिये अनुकरणीय है। भारतीय इतिहास उस सुमेरु पर्वत के तुल्य है जिसका वपुष्मान उच्चभाव सामग्री का कण-कण संचित करके जोड़ता होगा। इसमें जितना श्रेय पुरातत्त्व की साक्षी को है उसमें किसी प्रकार कम साहित्य स्रोत से मिलनेवाली सामग्री को नहीं है। भारतीय इतिहास के ये दो रथ-चक्र हैं जो इनका सच्चा संतुलन सिद्ध कर सकता है वही इस महादेश का सच्चा इतिहासकर्ता बन सकेगा। प्रेमी जी के प्रस्तुत लेख हमें इस स्वर्ण युक्ति की शिक्षा देते हैं।

इस संग्रह के लेखों में जैन-वैय्याकरण देवनंदी और शाकटायन के समय, ग्रंथ, जीवन आदि से संबंधित सामग्री का सप्रमाण विवेचन किया गया है। यापनीयों का साहित्य ( लेख ३ ) इस विषय की मौलिक उद्भावना का श्रेय प्रेमी जी को ही है। जब दिगंबर-श्वेतांबरों के नुकीले भेद अस्तित्व में न आए थे उस संक्रांतिकाल में जैन धर्म, दर्शन और संस्कृति के क्षेत्र में यापनीय संघ सर्वप्रतिष्ठा संपन्न था। उनके संबंध में प्रेमी जी का शोधकार्य श्लाघनीय था। इस विषय को विस्तृत शोध निबंध के रूप में आगे बढ़ाने की आवश्यकता है। पद्मचरित और पौमचर्य लेख हिंदी साहित्य की स्रोत सामग्री की दृष्टि से उपयोगी है। विमल सूरिकृत पौमचर्य ग्रंथ में जैन रामकथा को ही अधिकृत करके वीर निर्वाण संवत ५३० ( वि० ६० ) में लिखा गया। यह आवश्यक है कि हिंदी क्षेत्र के लिये उसका एक अच्छा संस्करण प्रकाशित होना चाहिए जिसमें मूल अनुवाद और सांस्कृतिक टिप्पणियाँ दी गई हों। पौमचर्य के ही आधार पर बाद में पद्मचरित या पद्मपुराण की रचना की गई। इस लेख में प्रेमी जी ने जैन राम कथा के दो रूपों का अच्छा विवरण दिया है जिनमें से एक पौमचर्य और पद्मचरित

में तथा दूसरा गुणभद्र के उत्तर पुराण में मिलता है। हिंदी साहित्य की दृष्टि से पुष्पदंत स्वयंभू और त्रिभुवन स्वयंभू इन तीन अपभ्रंश कवियों पर लगभग साठ पृष्ठ की प्रामाणिक सामग्री अत्यंत पठनीय है। सौभाग्य से पुष्पदंत का महापुराण संपूर्ण, णायकुमार चरिउ और जसहर चरिउ और स्वयंभू की रामायण का एक अंश प्रकाशित हो चुका है। अतएव अब हमारे लिये उनके महत्त्व का मूल्यांकन संभव हो गया है। किंतु प्रेमी जी ने उनके विषय में जो लगभग ३५ वर्ष पूर्व लिखा था उसका मौलिक महत्त्व आज भी है। इस प्रकार जिनसेन, आशाधर, वादिचंद्र, वादिव सिंह, धनञ्जय, प्रभाचंद्र, श्रीचंद्र, शुभचंद्र, धनपाल, सोमदेव उमास्वाति आदि अनेक प्राकृत और संस्कृत के जैन लेखकों के विषय में प्रामाणिक परिचयात्मक सामग्री प्रेमी जी के इन लेखों की विशेषता है। भारतीय साहित्य और इतिहास के प्रत्येक अनुसंधानकर्ता के लिये ग्रंथ उपयोगी है। *

—वासुदेवशरण अग्रवाल

## दर्द दिया है

पिछले बीस वर्ष में हिंदी काव्य का विकास तीन प्रमुख धाराओं में हुआ है। काव्य को एक दिशा दी प्रगतिवादियों ने। यह काव्य साम्यवादी दर्शन से अत्यधिक प्रभावित है। कविता को दूसरी दिशा मिली प्रयोगवादियों से। इनकी रचनाएं फ्रायड के मनोविश्लेषणशास्त्र की छाया में पल रही हैं। साथ ही इस युग में गीतिकाव्य का विकास भी एक नई दिशा में हुआ। इसे नया गीति काव्य कह सकते हैं। 'नीरज' की गणना इसी अंतिम क्षेत्र के उन्नायकों में की जा सकती है।

'दर्द दिया है' नीरज का नया काव्यसंग्रह है। इसमें एक भावनाप्रवण गीतिकार के सभी लक्षण पाए जाते हैं। भाव के क्षेत्र में गहरी आर्द्रता और कला के क्षेत्र में सहज प्रेषणीयता इस काव्य की विशेषताएँ हैं। दृष्टिकोण मानवता की उदार भावना से अनुप्राणित है। करुणा और ओज के रूप में उत्साह और करुणा के रूप में गहरी व्यथा के दर्शन इस ग्रंथ में एक ओर से दूसरी ओर तक होते हैं। पर मूल स्वर इस काव्य का है आशावादिता का। कहीं भी कवि हताश होता हुआ नहीं प्रतीत होता।

प्रेम को इन्होंने बहुत ही व्यापक अर्थ में स्वीकार किया है। प्रेम की वह भावना जो लोक कल्याण की जननी है इनकी रचनाओं में बिखरी पड़ी है। उद्दीपन के रूप में प्रकृति का प्रभावशाली वर्णन भी इनके काव्य में पाया जाता है। अध्यात्मभाव की अभिव्यक्ति परिचित पथ से हुई है। उसपर उपनिषद ग्रंथों, कबीर, जायसी और रवींद्रनाथ सभी का प्रभाव यहाँ वहाँ पाया जाता है। देश की दशा और युग की पुकार इनकी कविता में पूरी पूरी प्रतिध्वनित है। संहार के विरुद्ध अपनी वाणी ऊँची उठाकर इन्होंने सृजन का पक्ष लिया है। युद्ध के विनाशकारी प्रभाव के विरुद्ध बोलते समय इनकी वाणी बड़ी आवेशमयी बन

*जैन साहित्य और इतिहास (संस्कृत, प्राकृत अपभ्रंश भाषाओं के विविध जैन ग्रंथों और उनके रचयिताओं का परिचय और इतिहास) लेखक — नाथूराम प्रेमी वितरक — हिंदी ग्रंथ रत्नाकर, बंबई। पृष्ठ संख्या २४+६०५ मूल्य ६.०० रुपए।

जाती है। देश की वर्तमान स्थिति के दृश्य इन्होंने यथार्थवादी दृष्टि से अंकित किए हैं। इन वर्णनों को साम्यवादी प्रभाव से प्रेरित न मानकर एक संवेदनशील हृदय की प्रतिक्रिया के रूप में ही स्वीकार करना चाहिए। सामान्य जीवन के सुख, आनंद और उल्लास के ये ऐसे प्रेमी हैं कि इनकी गणना सुंदरता के छोटे मोटे प्रहरियों में करनी चाहिए।

एक सफल गीतिकाव्य के सभी लक्षण 'नीरज' के काव्य में पाए जाते हैं। इनकी कला का लक्ष्य ऊँचा है, छंदों में विलक्षण प्रवाह है और स्थान स्थान पर पंक्तियों में अवर्णनीय माधुर्य, असाधारण चमक। यहाँ वहाँ व्यंग्य की जो छटा दिखाई देती है, वह भी स्पृहणीय है, पर संभवतः जनप्रिय होने के प्रयत्न में इन्होंने कहीं कहीं बहुत सस्ते और चलते छंदों का प्रयोग किया है। भाषा कहीं कहीं अधिक साहित्यिक होनी चाहिए थी, ऐसा अनुभव पाठक करता है। प्रतीक प्रायः पुराने हैं। कहीं कहीं ऐसा भी हुआ है कि इन्होंने अपने विचार गद्य में व्यक्त किए हैं और कुछ रचनाएँ अंग्रेजी में भी हैं। इस संग्रह में इनकी क्या सार्थकता है, यह मेरी समझ में नहीं आया। हिंदी में बहुत से विदेशी-विजातीय छंद ग्रहण कर लिए गए हैं। सच बात यह है कि ये छंद हिंदी की प्रकृति के अनुकूल नहीं हैं। हिंदी में यह जो ग़ज़ल, सोनेट और रुबाई लिखने का चलन चल पड़ा है, उससे हमारे काव्य की कोई श्रीवृद्धि नहीं हुई। 'नीरज' की रुबाइयों और मुक्तकों के लिये भी यही बात कही जा सकती है। उनमें न अर्थगांभीर्य है, न स्वच्छता, न निखार। छंदोभंग भी यहाँ वहाँ है ही जिससे पढ़ने में झटका सा लगता है। रचनाओं में कहीं कहीं आवश्यकता से अधिक आत्मश्लाघा है जो थोड़ी खटकती है।

एक बात और। आज के अन्य कवियों की भाँति नए युग का अभिशाप 'नीरज' को भी घेरे हुए है और वह यह कि काव्य का स्तर आज गिर गया है। पिछले बीस वर्ष में हिंदी ने एक भी प्रथम श्रेणी का कवि नहीं उत्पन्न किया। उसके कारण कुछ भी रहे हों; पर अभिव्यक्ति के स्तर का गिर जाना भी मुझे एक प्रमुख कारण लगता है। गीति काव्य के क्षेत्र में ही प्रासाद, निराला, पंत, महादेवी की कला का एक स्तर हैं; दूसरा स्तर है दिनकर, नवीन भगवतीचरण वर्मा की अभिव्यंजना शैली का; तीसरा नरेंद्र शर्मा, बच्चन, अंचल की अभिव्यक्ति का। इसके उपरांत आज के गीतिकार आते हैं जिनमें नीरज, रमानाथ अवस्थी, गिरिधरगोपाल आदि को ले सकते हैं। पर अब तो कला का ऐसा उतार दिन पर दिन होता जा रहा है कि वह जनसाधारण तक पहुँचने के बहाने एकदम साधारण होती चली जा रही है। आज के अधिकांश कवि—विशेष रूप से प्रयोगवादी कविता क्या लिखते हैं, बातचीत करते हैं।*

—विश्वंभर 'मानव'

## ईख और चीनी

प्रो० वर्माजी विज्ञानक्षेत्र में देश के उन कतिपय यशस्वी वयोवृद्ध विद्वानों में से एक हैं जो हिंदी के भंडार को वैज्ञानिक ग्रंथरत्नों से शीघ्रातिशीघ्र भरापूरा देखना चाहते हैं। इस कार्य में सतत संलग्न रहने के प्रयास में ही उन्होंने अपनी कुशल एवं प्रौढ़ लेखनी से शुद्ध एवं प्रावि-

* लेखक—'नीरज'; प्रकाशक—आत्माराम ऐंड संस, काश्मीरी गेट, दिल्ली; पृष्ठ संख्या २२६; मूल्य ४.००।

धिक रसायनशास्त्र के कई बहुमूल्य तथा प्रामाणिक ग्रंथ हिंदी जगत को प्रदान किए हैं। जिनमें "ईख और चीनी" एक है। हिंदी में प्राविधिक विज्ञान के ग्रंथ नहीं के ही बराबर हैं। ऐसी दशा में प्रामाणिक वैज्ञानिक ग्रंथ हिंदी में लिखने के लिये लेखक का परिश्रम सराहनीय है।

ईख और चीनी के संबंध की सभी जानने योग्य बातों का इसमें इतना विस्तारपूर्वक उल्लेख किया गया है कि यह ग्रंथ केवल विज्ञान के विद्यार्थी के लिये ही नहीं है वरन् सर्वसाधारण तथा ईख और चीनी में रुचि रखनेवालों के लिये भी ज्ञान का मूल्यवान स्रोत है। ग्रंथ के आरंभ में ईख और चीनी का ऐतिहासिक एवं पौराणिक महत्व बड़ी रोचक भाषा में दिया गया है। यह विषयांतर यद्यपि मुख्य प्राविधिक विषय से तो संबंधित नहीं हैं किंतु जनसाधारण के लिये विशेष रुचिकर है। ईख की पैदावार, उसकी फसल के लिये आवश्यक जलवायु, मिट्टी, खाद, ईख की फसल के शत्रु तथा भारत एवं विदेशों में की जानेवाली फसलों की पारस्परिक तुलना तथा तत्संबंधी आंकड़े, सारिणी, चित्र इत्यादि सहित कई प्रकरणों में विस्तृत विवेचन किया गया है जो किसान और कृषि के विद्यार्थियों के लिये विशेष उपयोगी हैं। ईख से चीनी प्राप्त करने की विविध विधियों का वर्णन भी विस्तार से किया गया है और इस संबंध में दिये गये आंकड़ों आदि की बहुलता से पुस्तक की उपयोगिता बढ़ गई है। सीठा (बैगास) से कागज और कृत्रिम रेशम (रेयन) आदि बनाने के प्रयोग एवं तत्संबंधी विभिन्न औद्योगिक विधियों का जो विस्तृत विवरण दिया गया है वह स्वयं एक अलग विषय है जिस पर एक ग्रंथ अलग ही लिखा जा सकता है। ईख और चीनी का विश्लेषण करनेवाली विभिन्न प्रकार की रासायनिक एवं भौतिक विधियों का विवरण पुस्तक के अंतिम कई अध्यायों में किया गया है — जिसके संकलन से पुस्तक का रूप गुटका कोश (हैन्डबुक) की तरह हो गया है। अर्थात प्रस्तुत पुस्तक में ईख और चीनी से संबंध रखनेवाली लगभग सभी बातें आ गई हैं।

पुस्तक की भाषा में प्रवाह है और साथ ही सरलता भी। पारिभाषिक शब्दों की अनुक्रमणिका से पुस्तक में कहीं कहीं दिये गये क्लिष्ट संस्कृत तथा अन्य शब्दों के समझने में विशेष सुविधा हो गई है। ऐसे उपयोगी एवं बहुजनहिताय ग्रंथ को हिंदी जगत् को प्रदान करने के लिये लेखक का कार्य श्लाघ्य है। सुंदर छपाई, स्पष्ट चित्रों एवं शुद्ध आंकड़ों से पुस्तक के वाह्य और आंतरिक आवरण आकर्षक बन पड़े हैं, जिसके लिये प्रकाशक और मुद्रक बधाई के पात्र हैं। यह ग्रंथ पुस्तकालयों, कृषि एवं ईख चीनी से संबंधित सभी विद्यालयों के लिये एक उपयोगी और आवश्यक संग्रहणीय ग्रंथ है।

**—गोपाल त्रिपाठी**

## रबर

प्रोफेसर वर्मा द्वारा प्रणीत पुस्तक "रबर" हिंदी भाषा में लिखी गई प्राविधिक विज्ञान की उन इनोगिनी पुस्तकों में से एक है जिसकी देश को आज आवश्यकता है। वर्माजी जैसे देश के वयोवृद्ध रसायनज्ञ का अपना अनुभव और उनका पांडित्य ही इस ग्रंथ की आधारशिला है और यही कारण है कि उनकी प्रौढ़ लेखनी में भाषा प्रवाह के साथ साथ कठिन विषय को जनसाधारण के समझने योग्य सरल भाषा में रखने की क्षमता है।

* लेखक — श्रीफूलदेव सहाय वर्मा, प्रकाशक बिहार राष्ट्र भाषा परिषद, संमेलन भवन, पटना — ३, पृष्ठ संख्या १६+३४०, मूल्य १२.००।

प्रस्तुत पुस्तक में रबर की पैदावार, रबड़ के पेड़ों की फ़सल के योग्य जलवायु, मिट्टी, विभिन्न प्रकार के पौधे, और उसकी ऐतिहासिक एवं भौगोलिक स्थिति पर पर्याप्त प्रकाश डाला गया है। प्राकृतिक रबर से विभिन्न प्रकार के रबर के सामान किस प्रकार बनाये जाते हैं – इस पर आवश्यक चित्रों सहित विभिन्न औद्योगिक विधियों को भली प्रकार समझाया गया है। कृत्रिम रबर बनाने तथा उससे बने सामानों के संबंध में दी गई विस्तृत जानकारी जनसाधारण और विज्ञान के विद्यार्थियों के लिये विशेष रोचक और लाभप्रद है। रबर एवं तत्संबंधित सभी विषयों की विवेचना पर्याप्त रूप से की गई है जिससे ग्रन्थ की उपादेयता और महत्व बढ़ गये हैं। अधिकांश पारिभाषिक प्राविधिक शब्द (टेक्नीकल टर्मस्) संस्कृत प्रधान हिंदी में ही दिये गये हैं। यदि साथ में उनके पर्यायवाची आंग्ल शब्द भी होते तो, कहीं कहीं जहाँ भाषा क्लिष्ट सी मालूम पड़ती है – विषय समझने में अधिक सुविधा हो जाती। हिंदी-अंग्रेजी शब्दानुक्रमणिका के साथ अंग्रेजी हिंदी शब्दावली का न होना एक आवश्यक कमी रह गई है। यह सब होते हुए भी पुस्तक हिंदी भांडार का एक उपयोगी ग्रंथ रत्न है जिसके लिये लेखक बधाई के पात्र हैं।

पुस्तक की छपाई सफाई अच्छी है। फोटो ब्लाक कुछ धुंधले उतरे हैं। मूल्य भी उचित रखा है। पुस्तक प्रत्येक विद्यालय, तथा पुस्तकालय के लिये यह आवश्यक संग्रहीत ग्रंथ है। हम प्रकाशकों को ऐसी पुस्तक हिंदी संसार को देने के लिये बधाई देते हैं।*

— गोपाल त्रिपाठी

## सूफ़ीमत और हिंदी साहित्य

सूफ़ीमत पर आचार्य पं० चन्द्रबली पांडेय का एक विद्वत्तापूर्ण ग्रंथ बहुत पहले निकल चुका है। पांडेय जी ने अत्यंत मनन और चिंतनपूर्ण ढंग से सूफ़ीमत-संबंधी आधारभूत तथ्यों तथा तत्वों की विवेचना की है। उसके संबंध में उनका अपना पक्ष है। उसीके प्रकाश में उन्होंने उसे विचारात्मक ढंग से प्रस्तुत किया है। उसमें संप्रदाय पर विचार किया गया है। सूफ़ी साहित्य की चर्चा तो प्रसंगतः आई है। दूसरी ओर डाक्टर जैन के इस ग्रंथ में सूफ़ी मत और हिंदी का सूफ़ी साहित्य दोनों ही समान रूप से विचारणीय विषय हैं। उनके लिये सूफ़ीमत के तत्वों का उद्घाटन इसमें इस प्रकार करना था कि इसके प्रकाश में हिंदी साहित्य में सूफ़ी धारा तथा उसपर उसके प्रभाव का विचार किया जा सकता। स्वाभाविक रूप से डाक्टर साहब ने बड़ी सफलतापूर्वक इन कार्यों के संपादन के लिये शास्त्रीय पद्धति का अनुसरण किया है। यथास्थान आवश्यकतानुसार अपना मत भी प्रकट किया है। फिर भी गौण रूप से एकाध स्थान को छोड़ कर इन्हें अपने किसी पक्ष का विशेष आग्रह नहीं।

शीर्षक की दृष्टि से प्रतिपादित विषय के तीन खंड हो जाते हैं — १. विदेशों में सूफ़ी मत का आविर्भाव तथा स्वरूपनिर्णय; २. उसका भारत में प्रवेश तथा भारतीय स्वरूप; तथा ३. हिंदी में इस स्वरूप की अवतारणा तथा प्रभाव। इसी विभाजन का अनुसरण करते हुए प्रारंभिक प्रकरणों में सूफ़ीमत के उद्भव, आविर्भाव, विकास, विश्वास तथा साधना के

* लेखक — श्री फूलदेव सहाय वर्मा, प्रकाशक बिहार राष्ट्र भाषा परिषद्, संमेलन भवन, पटना–३, पृष्ठ संख्या २३० मूल्य ६.००।

मूल आधारों पर विचार किया गया है। डाक्टर साहब ने उचित ऐतिहासिक वातावरण में सूफ़ीमत का स्पष्ट स्वरूप अनावृत करने में काफी सफलता पाई है। फिर भी इस प्रसंग में हम डाक्टर साहब का ध्यान इस तथ्य की ओर आकृष्ट करना चाहेंगे कि प्राचीन तथा मध्य काल में अरब का दक्षिणी भारत से व्यापारिक संबंध था। उस मार्ग से जो बहुत सी वस्तुएँ वे यूरोप के उपयोगार्थ ले जाते थे उनमें ज्ञान भी था। अतएव इसकी भी बहुत संभावना है कि उन्होंने उधर से ही अद्वैतवाद तथा उससे इतर भक्ति के उन सिद्धांतों को प्राप्त किया हो, जिनका वहाँ मूल था, फिर दोनों का मिश्रित प्रभाव सूफ़ीमत पर पड़ा हो।

आगे के प्रकरणों में भारत में सूफ़ीमत के प्रवेश तथा प्रसार के इतिहास के साथ ही, उसके अंतर्गत आनेवाले विभिन्न संप्रदायों का भी परिचय मिलता है। यहाँ यह स्पष्ट कर दिया गया है कि यहाँ की यौगिक, सगुण तथा निर्गुण भक्ति की शाखाओं का उनपर तथा उनपर उनका किस प्रकार प्रभाव पड़ा। इसी प्रसंग में इन भक्तिधाराओं के सिद्धांतों पर भी प्रकाश डालने की चेष्टा की गई है। इसके उपरांत अंतिम प्रकरणों में हिंदी के सूफ़ी कवि, काव्य तथा उनके प्रतिपादित सूफ़ी विचारों तथा तत्वों की विवेचना की गई है। सबके अंत में आधुनिक हिंदी साहित्य तथा उर्दू साहित्य पर सूफ़ी विचारों के प्रभाव को विवेचना है। उर्दू का इसमें समावेश इसलिये किया गया है कि डाक्टर साहब उसे हिंदी की ही एक शैली मानते हैं।

इसमें संदेह नहीं कि कुल मिलाकर विषय की स्थापना एकदम साफ तथा सरल ढंग से की गई है, जिससे अपने विषय पर पुस्तक बहुत ही उपादेय हो गई है। फिर भी प्रकाशित कराने के पूर्व डाक्टर साहब यदि इसके प्रकरणों की व्यवस्था पर अधिक ध्यान देते तो वह और भी सुंदर हो जाती। तीनों खंडों में एक विच्छिन्नता सी दिखाई देती है। वह नहीं होनी चाहिए थी।

इसके अतिरिक्त आपके कुछ मत हैं जिनसे अधिकांश लोगों का सहमत होना संभव नहीं। एक तो, आपने स्पष्ट तो नहीं किंतु भावरूप से, निर्गुणवादियों को सूफ़ियों के अंतर्गत गिनने की चेष्टा की है तथा यह दिखाने की चेष्टा की है कि ब्रह्म की पुरुष या नारी किस रूप में उपासना करने की चेष्टा की गई है, इसका कोई महत्त्व नहीं, यह विषय नगण्य है। इस प्रसंग में आप यह भूल जाते हैं कि विभिन्न मार्गों तथा उपास्य भावों की दृष्टि से धर्मों, संप्रदायों तथा मतों में विभिन्नता आती है। तात्त्विक दृष्टि से इन भेदों का कोई महत्त्व नहीं किंतु राष्ट्रीय, साहित्यिक, तथा शास्त्रीय अध्ययन की दृष्टि से इनका बहुत बड़ा महत्त्व है। वस्तुतः इसमें संस्कार तथा दृष्टिकोण का बहुत बड़ा प्रश्न छिपा पड़ा है। इसके अतिरिक्त हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि कबीर अथवा अन्य निर्गुण पंथियों ने, भले ही, स्थान स्थान पर प्रणयभाव के आधार पर अपनी अभिव्यक्ति की हो, किंतु वे ज्ञानमार्ग को ही मुक्ति का साधन मानते हैं। प्रणयभाव की अभिव्यक्ति उनकी मस्ती का परिणाम है विचार का फल नहीं। दोनों के वही भेद है जो शांकर अद्वैतवाद तथा सूफ़ियों के अद्वैतवाद में है।

इसी प्रकार उर्दू के संबंध में आपका जो आग्रह है वह व्यावहारिक दृष्टि से अग्राह्य है। क्या प्रकृति, प्रवृत्ति, लिपि, शब्दावली तथा सबकी दृष्टि से दोनों में आकाश पाताल का भेद नहीं है। शैलीगत भेद का समय तो डेढ़ सौ वर्ष पहले बीत चुका। दूसरे, इसी प्रकरण में आपने जो आग्रह किया है कि उर्दू में शरीअत से मुक्त सूफ़ीवाद ही है। वह भी स्वीकार्य्य

नहीं। उर्दू के अधिकांश कवि सूफी नहीं थे। उनकी सूफी भावोंवाली उक्तियाँ साधारणतः शोभार्थ, अभिव्यक्ति अथवा चमत्कार के लिये ही आई हैं। उर्दू काव्य ने अधिकांशतः क्या के स्थान पर कहने का जोर दिया है। अतएव विचारों का महत्व उनके इस मत अथवा संदेश की दृष्टि से जितना नहीं उतना अभिव्यक्ति की दृष्टि है। उनके काव्य में विशुद्ध सांसारिक प्रणयभाव अपने पूर्ण मादन अवयवों के साथ आया है।

सबकुछ होते हुए भी, यह निःसंकोच कहा जा सकता है कि इस कृति के द्वारा डाक्टर साहब ने राष्ट्रभारती की महत्त्वपूर्ण सेवा की है जो पूरे विषय पर अपने ढंग की अकेली पुस्तक है।*

— दिलीप

## बहता तिनका

हिंदी जगत में श्री कमल जोशी कहानीकार के रूप में प्रसिद्ध हैं। 'बहता तिनका' इनका प्रथम उपन्यास है। उपन्यास चरित्रप्रधान है। संमानित नारी बनने की कामना से एक वेश्यापुत्री द्वारा निरंतर किये जानेवाले प्रयास और इनमें लगातार असफलता की प्राप्ति इसकी कथावस्तु है। उपन्यास की कथा का संक्षेप इस प्रकार है —

'पथभ्रष्टा सावित्री कलाकार अजीत के साथ गृहस्थजीवन व्यतीत करती है। अजीत से उसे एक कन्या है, लता। अजीत का आकस्मिक निधन होने के बाद सावित्री उसे स्कूल में भर्ती कराती हैं किंतु संस्था पर होनेवाले आरोपों के कारण उसे होस्टल छोड़कर माँ के यहाँ आना पड़ता है। बार बार स्कूलों से निकाली जाने पर खिन्न लता को सावित्री दीक्षा दिलाने का विचार करती है और पुत्री की स्वीकृति से गोस्वामी नंदलाल को बुलाती है। नंदलाल की बातों से प्रभावित लता, माता की इच्छा का ख्याल कर दीक्षा तो ले लेती है किंतु चार ही महीने में साधना से उकता कर पुनः अध्ययन की ओर प्रवृत्त होती है। नंदलाल उसकी व्यवस्था शांतिदेवी के स्कूल में करा देते हैं और उसकी माता वृंदावन चली जाती है। मैट्रिक की परीक्षा देने के बाद तार पाकर लता वृंदावन जाती है। वहीं उसकी माता का निधन होता है। नंदलाल ही सब व्यवस्था करते हैं और लौटकर वह अपने पुराने घर कुछ दिनों के लिये रुक जाती है। इस बीच अजीत से संबंध होने के पूर्व का उसकी माँ का आवारा और बहुत दिनों से गायब भाई रतन अपनी मौसी के साथ आ धमकता है और संपत्ति पर अधिकार कर लेता है। आतंकित लता शांति देवी के यहाँ भाग जाती है। सूचना पाकर नंदलाल आते हैं और लता उनके साथ आश्रम चली जाती है।

आश्रम में लता का एक सरलहृदया युवती रानी के साथ संपर्क होता है और यहीं उसे अपने प्रति नंदलाल की कामुक भावनाओं तथा चेष्टाओं का ज्ञान होता है। रानी से यह जानकर कि उसे नंदलाल का गर्भ है और नंदलाल तथा रानी का पति दोनों ही रानी के गर्भ को गिरा

* लेखक — डाक्टर विमल कुमार जैन; प्रकाशक — हिंदी अनुसंधान परिषद्, दिल्ली विश्वविद्यालय की ओर से आत्माराम ऐंड संस, दिल्ली, - आकार डबल डिमाई, मूल्य ८.००; पृ० सं० — २७० ।

देना चाहते हैं, लता आश्रम से भागकर फिर शांति के यहाँ पहुँचती है। शांति के प्रयत्न से लता को एक प्राइमरी स्कूल में काम मिल जाता है जहाँ स्कूल के मंत्री और उनके दो युवक पुत्रों की गृद्धदृष्टि से अपने को किसी प्रकार बचाती हुई वह कालयापन करती है। यहीं निमोनियाँ की बीमारी के कारण उसे अस्पताल का आश्रय लेना पड़ता है जहाँ चिकित्सक नरेश से वह परिचित होती है। परिचय के बाद प्रेम और अंततः सिविल मैरेज। माँ की बीमारी की सूचना पाकर नरेश घर जाता है और वहाँ बलात् उसकी शादी कर दी जाती है। वापस आकर वह लता को सब बातें बता जाता है और दोनों साथ रहने लगते हैं। इस बीच नरेश की नौकरी लग जाती है और शीघ्र लता को बुलाने का आश्वासन देकर नरसिंहपुर चला जाता है। कुछ माह रुपए भेजता है पर बाद में पत्र का उत्तर तक नहीं देता। नरेश की खोज में लता शांति से सलाह लेकर नरेश के घर जाती है। वहाँ से तिरस्कृत होकर लौटते समय अकस्मात् ही वह नरसिंहपुर पहुँचती है। नरेश पर्दे की ओट में रहता है और अपनी सौत से प्रताड़ित हो जब वह लौटती है तो नरेश का भेजा एक व्यक्ति उसे ५०) के नोट देकर चला जाता है। उन्हें वह फाड़कर फेंक देती है और कटु व्यंग्य की अनुभूति के साथ वहाँ से लौट पड़ती है।'

साधारणतः उपन्यास की यही कथा है। एक व्यक्ति को केंद्र मानकर लिखे इस उपन्यास में घटनाएँ और पात्र दृश्यावली की तरह आते रहते हैं। लता के जीवन से जितनी देर जिसका संबंध है उतनी ही देर तक के लिये उसकी स्थिति रहती है। इससे रोचकता बनी रहती है और उपन्यास की भाषा चलती होने से ऊब नहीं पैदा होती। उपन्यास में नरेश और लता के प्रेम का क्रमिक विकास सुंदर एवं प्रभावकर ढंग से चित्रित किया गया है और नवें परिच्छेद के अंत में लता के हृदय में चल रहे द्वंद्व का उत्कृष्ट चित्रण है। लता के कथोपकथन में कुछ कटु व्यंगोक्तियाँ भी प्राप्त होती हैं जिनसे समाज के तथा पुरुषों के प्रति उसकी आंतरिक भावना व्यक्त होती है। जैसे —

"इच्छा होती है अपने शरीर को जानबूझ कर विकृत कर दे विकलांग बना दे। सुख से न सही शांति से तो रह सकेगी।" (पृ० ८७)

"मैं कैसे जीवित रह सकूंगी यह एक समस्या है। तुम्हारा पथ सहज एवं उन्मुक्त है, तुम्हें भला किस बात की चिंता?" (पृ० ११०)

"प्रेम सिर्फ आशावादी ही नहीं है – स्वार्थपर भी है।" (पृ० ११?) आदि।

नरेश का चरित्र प्रारंभ में ऊँचा है किंतु अंततः वह निम्नकोटि का ही रह जाता है। एक स्थल पर वह लता से कहता है – "तुमने क्या यह समझा था कि अपना मन बहलाने के लिये मैं सिर्फ तुम्हारे साथ "फ्लर्ट" कर रहा हूँ। लंपट और कामुक व्यक्तियों की तरह? "छिः!" किंतु अंत में ५०) के नोट के साथ उसका लिखा वाक्य "मुझे माफ करो" और वह भी बिना हस्ताक्षर के; उसके चरित्र को उपन्यास के अन्य पात्रों से भी निम्न बना देता है।

चरित्र की दृष्टि से शांति देवी का अपना एक स्थान है। वह नंदलाल की शिष्या है। युक्तिहीन अंधभक्तिवाली नारी के रूप में एक ओर वह गुरु की निंदा महापाप है अतः सुनना नहीं चाहती, किंतु दूसरी ओर वह लता की इच्छापूर्ति के लिये सचेष्ट रहती है। उसे समझाती भी है और गलतियों पर फटकारती भी है किंतु निरपेक्षभाव से, जैसे लता की उसे कोई

चिंता नहीं रहती। शांति का चरित्र और स्पष्टता की अपेक्षा रखता है। उपन्यास की एक स्त्रीपात्र रानी पुत्रशोक से कातर है। सरल हृदयवाली यह नारी युक्तिहीन अंधभक्त के रूप में आई है जिसके लिये गुरु नंदलाल ही सब कुछ हैं। इसके अतिरिक्त उपन्यास के अधिकांश पात्र कामुक, नीच, स्वार्थी, धोखेबाज और लंपट ही हैं।

वेश्याजीवन को आधार मानकर हिंदी में अनेक उपन्यास और कहानियाँ लिखी गईं। तुलनात्मक रूप में यशपाल की दिव्या और अब्बास कृत दुमारो इज़ आवर्स में पार्वती के चरित्र को लता के साथ लिया जा सकता है। इनका अंतर स्पष्ट है — दिव्या और पार्वती अपने स्वीकृत आदर्शों के अनुकूल एक दिशा प्राप्त कर लेती हैं, किंतु लता के संबंध में ऐसा कोई संकेत नहीं। उसके सामने केवल गंगा का शीतल जल ही आश्रय है या और कोई कर्मक्षेत्र इसकी ओर से लेखक उदासीन है। 'पत्थर की आँखें' नामक लेखक के कहानी-संग्रह में भी वेश्याजीवन से संबद्ध एक कहानी है "खिड़की"। जिसमें सीता को जो वेश्या-पुत्री है, उसकी माँ भलों का जीवन बिताते देखना चाहती है। किसी तरह उसकी शादी भी हो जाती है; पर पति की मृत्यु के बाद गिरधारी इसे कुछ ऐसी बातें बताता है जिनसे वह अपने पति के प्रति उस श्रद्धा को भी खो बैठती है जिनके सहारे वह शेष जीवन बिताना चाहती है। इसमें भी लेखक सीता को वहीं छोड़ देता है जहाँ आलोच्य उपन्यास में लता को। प्रस्तुत उपन्यास की कथावस्तु को यदि कहानी का रूप दिया जाय तो वह "खिड़की" का ही रूप ले लेगा। अंतर इतना ही रहेगा कि सीता पति के मृत होने पर गिरधर से कुछ बातें जानकर श्रद्धा खोती है और लता शांति देवी से सुनकर तथा अपनी आँखों देखकर। सीता का पति मृत है और लता का उसकी दृष्टि में जीवन्मृत। यह समता होते हुए भी यदि कहानी के बाद ही पाठक उपन्यास पढ़े भी तो रोचकता के कारण समाप्त ही करके छोड़ेगा। यह लेखक की अपनी लेखनशैली की विशेषता है। संक्षेप में उपन्यास सुरुचिपूर्ण एवं श्रेष्ठ है।*

— विश्वनाथ

## ए सिंपुल सदानी ग्रामर

प्रस्तुत व्याकरण में उन लोगों की भाषा का विवेचन है जो 'सदान' कहलाते हैं और छोटा नागपुर में आदिवासियों के बीच छोटे छोटे समूहों में विभक्त होकर बसे हैं। रीति, नीति, धर्म और भाषा में ये आर्यपरिवार के अंग हैं। जीविका की दृष्टि से इनमें से अधिकांश कुम्हार, जुलाहे, लुहार और मल्लाह आदि हैं।

पुस्तक इक्कीस अध्यायों में विभक्त है और व्याकरण की वर्णनात्मक पद्धति पर आधारित है। प्रथम दो अध्यायों में वर्णमाला और उच्चारण की विशिष्ट प्रवृत्तियों का उल्लेख है तथा शेष उन्नीस में पदों के अन्य भेदों और कहावतों आदि का समावेश। क्रियापदों और उनके प्रयोगों की चर्चा आपेक्षिक महत्व की दृष्टि से अधिक विस्तार से की गई है जो उचित ही है।

उच्चारण और व्याकरण की प्रवृत्तियों में यह भाषा अवधी और उसके पूर्व में बोली जाने-वाली भारतीय आर्यभाषाओं से घनिष्ट संबंध रखती है। उदाहरण के लिये, उच्चारण में स्वरागम के इन नमूनों को देखें—माइर ( मार ), मुलाकाइत ( मुलाकात ), बिपइत ( विपत्ति )

* उपन्यास–लेखक श्रीकमल जोशी; प्रकाशक नवयुग प्रकाशन २८१ चावड़ी बाजार, दिल्ली; पृष्ठ संख्या १२१; मूल्य २.००।

आफइत ( आफत ) आदि। कहना न होगा कि 'सदानी' के जिज्ञासुओं के अतिरिक्त उक्त भाषाओं के तुलनात्मक अध्येताओं के लिये भी इस कृति में मनन के योग्य सामग्री मिल सकेगी। पुस्तक छपाई में संतोषजनक और मूल्य में सर्वसुलभ है।

सदानी भाषा को अन्य भाषाभाषियों तक पहुँचाने की दिशा में किए गए इस सुबोध प्रयास का हम स्वागत करते हैं।*

— पूर्णगिरि

## हिंदू धार्मिक कथाओं के भौतिक अर्थ

जैसा पुस्तक के नाम से ही स्पष्ट है लेखक ने हिंदू धार्मिक कथाओं की भौतिक व्याख्या के लिये आधुनिक शोधपरक दृष्टिकोण अपनाया है। इसमें बिहार राष्ट्रभाषा परिषद् का दूसरा भाषण पुस्तकाकार किया गया हैं। पुस्तक में देवासुर, समुद्रमंथन, अदिति और दिति, अग्नि, इंद्र, अदितिवंशावली, रुद्र, दुर्गा, विष्णु, वाराह कूर्म मत्स्य तथा कृष्णलीला आदि का विश्लेषण किया गया है।

पुस्तक अच्छे ढंग से लिखी गई है, यद्यपि यह आवश्यक नहीं कि अनेक स्थानों पर पाठक का मतैक्य लेखक के साथ हो ही। उदाहरणार्थ पृष्ठ ५५ पर यह मत स्थिर किया गया है कि ऋग्वेद में इने गिने स्थानों पर अरमति की वंदना हुई है और अवस्ता में अमैंती को कृषिदेवी के रूप में अत्यधिक प्रधानता मिली। अतः संभावना है कि उमा, पार्वती, दुर्गा, काली के रूप संभवतः आर्य धर्म में बाहर से आकर मिले। किसी बहुत ठोस प्रमाण के अभाव में यह बात गले के नीचे नहीं उतरती। ऋग्वेद में थोड़ा भी उल्लेख स्वयं अपने आप में प्रमाण है कि उसका उल्लेख अभी तक तो प्राचीनतम ही है। हमारी समझ में पाश्चात्य विद्वानों का यह मत स्वीकार्य नहीं लगता।

यह तो अपने मत की बात है। परंतु निर्विवाद है कि पुस्तक अच्छी है और यह आवश्यक है कि हिंदूजीवन के प्रत्येक छोटे से छोटे अंग का सूक्ष्म अध्ययन किया जाय। इस पुस्तक के लिये लेखक तथा प्रकाशक दोनों ही धन्यवाद के अधिकारी हैं।†

— गोस्वामी

*

* लेखक पी० एस० नोरंगी, एस जे०; प्रकाशक — दि डी० एस० एस० बुक डिपो, पोस्ट बाक्स २, राँची, बिहार; पृष्ठ संख्या १६६, मूल्य १.००।

† लेखक श्री त्रिवेणीप्रसाद सिंह, प्रकाशक — विहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना। पृष्ठ संख्या ८+१२२ (आकार रायल अठपेजी), मूल्य सजिल्द ३.०० अजिल्द २.२५।

# हिंदी साहित्य का बृहत् इतिहास

प्रथम भाग

## हिंदी साहित्य की पीठिका

संपादक – श्री डा० राजबली पांडेय

( प्रिंसिपल — भारती महाविद्यालय, काशी हिंदू विश्वविद्यालय )

विगत ५० वर्षों के भीतर हिंदी साहित्य के इतिहास की प्रचुर सामग्री उपलब्ध हुई है। देश के स्वाधीन और हिंदी के राज्यभाषा हो जाने की घोषणा के बाद हिंदी भाषा और साहित्य का क्रमबद्ध तथा विस्तृत इतिहास प्रस्तुत कर देना एक दो व्यक्तियों के बूते के बाहर की बात थी। यही समझकर इस कार्य को सभा ने अपने हाथों लिया और हिंदी साहित्य के बृहत् इतिहास को १७ भागों में प्रस्तुत करने की योजना बनाई। हिंदी के सभी चोटी के विद्वानों और हिंदीप्रदेश की सरकारों ने इस योजना को मान्यता दी, सभा को इन सबका सहयोग प्राप्त हुआ और राष्ट्रपति श्री डा० राजेंद्रप्रसाद जी ने आशीर्वाद देने की कृपा की। कार्य द्रुतगति से अग्रसर हो रहा है और प्रथम भाग – **हिंदी साहित्य की पीठिका** – प्रकाशित हो गया है। विशाल हिंदी साहित्य को वास्तविक रूप में हृदयंगम करने के निमित्त जिन आनुषंगिक विषयों का परिचय अनिवार्य है उन सब ऐतिहासिक तथ्यों का समावेश इस पीठिका भाग में कर दिया गया है जो निम्नलिखित पाँच खंडों में विभक्त है –

१ – भौगोलिक, राजनीतिक तथा सामाजिक स्थिति – ले० श्री डा०राजबली पांडेय

२ – साहित्यिक आधार तथा परंपरा – ले० श्री डा० भोलाशंकर व्यास

३ – धार्मिक तथा दार्शनिक आधार और परंपरा – ले० श्री पं० बलदेव उपाध्याय

४ – कला – ले० श्री डा० भगवतशरण उपाध्याय

५ – वाह्य संपर्क तथा प्रभाव – ले० श्री डा० भगवतशरण उपाध्याय

विस्तृत अनुक्रमणिका . ८२५ पृष्ठ, रायल अठपेजी . ऐतिहासिक चित्र

पक्की जिल्द . ऐंटिक कागज . मूल्य केवल १८)

प्रकाशक

**नागरीप्रचारिणी सभा, वाराणसी**

प्रकाशक — नागरीप्रचारिणी सभा, वाराणसी।
मुद्रक—महताब राय, नागरी मुद्रण, नागरीप्रचारिणी सभा, वाराणसी

# नागरीप्रचारिणी पत्रिका

वर्ष ६२ संवत् २०१४ अंक ४

★



★

काशी नागरीप्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित

वार्षिक मूल्य १०) :: इस अंक का २॥)

# नागरीप्रचारिणी पत्रिका

वर्ष ६२
संवत् २०१४
अंक ४



काशी नागरी प्रचारिणी सभा

## विषयसूची

## पत्रिका के उद्देश्य

१ – नागरी लिपि और हिंदी भाषा का संरक्षण तथा प्रसार।

२ – हिंदी साहित्य के विविध अंगों का विवेचन।

३ – भारतीय इतिहास और संस्कृति का अनुसंधान।

४ – प्राचीन-अर्वाचीन शास्त्र, विज्ञान और कला का पर्यालोचन।

## सूचना

१ – प्रतिवर्ष, सौर वैशाख से चैत्र तक पत्रिका के चार अंक प्रकाशित होते हैं।

२ – पत्रिका में उपर्युक्त उद्देश्यों के अंतर्गत सभी विषयों पर सप्रमाण और सुविचारित लेख प्रकाशित होते हैं।

३ – पत्रिका के लिये प्राप्त लेखों की प्राप्तिस्वीकृति शीघ्र की जाती है और उनकी प्रकाशन संबंधी सूचना एक मास में भेजी जाती है।

४ – लेखों की पांडुलिपि कागज के एक ओर लिखी हुई, स्पष्ट एवं पूर्ण होनी चाहिए। लेख में जिन ग्रंथादि का उपयोग या उल्लेख किया गया हो उनका संस्करण और पृष्ठादि सहित स्पष्ट निर्देश होना चाहिए।

५ – पत्रिका में समीक्षार्थ पुस्तकों की दो प्रतियाँ आना आवश्यक है। उनकी प्राप्तिस्वीकृति पत्रिका में यथासंभव शीघ्र प्रकाशित होती है। परंतु संभव है उन सभी की समीक्षाएँ प्रकाश्य न हों।

नागरीप्रचारिणी सभा, काशी

# नागरीप्रचारिणी पत्रिका

वर्ष ६२ ] संवत् २०१४ [ अंक ४


## संदेशरासक के विचारणीय पाठ और अर्थ[1] – ३

हजारीप्रसाद द्विवेदी

[इस लेखमाला के दो अंश पहले प्रकाशित हो चुके हैं। उनके लिखने के समय तक मुझे संदेशरासक की मुद्रित प्रति का ही सहारा लेना पड़ा था। अब जयपुर के दिगंबर जैन भांडार की कृपा से संदेश रासक की एक और दुर्लभ प्रति प्राप्त हो गई है। लेखमाला के इस अंश में उस प्रति के पाठों का भी उपयोग किया गया है। मुझे यह सूचित करने में अत्यंत हर्ष हैं कि इसके पूर्व मैंने जो पाठ सुझाए हैं उनमें से कई का समर्थन इस प्रति से हो जाता है। इस प्रति में भी एक टीका है जो बहुत कुछ अवचूरिका से मिलती जुलती है, अंतर बहुत थोड़े स्थलों पर है। इस प्रति के पाठ और उस पर दी हुई टीका में कहीं कहीं विचित्र अंतर है। जान पड़ता है कि लेखक ने पाठ किसी और प्रति से लिया है और टीका किसी और प्रति से। इस लेख में 'ज' प्रति से इसी नवोपलब्ध प्रति का निर्देश है।]

२ – १०३ **पढ़िय ( पढ़ि ); वियसेविणु**

एय वयण आइन्निवि दीहर लोयणिहिं
पढ़िय अडिल्ल वियसेविणु मयणुक्कोयणिहिं ॥

दोनों टीकाकारों ने इसका अर्थ इस प्रकार दिया है – 'एतद्वचनमाकर्ण्य दीर्घतराक्ष्या मदनोत्कौकुच्यया अडिल्ला पठिता'। स्पष्ट ही इसमें 'वियसेविणु' शब्द का अर्थ छूट गया है। अर्थ है 'विकसित होकर'। चौदहवें पद्य में 'विअसउ' शब्द का प्रयोग 'विकसतु' अर्थ में हुआ है। 'विअस' धातु से 'एविणु' नामक पूर्वकालिक क्रिया के प्रत्यय से 'विअसेविणु' या 'वियसेविणु' रूप बनेगा। परंतु विकसित होने का हेतु क्या है। उसके बाद जो 'मयणुक्कोयणिहिं' है वह हेत्वर्थक तृतीया है। आकोयण और 'उक्कोयण' ( 'आकोचन' और 'उत्कोचन' ) का प्रयोग आँखों की विशेष प्रकार की मदनचेष्टा के अर्थ में पुस्तक में अन्यत्र भी हुआ है। यहाँ भी अर्थ वही है। द्वितीय पंक्ति में एक मात्रा अधिक है। 'ए' प्रति का 'पढ़ि' पाठ कदाचित् अधिक ठीक है।

१. नागरीप्रचारिणी पत्रिका वर्ष ६२, अंक १ ( संवत् २०१४ ) के आगे।

२ – १०४ **ताकं तहं** ( ताकं तह ? ) **महकंतहं** ( महकंतह ? )

जइ मइ णत्थि णेहु ताकं तहं,
पंथिय कज्जु साहि मह कंतहं ।
जं विरहग्गि मज्झणकंतह,
हियउ हवेइ मज्झ णक्कंतह ॥

यह पद्य अडिल्ला छंद में है । टिप्पणक में इसका लक्षण इस प्रकार दिया हुआ है –

चउपइ इक्कु जमक्कु जि दीसइ
अडिल छंदु सु बुहहि सलीसइ

अडिल्लच्छंदोलक्षणम्—चतुःपदेषु एक सदृशो यमको भवति ।
स विबुधैः अडिल्लच्छन्दः कथ्यते ।

अर्थात् जिसमें चारों पदों में एक समान यमक होता है उसे पंडित लोग अडिल्ल छंद कहते हैं । इसलिये एक समान यमक की दृष्टि से 'ताकं तह' और 'मह कंतह' पाठ ही उचित है क्योंकि शेष दो पदों में 'णक्कंतह' (नाक तक) और णक्कंतह (नक्तान्त तक) पाठ हैं। व्याकरण की दृष्टि से भी ताकं तह ( तर्कयामि तथा ) और मह कंतह ( मम कांतस्य ) पाठ ही अधिक उपयुक्त हैं ।

२ – १०५ **मयणाउहवहिय**

कहि ण सवित्थरु सक्कउ मयणाउहवहिय,
इय अवत्थ अम्हारिय कंतह सिव कहिय ।
अंग भंगि णिरु अणरइ उज्जगउ णिसिहि,
विहलंघल गय मग्ग चलंतिहि आलसिहि ॥

'मयणाउहवहिय' का अर्थ टिप्पनककार ने मदनशरव्यासया ( तृतीयांत ) किया है और अवचूरिकाकार ने 'मदनायुध वधिता' ( प्रथमांत ) किया है। दूसरा अर्थ मूल के अधिक निकट है । 'सक्कउ' क्रिया का कर्ता प्रथमांत ही होना उचित है । परंतु मदनायुध वधिता ( मदन-बाण-हता ) कदाचित् और भी उपयुक्त होता । 'विहलंघल' को दोनों टीकाकारों ने ज्यों का त्यों रख दिया है । फर्क इतना है कि टिप्पनककार ने 'विहलंघला' को नायिका का विशेषण माना है और 'गय' को एकदम छोड़ दिया है या यों कहना चाहिए कि 'विहलंघल गय' को नायिका का विशेषण समझ कर एक शब्द में ही व्याख्या कर दी है और अवचूरिकाकार ने इसे गति ( गय ) का विशेषण समझा है । 'शब्द कोश' में संपादक ने 'विहलंघल' का अर्थ 'विह्वल' किया है । परंतु यह शब्द 'विहलांग' से बना जान पड़ता है । प्राकृत में यह शब्द इसी से बना हुआ बताया जाता है । 'पाइअ सद्द महण्णव' के अनुसार भी यही अर्थ संगत है । 'सुर सुंदरी चरिअ' में ( १५–२०४ ) लगभग इसी प्रकार के प्रसंग में 'विअड्ढा विहलंघला पडिआ' का प्रयोग है । इस प्रकार इस शब्द को 'विहलांगी' माना जा सकता है और वह नायिका तथा गति दोनों का ही विशेषण हो सकता है ।

### २ – ११० 'तुरियउ' ( तुरिउ)

पढिउ भणइ पसयच्छि तुरियउ किं वज्जरहि

इसमें एक मात्रा अधिक है। उचित पाठ 'तुरिउ' होना चाहिए जो 'त्वरित' का अपभ्रंश रूप है। मुद्रित प्रति में इसका कोई पाठांतर नहीं है। मुझे प्रसन्नता है कि 'ज' प्रति में 'तुरिउ' पाठ ही मिला है। इसलिये इस पाठ के बारे में कोई शंका नहीं रह गई। यह पाठ छंद और व्याकरण दोनों दृष्टियों से ठीक है। यह और बात है कि 'ज' प्रति की टीका में इसका अर्थ 'किंतु' दिया गया है जो चिन्त्य है।

### २ – १११ पउक्कु ( पडिक्कु ? )

हियउ पउक्कु पडिउ दीवंतरि
णाइ पतंगु पडिउ दीवंतरि

दोनों टीकाकारों ने इसका अर्थ किया है 'मम हृदयं द्वीपांतरे पतितं शून्यं जातमित्यर्थः' 'ज' प्रति में भी यही अर्थ दिया गया है। मतलब यह हुआ कि 'मेरा हृदय द्वीपांतर में पतित है' अर्थात् शून्य है। परंतु इन सभी टीकाकारों ने 'पउक्कु' शब्द का अर्थ छोड़ दिया है।

'सी' प्रति में 'पडिक्कु' पाठ है जो ठीक जान पड़ता है। अर्थ है 'फड़ककर' ( फड़का हुआ ? )। मतलब यह हुआ कि पतंग जैसे फड़क कर दीप में पड़ जाता है वैसे ही मेरा हृदय भी उछल कर दूसरे द्वीप में चला गया है। 'ए' 'बी' और 'ज' प्रतियों में 'पियंगु ( या पयंगु ) णाइ पडिक्कु' पाठ है जो अन्वय की दृष्टि से सुंदर होगा। पतंग की भाँति फड़का हुआ। इसलिये 'पउक्कु' के स्थान पर 'पडिक्कु' पाठ ही ज्यादा उचित है। टीकाकारों ने कुछ अर्थ नहीं समझा और उसे छोड़ ही दिया।

### २ – ११२ उत्तरायणि, णिउइउ, तीयउ, होइयउ

उत्तरायणि वड्ढहि दिवस,
णिसि दक्खिण इहु पुव्व णिउइउ।
दुचिय वड्ढहि जत्थ पिय,
इहु तीयउ विरहायणु होइयउ॥

यह पाठ कई दृष्टियों से चिंत्य है। प्रथम तो छंद की दृष्टि से ही यह अशुद्ध है। ग्रंथ के हिसाब से यह 'चूडिलउ' ( २ – ११० ) छंद है जिसका लक्षण टिप्पनक में इस प्रकार दिया हुआ है –

दोहा छंदु जि दु दलु पढ़ि मत्त ठविज्जहिं पंच सु केहा।
चूडिल्लउ तं बुह मुणहु गुल्हु पयंपइ सच्चु सु एहा॥

अर्थात् दोहा छंद के बाद पाँच मात्रा जोड़ने से चूडिल्लअ बनता है। 'उत्तरायणि' में यदि मुद्रित प्रति के अनुसार 'त' का द्वित्व होना स्वीकार कर लिया जाय तो दोहा छंद नहीं बनता। इसलिये 'ज' प्रति में आया हुआ 'उतरायणि' पाठ ही संगत है। मुद्रित प्रति के

अनुसार प्रथम पंक्ति में १४ मात्राएँ होती हैं, जब कि दोहे में १३ मात्राएँ ही होनी चाहिएँ। दूसरी पंक्ति में दोहे की ११ मात्राएँ 'पुव्व' शब्द पर समाप्त हो जाती हैं। इसके बाद पाँच मात्राएँ और होनी चाहिए। 'णिउइउ' में चार ही मात्राएँ हैं। इसमें 'णिश्रोइउ' ( नियोजितं ) पाठ उचित है। यह केवल छंद की दृष्टि से नहीं व्याकरण की भी दृष्टि से उचित होगा। क्योंकि 'नियोजित' का 'णिश्रोइउ' पाठ ही व्याकरण-संमत है। 'ज' प्रति में 'णिश्रोयउ' पाठ दिया हुआ है, जो व्याकरण और छंद दोनों दृष्टियों से उचित सिद्ध किया जा सकता है। फिर भी मैंने 'णिश्रोइउ' पाठ संगत समझा है। इसका कारण आगे दिया जा रहा है। छंद की दृष्टि से चौथी पंक्ति भी चिंत्य है। इसमें 'विरहाय' तक दोहे की ११ मात्राएँ समाप्त हो जाती हैं। उसके बाद 'णु होइयउ' में छ मात्राएँ हैं। इसलिये यहाँ भी एक मात्रा अधिक है। 'होइउ' पाठ होता तो व्याकरण, छंद और तुक तीनों दृष्टियों से वह अधिक ग्रहणीय होता। 'तीयउ' का अर्थ है 'तृतीय'। लेकिन 'तीअ' या 'तीय' शब्द ही तृतीय के अर्थ में अधिक प्रयुक्त होता है। आगे वाला अकार जिसका प्रथमांत रूप 'उकार' हो गया है स्वार्थक प्रत्यय है, इसलिये निरर्थक सा ही है। कवि कठिनाई में पड़कर ही ऐसे स्वार्थक प्रत्ययों का व्यवहार करते हैं। मुझे लगता है कि पाठ 'तीयउ' नहीं था बल्कि 'तीउ अ' था। मेरे इस अनुमान की पुष्टि के लिये थोड़ा अर्थ विचार की आवश्यकता है। सभी टीकाकारों ने इनका अर्थ लगभग एक ही प्रकार से किया है जिसका भाव यह है कि उत्तरायण में दिन बढ़ते हैं, दक्षिणायन में रातें बढ़ती हैं ( यह पूर्व नियोजित हैं, अर्थात् पहले से तय है। टीकाकारों ने इस वाक्य का अर्थ छोड़ दिया है, इसलिये मैंने इसे कोष्ठ के अंतर्गत कर दिया है ) लेकिन जिसमें दोनों ही ( दिन और रात ) बढ़ जाते हैं, हे प्रिय, यह तीसरा 'विरहायण' उत्पन्न हो गया है। इतना लिखने के बाद तीनों ही टीकाओं में एक अर्थ-गर्भित वाक्य दिया हुआ हैं। वह इस प्रकार है—द्वयोर्हानौ तुर्यः सुखायनः चकारात्। अर्थात् दिन और रात दोनों ही जब छोटे हो जाते हैं तो चौथा 'सुखायन' होता है। वह पद्य में आए हुए 'च' शब्द से ध्वनित होता है। इस वाक्य का स्पष्ट अर्थ यह है कि जब दिन बढ़ता है तो उत्तरायण होता है, रात बढ़ती है, तो दक्षिणायन होता है, दोनों ही बढ़ते हैं तो 'विरहायण' होता है और जब दोनों ही घटते हैं तो 'सुखायन' होता है। मूल पद्य में तीन का उल्लेख है चौथे का नहीं। टीकाकार कहते हैं कि कवि के मन में यह चौथा भी था क्योंकि अगर ऐसा न होता तो 'च' शब्द का प्रयोग न करते। जब उसने कहा कि तीसरा 'विरहायण' भी ( च = भी ) होता है तो उसके मन में चौथे 'सुखायन' की भी कल्पना अवश्य रही होगी। लेकिन कठिनाई यह है कि पूरे पद्य में 'च' शब्द ( जो अपभ्रंश में 'अ' बन जाता है ) खोजने पर भी नहीं मिलता। निस्संदेह टीकाकारों को च ( अ ) कहीं-न-कहीं पद्य में मिला था। नहीं तो तीन तीन टीकाएँ एक स्वर से यह वाक्य न लिखतीं। 'च' शब्द तृतीय के बाद होना चाहिए या फिर 'विरहायणु' के बाद होना चाहिए। तभी ऐसा अर्थ निकाला जा सकता है। मेरा अनुमान है कि 'तीयउ' में 'तीय अ' या 'तीउ अ' ऐसा पाठ था, जिसका संस्कृत रूपांतर होगा 'तृतीयं च' जिसे बाद में लिपिकारों ने ठीक न समझने के कारण उलटकर लिख दिया। इन बातों को ध्यान में रखते हुए मेरा अनुमान है कि मूल पद्य का पाठ इस प्रकार रहा होगा—

उतरायणु वड्ढिहि दिवस,
णिसि दक्खिण हु पुव्व णिश्रोइउ।

दुच्चिय वड्ढिह जत्थ पिय,
इहु तीय अ विरहायणु होइउ ॥

व्याकरण छंद तुक और टीकाएँ, चारों दृष्टि से यही पाठ शुद्ध होगा।

२ – ११३ **तो जाइअइ अ कज्जि मइ अइआवलइ**

यह पद्य मुद्रित प्रति में इस प्रकार है –

गयउ दिवसु थिउ सेसु पहिय गमु मिल्हियइ,
णिसि अत्थमु वोलेवि दिवसि पुणु चल्लियइ।
बिंबाहरि दिण बिंब जुन्ह गोसिहि बलइ,
तो जाइअइ अ कज्जि मइ अइआवलइ,
जइ न रहहि इणि ठाइ पहिय ! इच्छहि गमणु,
चूडिल्लउ खड्हडउ पियह गाहाइ भणु ॥

पद्य का भाव यह है कि नायिका कहती है कि हे पथिक, दिन बीत गया। थोड़ासा बाकी रह गया है। अब जाने की बात छोड़ो। रात बिताकर फिर दिन में चलना। इस पर पथिक ने उत्तर दिया कि हे बिंबाधरे ! दिन में सूर्य के बिंब का प्रकाश प्रभात होते ही जल उठता है। मैं कार्य में जाने को उत्सुक हूँ। इस पर नायिका ने कहा कि हे पथिक यदि जाना ही चाहते हो, रुकना नहीं चाहते तो प्रिय से एक चूडिल्लउ, एक खड्हडअ और एक गाहा कह देना।

इसमें चौथी पंक्ति विचारणीय है। उस पंक्ति का अर्थ टिप्पनककार ने लिखा है "अतः कारणाद् रात्रावेव कार्ये उत्सुके मया गम्यते" और अवचूरिका में इस प्रकार अर्थ दिया गया है – मया औत्सुक्ये कार्ये गम्यते" और ज प्रति की टीका में 'मयि उत्सुक्ये अति कार्ये गम्यते' है। स्पष्ट है कि टिप्पनककार को जो शब्द मिला था उसमें कोई रात्रिवाचक शब्द था। परंतु अन्य दो टीकाकारों ने रात्रिवाचक किसी शब्द का अर्थ नहीं दिया है। या तो उन्होंने रात्रिवाचक शब्द का अर्थ करना छोड़ दिया है या उन्हें जो पाठ प्राप्त था उसमें रात्रिवाचक कोई शब्द नहीं था। हमने पहले कई पद्यों में देखा है कि ये टीकाकार कई बार मूल में आए हुए शब्दों की उपेक्षा कर जाते हैं। इसलिये मूल में रात्रिवाचक शब्द हो तो भी संभावना है कि टीकाकार उसे छोड़ गए हों। इस बात की पुष्टि 'ज' प्रति के मूल पाठ और टीका से होती है। 'ज' प्रति की मूलप्रति में 'रयणि' शब्द है किंतु टीका में उसका अर्थ नहीं दिया गया है। जो हो टिप्पनककार के सामने ऐसा पाठ अवश्य था जिसमें 'रात्रिवाचक' कोई शब्द था और 'ज' प्रति में तो वह है ही। मुद्रित प्रति की टिप्पणी में 'सी' आदर्श का पाठ इस प्रकार दिया हुआ है "रइणि तो जाइ हउ कज्जिहि आवलउ"। परंतु इस पाठ में छंद भंग है। मुद्रित प्रति के पाठ में भी छंदोभंग है। 'ज' प्रति का यह पाठ अधिक शुद्ध जान पड़ता है। इसमें छंदोभंग नहीं है, अर्थ स्पष्ट है और 'रयणि' शब्द के आने से टिप्पनककार द्वारा दिए अर्थ के अनुकूल भी है। पाठ इस प्रकार है –

रयणि तोइ जाइइउं कज्जि हउं आवलइ।

इसका अर्थ हुआ कि 'रात रहते ही जाऊँगा मैं कार्य के लिये अत्याकुल हूँ' यह पाठ उचित जान पड़ता है।

२ – १२० पच्चिल्लइ

अणरइ छारुच्छित्तु पच्चिल्लइ तज्जइ ताम दड्ढए
इहु अच्चरिउ तुज्झ उक्कंठि सरोरुह अम्ह वड्ढए।

सभी टीकाकारों ने 'पच्चिल्लइ' का अर्थ 'प्रेरयति' किया है। परंतु वस्तुतः यहाँ अर्थ होना चाहिए – और भी जलना या दहकना। प्राकृत में 'चिल्ल' धातु का प्रयोग इसी अर्थ में होता है। 'पाइय सद्द महण्णव' में यह शब्द और इसके प्रयोग दिए हुए हैं। हिंदी में 'चिलकना' और 'चिलचिलाना' इसी धातु से आए हैं।' टीकाओं में जो 'पुनः-अरति रक्षा युक्तः' लिखा है वह वस्तुतः राख का संस्कृत बना लिया गया है। किंतु मूल पाठ से स्पष्ट है कि 'क्षार' होना चाहिए जिसका अर्थ 'राख' भी हो सकता है और कोयला भी हो सकता है। पूरे वाक्य का अर्थ यह होगा – अनरइ (अरति) अर्थात् बेचैनी का क्षार (कोयला) क्षिप्त होते रहने से यह (विरहाग्नि) और भी प्रज्वलित हो उठती है। टीकाकारों ने 'पच्चिल्लइ' का अर्थ 'प्रेरयति' करके 'परलोकाय' भी जोड़ दिया है जो मूल पद्य में कहीं नहीं मिलता अतएव कष्ट-कल्पित है।

२ - १२१ णेय, परिवडिउ, रंजियउ, तह पय जपंइ

मुद्रित प्रति में पाठ इस प्रकार है।

खंधउ दुवइ सुणेवि अंगु रोमंचियउ
णेय पिम्म परिवडिउ पहिउ मणि रंजियउ
तह पय जपंइ मियनयणि सुणिहि धीरि खणु
किहु पुच्छउ ससि वयणि पयासहिं फुडुवयणु,

टिप्पणककार ने इसकी जो व्याख्या की है उसका भाव यह है वह पथिक खंधक और दुवइ सुनकर अंग में रोमांच-कंचुक हो गया अर्थात् उसके अंग में इस प्रकार रोमांच हुआ मानों उसने रोमों का कंचुक धारण कर लिया। तथा प्रेम नहीं गया। नायिका ने पथिक का मन रंजित किया। तथापि हे मृग नेत्रे! मन को धीर कर के कुछ पदों को कहो फिर वैसे ही मैं कुछ पूछता हूँ। यदि हे शशिवदने। स्फुट (प्रकट) बोलो।

अवचूरिका और 'ज' प्रति की टीका में भी लगभग यही अर्थ है, किंतु वहाँ 'रोमंचियउ' का सीधा अर्थ रोमांचित दिया है, 'रोमांचकंचुकोबभूव' इसी प्रकार 'परिवडिउ' का अर्थ 'परिपतित' दिया हुआ है। इतना ही अंतर है। अब यदि मुद्रित प्रति का पाठ स्वीकार कर लिया जाय तो दूसरी पंक्ति के अंश तक पथिक की अवस्था का वर्णन है और तीसरी पंक्ति से पथिक की उक्ति है। किंतु दोनों में ठीक संबंध स्थापित नहीं होता। अवचूरिका में 'तह पय जंपइ' का अर्थ 'तां प्रति जल्पति' दिया है जो उचित ज्ञान पड़ता है। किंतु टीकाकार का 'तथापि' अर्थ बिलकुल असंगत है। 'ज' प्रति में 'परिवडिउ' के स्थान पर 'परिवरिउ' पाठ है जो अधिक उचित जान पड़ता है। इसी प्रकार 'बी' प्रति का 'रंचियउ' पाठ साहित्यिक दृष्टि से

अधिक उपयुक्त है। 'प्रेम नहीं गया था' या 'प्रेम परिपतित नहीं हुआ' दोनों अर्थों की कोई संगति नहीं है। 'पहिउ मणि रंजियउ' अर्थात् 'पथिक का मन रंजित हुआ' के बदले 'पहिउ मण रंचियउ' अधिक सुन्दर पाठ है। जान पड़ता है कि टीकाकारों ने 'रंचियउ' का ठीक अर्थ न समझने के कारण उसे 'रंजियउ' बना दिया। 'रंचियउ' का सीधा संबंध तुलसीदास के 'मन जाहि राँच्यो' मुहावरे से है। बिहारी ने भी इस मुहावरे का प्रयोग इस पंक्ति में किया है – मन काँचै नाचै वृथा साँचै राँचै राम।

'परिवरिउ' का अर्थ है 'घिरना', आवेष्टित होना – इसका प्रयोग इसी अर्थ में 'सुपास नाह चरिय' – १२५ में मिलता है। 'णेय' शब्द अपभ्रंश में अवश्य ही 'नैव' के अर्थ में मिलता है। परंतु यह संस्कृत 'नेय' से भी बन सकता है; जिसका अर्थ होता है; 'ले आया हुआ' 'आरोपित', 'दूसरों से ग्रहण किया हुआ'। इस पंक्ति का पाठ 'ज' और 'बी' प्रतियों के आधार पर इस प्रकार होगा जो साहित्यिक दृष्टि से और भाषा की दृष्टि से भी उतम होगा क्योंकि 'मन राँच्यो' मुहावरे का प्रयोग बाद तक मिलता है और 'रोमंचियउ' का तुक 'रंचियउ' अधिक उपयुक्त है –

णेय पिम्म परिवरिउ पहिउमण रंचियउ

इसका अर्थ प्रथम पंक्ति के साथ मिलाकर इस प्रकार होगा – खंधक और द्विपदी को सुनकर पथिक रोमांचित हुआ और वह नेय-प्रेम अर्थात् नायिका के प्रेम का स्वयं अनुभव करके उस प्रेमानुभूति से परिवेष्टित हो गया और उसका मन भी रँच गया, अनुरक्त हो गया।

ऐसा अर्थ करने के बाद तृतीय पंक्ति का अर्थ स्पष्ट होता है। मुद्रित प्रति में जो पाठ है उसमें छंदोभंग है। वस्तुतः 'सी' प्रति का या 'ज' प्रति का पाठ ज्यादा उचित है। दोनों बहुत कुछ मिलते हैं। 'सी' प्रति का पाठ इस प्रकार है –

तह जंपइ मियनयणि सुणिहि धीरयसु खणु,

और 'ज' प्रति का पाठ है –

तह जंपइ मियणयणि णिसुणि तुह धीरि खणु,

भाव यह होगा कि पथिक उस अवस्था में प्राप्त होकर (तह) बोला 'हे मृग नयने! सुनो क्षण भर धैर्य धारण करो, इत्यादि; इसमें भी 'ज' प्रतिवाला पाठ और भी अच्छा है।

### ३ – १३७ दसणिहि, खयहि, कुसुम सरच्छयहि

मुद्रित प्रति में इस पद्य की तीसरी और चौथी पंक्तियाँ इस प्रकार हैं।

दसिउ दसणिहिं भुअंगि अंगु वंदणु खयहि<br>
खिवइ हारु खारुब्भवु कुसम सरच्छयहि

छंद की दृष्टि से ये दोनों पंक्तियाँ ठीक नहीं हैं। दोनों में एक एक मात्रा अधिक हैं। 'ज' प्रति का पाठ छंद, काव्यसौष्ठव और अर्थ सभी दृष्टियों से उत्तम है। वह इस प्रकार है –

दंसिउ दुसहु भुयंगि अंगि चंदणु तवइ
खिवइ हारु खारुब्भवु कुसमसरिच्छयइ।

'भुअंगि अंगि' में यमक तो है ही, इस पाठ को स्वीकार कर लेने से अर्थ भी स्पष्ट हो जाता है। अर्थ है 'दुःसह भुजंग के द्वारा दंशित चंदन अंग में तपता रहता है।' चंदन के साथ 'तवइ' क्रिया का प्रयोग कवि ने अन्यत्र भी किया है और ऐसे ही प्रसंग में –

हरियंदणु सिसिरत्थु उवरि जं लेवियउ,
तं सिहणह परितवइ अहिउ अहिसेवियउ

इसलिये यह पाठ कवि का संमत जान पड़ता है। "खिव" धातु का प्रयोग जलने के अर्थ में कवि ने अन्यत्र भी किया है –

"भयभेसिय अइरावइ गयणि खिवंतियइ" ।१४०

इसलिये ऊपर उद्धृत दूसरी पंक्ति का अर्थ यह होगा –

"क्षार से उत्पन्न हार फूल के बाणों द्वारा उत्पन्न क्षतस्थान पर ( घाव पर नमक छिड़कने के स्थान पर ) जलन करता है।" 'कुसुम सरच्छयइ' सप्तम्यन्त प्रयोग है और अच्छा अर्थ देता है। इसलिये मेरा प्रस्ताव है कि 'ज' प्रतिवाला पाठ स्वीकार किया जाना चाहिए। इसी प्रकार अंतिम पंक्ति मुद्रित प्रति में इस प्रकार है –

'उल्हवइ ण केणइ विरहज्झल पुणवि अंग परीहिंसयहिं'

छंद की दृष्टि से इसमें भी दो मात्रायें अधिक हैं। 'सी' और 'ज' प्रति का 'विरहहव' पाठ अधिक उचित है। कवि ने अन्यत्र अग्नि के अर्थ में 'हव' शब्द का प्रयोग किया है –

विरह हवि तविय तणु ।१३०

क्रिया रूप में भी इसका प्रयोग है –

हिवइ हवेइ मज्झ णक्कंतह ।१०४

इसलिये यहाँ भी 'विरहहव' पाठ कवि-संमत जान पड़ता है। 'परीहिंसयहि' की जगह 'परिहिंसियहि' पाठ व्याकरण-संमत भी है और कवि के 'परि' उपसर्ग के अन्यत्र प्रयोगों के अनुकूल भी है और छंद की दृष्टि से तो ठीक है ही। तुलनीय –

परिघोलिर ४६, परिभमण ५४, परितवइ १३५ इत्यादि।

इस पद्य की प्रथम दो पंक्तियों में ज० प्रति का पाठ इस प्रकार है –

विवसाविय रवियरिहि तवहि अरविय तवणि
अमियमओ विहु जणइ दाह विस जम्मगुणि।

यह पाठ अर्थ और छंद दोनों दृष्टियों से मुद्रित प्रति से अधिक शुद्ध और ग्राह्य है।

३ – १३८ **निभंति**

मुद्रित प्रति में यह दोहा इस प्रकार है –

> तणु घणसारिण चंदणिण अलिउ जि किवि चच्चंति
> पुणवि पिएण व उल्हवइ पियविरहग्गि निभंति।

इसमें 'निभंति' शब्द विचारणीय है। टिप्पणक में इसका अर्थ दिया हुआ है 'भ्रमो न' अर्थात् 'इसमें भ्रम नहीं है' और अवचूरिका में 'निर्भ्रंतम्' अर्थात् एकांत भाव से। 'ज' प्रति में 'अत्र भ्रमण' लिखा है जो वस्तुतः 'अत्र भ्रमो न' का अशुद्ध पढ़ा हुआ रूप है। जान पड़ता है कि ठीक पाठ 'निभंति' नहीं था बल्कि 'न भंति' था जिसका सीधा अर्थ हो सकता है – 'भ्रम नहीं' बाद में उसे गलत पढ़ लिया गया और उसे 'निभंति' पढ़ लिया गया। यह 'न भंति' पाठ अपभ्रंश परंपरा के अनुकूल है। हेमचंद्र द्वारा उदाहृत यह दो दोहों में आया है।

> आयइँ लोअहों लोअणइँ जाई सरइँ **न भंति**। ३६५।१

तथा –

> अइरिउ - रुहिरें उल्हवइ अइ अप्पणें न भंति। ४१६।१

३ – १४१

मुद्रित प्रति में यह पद्य इस प्रकार है :–

> गिंभ तवणि खर ताविय बहु किरणुक्करिहिं,
> पउ पडंतु पुक्खरहु ण मावइ पुक्खरिहिं,
> पय हत्थिण किय पहिय पयहि पवहंतयह,
> पइ पइ पेसइ करलउ गयणि खिवंतयह ॥

यह पूरा पद्य विचारणीय है। संदेशरासक के विद्वान संपादक ने अंतिम दो पंक्तियों को संदेहास्पद माना है ( देखिए नोट्स पृ० ६७ ) परंतु द्वितीय पंक्ति भी विचारणीय है। टीकाकारों के अनुसार इस पद्य का अर्थ इस प्रकार होगा –

'ग्रीष्म तपन की खर - उत्तप्त किरणों के उत्कर्ष से संवंधित जल पुष्कर से ( अवचूरिका० पुष्करावर्त के समान ) गिरता हुआ पुष्करियों में ( अव० नदियों में ) नहीं अंटता और मार्ग में प्रवसित पथिक जलधारा से पदत्राण हस्त ( हाथ में जूता लिए ) बना दिए गए हैं। आकाश में बिजली से ही करल ( पगदण्डक ) दिखलाई देते हैं और तरह से नहीं।'

जान पड़ता है कि टीकाकारों ने दूसरी पंक्ति के 'पुष्कर' का अर्थ 'बादल' किया है। 'अवचूरिका' में 'पुष्करावर्त' कहकर इसी तथ्य की ओर संकेत किया गया है। मेघदूत में कालिदास ने मेघ को 'पुष्करावर्त' का वंशज बताया था। तीसरी और चौथी पंक्ति में पाठांतर भी अनेक हैं। 'पयहत्थिण' शब्द का अर्थ है 'हाथ में पैर वाले'। 'पवहंतयह' का अर्थ 'प्रवास करते हुए' किया गया है, किंतु किसी पाठ से यह अर्थ समर्थित नहीं होता। यह 'पवहंतियइ' या 'पवहंतियहि' पाठ था जो अधिकांश प्रतियों में प्राप्त होता है। 'पेसइ' का अर्थ टीकाकारों ने 'प्रेक्षते' किया है। प्राकृत और अपभ्रंश में इसका बहुप्रचलित अर्थ है

'भेजता है।' 'करलउ' बिलकुल अपरिचित जान पड़ता है। टीकाकारों ने इसका अर्थ 'पगडंडक' किया है जो आधुनिक हिंदी की 'पगडंडी' से मिलता है। 'देशीनाम माला' में एक शब्द 'करड' है जो इससे मिलता है और जिसका अर्थ होता है 'कबुर रंग का' अर्थात कबूतर से मिलता जुलता हुआ रंग। 'गयणि' के स्थान पर 'सी' प्रति का 'गयण' पाठ अधिक उपयुक्त जान पड़ता है। प्रायः सभी प्रतियों में 'खिवंतियह' या 'खिवंतियइ' पाठ है। केवल एक प्रति में खिवंत यह पाठ है जो न प्रसंगानुकूल है और न टीकाओं में दिए गए अर्थ के अनुकूल है। वस्तुतः यह पद अब्दुल रहमान की कवित्व - शक्ति का उत्तम निदर्शक है। इसमें उन्होंने साभिप्राय विशेषणों और क्रियाओं का प्रयोग किया है जो एक और अर्थ को ध्वनित करते हैं। उसका एक अर्थ तो प्रायः वही है जो टीकाओं में दिया गया है किंतु दूसरा अर्थ रसपरक है और विरहिणी की अवस्था के अनुकूल है। अधिकांश पांडुलिपियों की और सुंदर अर्थ की दृष्टि से अंतिम दो पंक्तियों का पाठ इस प्रकार होना चाहिए। यह पाठ 'ज' प्रति के पाठ से बहुत कुछ मिलता जुलता होगा —

पयहत्थिण किय पहिय पहिहिं पवहंतियह
पइ पइ पेसइ करलउ गयण खिवंतियह

पूरे पद्य का अर्थ इस प्रकार होगा—

वर्षावर्णन से संबंधित प्रथम अर्थ—

ग्रीष्मताप से खर तप्त किरणों के संपर्क के कारण बादलों से झरता हुआ पानी (पउ पडंतु) पोखरियों में समा नहीं रहा है (ण मावइ - ) तुलनीय केशवदास, भाई कहाँ धौं य माएगी सूरति जो दिन द्वै यहि भाँति बढ़ैगी) ये पोखरियाँ रास्तों पर बढ़ती हुई पथिकों को पैर हाथ में लेने के लिये मजबूर कर रही हैं अर्थात पोखरियों का पानी रास्ते पर आ जाने के कारण पथिकों ने जूते अपने हाथ में ले लिए हैं। पद पद पर आसमान को जलानेवाली बिजली रास्ता दिखा रही है।

समासोक्ति द्वारा व्यंजित दूसरा अर्थ—

प्रथम पंक्ति का पूर्ववत ही होगा। दूसरी पंक्ति का प्रत्येक शब्द अर्थगर्भ हैं। 'पंउ पडंतु' का दूसरा अर्थ होगा 'पैर पड़ता हुआ।' 'णमावइ' का दूसरा अर्थ होता है 'नवाती है, झुकाती हैं। कवि यहाँ कहना चाहता है कि इस वर्षा काल में प्रेमियों की बड़ी दारुण अवस्था है। पैर पड़ते हुए बादलों को पोखरियाँ और भी झुका रही हैं या नहीं मान रही हैं। इसी प्रकार तीसरी पंक्ति से भी एक दूसरा अर्थ ध्वनित होता है। अर्थ यह है रास्ते में बहती हुई (निचली श्रेणी की स्त्रियाँ) पथिकों को पैर हाथ में लेने वाला बना रही हैं यानी पैर पड़वा रही हैं। चौथी पंक्ति का दूसरा ध्वनित अर्थ यह होगा—कबुर वर्ण का आकाश दुख पाती हुई विरहिणियों के पति को (पइ) पैरों के पास (पइ) भेज रहा है।

इस पद्य में निम्नलिखित शब्दों में श्लेष है—

पडउ पडंतु (१) गिरता हुआ पानी (२) पैर पड़ता हुआ
पुक्खरहु (१) पुष्कर (मेघ) से (२) पुष्कर को भी
णमावइ (१) नहीं अँटता (२) झुकाती है

पय हत्थिय ( १ ) जिन्होंने पैर हाथ में ले लिया है अर्थात् जिन्होंने पैर में पहना हुआ, जूता हाथ में ले लिया है वे ( २ ) पैर पर हाथ देने वाले

पहिहि पवहंतियह ( १ ) पथ पर बहने वाली ( २ ) चंचल स्वभाव स्त्रियाँ

पइ पइ ( १ ) पदे पदे ( २ ) पति पदे

पेसइ ( १ ) दीखता है ( २ ) भेजता है

करलउ ( १ ) पग डंडी ( टीका ) ( २ ) करड, कबूतर के रंग का कबुंर वर्ण वाला ( दे० दे० ना० ) खिवंतियइ ( १ ) विद्युत ( २ ) विरह की ज्वाला से जलने वाली विरहिणी।

### ३ - १४८ दुद्धर धर धारोह भरु

वर्षा वर्णन के प्रसंग में बादलों के वर्णन 'दुद्धर धर धारोह भरु' का अर्थ टीकाकारों ने किया है 'दुद्ध'र धारोघ भरं' अर्थात् 'दुद्धर धारा समूह से भरा हुआ'। लेकिन ऐसा अर्थ करने से 'धर' शब्द व्यर्थ हो जाता है। संदेश - रासक के विद्वान् संपादक को भी इस शब्द का अर्थ स्पष्ट न होने का संदेह हुआ था ( नोट्स पृ० ६७ ) मुझे जान पड़ता है कि यह शब्द व्यर्थ तो है ही नहीं, कवि की उत्कृष्ट निरीक्षण - शक्ति और कल्पना - नैपुण्य का निदर्शक है। इसमें बताया गया है कि मेघों का निपट निरंतर क्रम रूई के छोटे छोटे पहलों के समूह सजाए हुए से जान पड़ते हैं। देशी० ना० मा० में 'धर' शब्द का अर्थ 'रूई' और 'धार' का अर्थ छोटा दिया हुआ है। इस प्रकार 'दुद्धर' इसका विशेषण है। रूई के छोटे छोटे पहलों से भरे हुए के समान निविड भाव से निरंतर फैले हुए मेघ दुर्द्धर हो उठे हैं, यही विरहिणी नायिका का अभिप्राय है।

इसमें एक और भी अर्थ ध्वनित है। धर=धरा रणक्षेत्र, धारा=रणमुख ( दे० ना० ५ - ५६ ) ओह=उतरने वाले, अर्थात् युद्धक्षेत्र में उतरते हुए रणोन्मुख योद्धा। बादलों में दुर्द्धरता का आरोप 'धर धारोह भरु' के दूसरे अर्थ रणक्षेत्र में उतरने वाले भटों की ध्वनि से किया गया है। मतलब यह कि शब्दों का ऐसा प्रयोग किया गया है कि सहृदय के चित्त में रणोन्मुख भटों के साथ मेघों की तुलना स्वयमेव ध्वनित हो उठती है। समासोक्ति का यह पद्य उत्तम उदाहरण है।

### ३ - १५२ जंच ( जंचि ? )

किं जुत्तं सुकुलग्गयाण मुत्तूण जं च इह समए,
तड तडणतिव्व - घण घहण संकुले दइय वच्चंति।

इसमें 'जंच' शब्द विचारणीय है। टीकाकारों का बताया हुआ अर्थ यह है कि हे दयित जो लोग सुकुलोद्गत हैं अर्थात् सद्वंशजात है उनके लिये ऐसे समय में जब कि बिजली तड़तड़ा रही हो और जब घनघटन मेघ शब्दसंकुल हों अर्थात् मेघों की गड़गड़ाहट से व्याप्त हो, प्रिया ( दयिता ) को छोड़ कर जाना क्या उचित है! इस अर्थ में दो बार 'दयित' शब्द का प्रयोग है। एक तो है दयित संबोधन में और दूसरे दयिता को छोड़कर लेकिन मूल में केवल एक ही बार 'दइय' शब्द आया है जो संबोधनार्थक उचित जान पड़ता है। फिर मुत्तूण ( छोड़कर ) क्रिया का कर्म क्या है? मुद्रित प्रति में 'जं च' जो पाठ है

उससे अर्थ नहीं खुलता। किंतु 'ज' प्रति में और 'बी' प्रति में 'जंचि' पाठ है जो उचित जान पड़ता है। दे० ना० ( ३।४० ) में 'जच्च' शब्द पुरुष या नर का वाचक बताया गया है। अपभ्रंश में द्वित्व वर्ण के पहले अनुस्वार करके सरलीकरण की प्रथा प्रचलित ही है। इसलिये 'जच्च' या 'जंच' दोनों का अर्थ होगा पुरुष और 'जंचि' का अर्थ होगा नारी ( यहाँ स्त्री, विरहिणी )- इसलिए 'मुत्तूण जंचि' का अर्थ होगा स्त्री को छोड़कर। ऐसा अर्थ करने से टीकाकारों के अर्थ की संगति भी बैठ जाती है और 'मुत्तूण' क्रिया का कर्म भी अव्यवहित पश्चात् उपलब्ध हो जाता है। इसलिए 'जंचि' पाठ ही संगत है।

३ – १६४

## मरालागमि गहु तग्गमि

इस पद्य में अंतिम पंक्ति का अर्थ अवचूरिका में इस प्रकार दिया हुआ है – 'मरालीगमेऽगमे च मरामि' अर्थात् मराली के जाने और न जाने दोनों ही अवस्थाओं में मैं मरती हूँ। टिप्पनककार ने लिखा है कि उसके ( क्रौंच के ) आगमन से कमल मृणाल भी चले गए। पता नहीं कि टिप्पनककार ने यह अर्थ किस पाठ के आधार पर किया। परंतु जिस पांडु लिपि में टिप्पनक प्राप्त हुआ है उसमें ( बी ) में अंतिम पंक्ति का पाठ इस प्रकार है –

'मरिम मुरालागमि तग्गागमि'

कदाचित् 'तग्ग' शब्द का भाव 'तागा' समझ कर उन्होंने मृणालतंतु कर लिया है। परंतु फिर भी इस पाठ और इस अर्थ का कोई सामंजस्य समझ में नहीं आता। अवचूरिकाकार ने जो अर्थ दिया उससे लगता है कि पाठ कुछ इस प्रकार का रहा होगा –

'मरिम मरालागमिणहु तग्गमि'

यहाँ 'हु' हिंदी के 'भी' अव्यय के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है जिसका संस्कृत में अवचूरिका ने 'च' अर्थ दिया है 'मरालागमणि' का अर्थ हुआ 'मरालों के आगमन से और 'तग्गामि' का अर्थ हुआ 'उनके जाने से' अर्थ हुआ मराल के आगमन और गमन दोनों से मैं मरती हूँ। यहाँ 'मराल' शब्द अर्थ-गर्भ है। इसमें एक और अर्थ ध्वनित होता है। 'मराल' अर्थात् 'मरण वाला'। 'हु' अव्यय का 'भी' अर्थ में प्रयोग अन्यत्र भी है –

गहु कि हु कहइ। ६६

– 'किहु' अर्थात् कुछ भी।

३ – १८६ **कोसिल्लि**

मुद्रित प्रति में जिस पंक्ति में यह शब्द आया है, वह इस प्रकार है –

लइ ढुक्कउ कोसिल्लि हिमंतु तुसार भरु

टिप्पनक, अवचूरिका, और 'ज' प्रति की टीका में भी 'कोसिल्लि' का अर्थ 'कुशलेन', अर्थात् कुशलतापूर्वक दिया हुआ है। किंतु देशी नाम माला (      ) में इस शब्द का अथ दिया गया है – प्राभृतम्। इस अर्थ को स्वीकार कर लेने से इस पंक्ति का स्पष्ट अर्थ यह होगा – हेमंत तुषार - भार का उपहार लेकर आ पहुँचा; यह अर्थ निस्संदेह उत्तम है।

### ३ - १६२ सुडिय

टिप्पणककार ने इस शब्द को छोड़ दिया है लेकिन 'अवचूरिका' और 'ज' प्रति की टीका में 'सुडिताः संतः' कह कर चलता कर दिया गया है; कोई अर्थ नहीं दिया गया है। हेमचंद्र (४।१०६) ने सुड् धातु को 'भंज्' धातु का आदेश माना है। इसलिये 'सुडिय' का अर्थ होगा 'तोड़ा हुआ'।

### ३ - १६५ मत्त मुक्क ( मज्जमुक्क ), विवहगंधक्करसु, वरत्थणि, सीमंतिणिय,

'ए' प्रति के सिवाय बाकी तीनों प्रतियों में 'मज्जुमुक्क' पाठ है। केवल 'ए' में 'मत्तमुक्क' पाठ है। लेकिन तीनों ही टीकाओं में 'मात्रामुक्त।' अधिकः अर्थ दिया हुआ है जिससे ज्ञात होता है कि टीकाकारों के सामने 'मत्त-मुक्क' पाठ ही था। लेकिन अधिकांश प्रतियों में होने के कारण और अर्थ सौष्ठव के कारण 'मज्जमुक्क' पाठ ही ज्यादा ठीक है, जिसका संस्कृत रूपांतर 'मद्य मुक्त' होगा। इसी प्रकार 'ज' प्रति में आया हुआ 'विविह गंधुक्करसु' उत्तम है। सभी टीकाकारों ने इसका संस्कृत रूपांतर 'विविधगंधोत्कर्ष' दिया है। इससे 'विविहगंधक्कु रसु' रूप का बनना सहज है। नीचे की पंक्ति में 'इक्ख रसु' के साथ इसका तुक मिलाया गया है। इस दृष्टि से भी ऊपर की पंक्ति में 'रसु' ही होना चाहिए, 'रिसु' या 'रेसु नहीं'। 'वरच्छणि' पाठ भी चिंत्य है, यद्यपि सभी टीकाकारों के सामने यही पाठ रहा होगा क्योंकि सभी ने इसका अर्थ किया है 'वरोत्सवे'। मगर 'बी' और 'ज' प्रति में जो 'वरत्थणि' पाठ है वह ज्यादा उचित है, जिसका अर्थ है, 'वरार्थनी' अर्थात् वर की प्रार्थना करने वाली। आगे के 'पीणुन्नयथणिय' में 'थणि' के साथ इसका यमक भी है।

### ३ - १६६ उवाडयणि

इस शब्द का अर्थ टीकाकारों ने 'गर्दभी' किया है। प्रसंग यह है कि नायिका कह रही है कि मैंने प्रिय को बुला लाने के लिये अपने मन को दूत बना कर भेजा। प्रिय तो आया नहीं, मेरा मन भी वहीं प्रिय के पास रह गया। यह उसी प्रकार हुआ जैसे गर्दभी सींग के लिये गई और उसके कान भी खो गए। 'उवाडयणि' का अर्थ 'गर्दभी' समझने का कोई आधार नहीं है। 'ज' प्रति में 'वाडव्वणि' (वाडव्यणी) पाठ है। यह उचित पाठ जान पड़ता है। संस्कृत में 'वड़वा' घोड़ी को कहते हैं। उसी से बना हुआ 'वाडव्य' शब्द खच्चर के अर्थ में प्रयुक्त होता है। 'वाड़व्य' से अपभ्रंश का 'वाडव्व' बना है और उसी में 'णी' स्त्री लिंग प्रत्यय जोड़कर 'वाडव्वणी', 'खचरी के अर्थ में यहाँ प्रयुक्त हुआ है।

३ - २०८ मुद्रित प्रति में यह पूरा पद्य इस प्रकार है -

> पज्जलंत विरहग्गि - तिव्व झालाउलं
> मयरद्धउवि गज्जंतु लहरि घण भाउलं
> सहवि दुसहु दुत्तर विचरिज्जइ सब्भयं
> मह खेहह किवि दुग्गु वणिज्जइ णिब्भयं

टिप्पनककार ने इसका जो अर्थ किया है उसका भाव यह है :-

'मकरध्वज भी घन भाव से' भा – आकुल' भाव से प्रज्वलत् विरहाग्नि तीव्र ज्वालाकीर्ण रूप से गर्जन कर रहा है और मैं दुस्तर दुःसह भाव से सहन करती हुई सभय बनी रहती हूँ। परंतु सोचती हूँ कि मेरे स्नेह से अपीड़ित रह कर स्तंमतीर्थ नामक दुर्ग में मेरा प्रिय वाणिज्य करता है।

अवचूरिकाकार ने जो अर्थ किया है उसका तात्पर्य यह जान पड़ता है –

'प्रज्वलंत बिरहाग्नि तीव्र ज्वालाकुल में, मकरध्वज की भाँति गरजता हुआ (है) लहरी घन निविड प्रभा कान्त्या कुल दुःसह में सहन करके समय भाव से ही विचरण किया जाता है। मेरे स्नेह का कोई दुर्ग निर्भय भाव से वाणिज्य करता है।'

इस टीका में सप्तम्यंत विशेषणों का विशेष्य क्या है यह स्पष्ट नहीं होता। इसीलिये सारा अर्थ अस्पष्ट लगता है। किंतु 'ज' प्रति में यही अर्थ दिया गया है और वहाँ सप्तम्यंत पदों को प्रथमांत कर दिया गया है, जिससे लगता है कि ये सब विशेषण मकरध्वज के हैं। दोनों पाठों को यदि मिला कर अर्थ किया जाय तो अर्थ इस प्रकार बनता है –

'विरहाग्नि की तीव्र ज्वाला से आकुल मकरध्वज भी गर्ज रहा है, जो लहरी - घन - निविड - प्रभा - कांति से व्याकुल दुःसह और दुस्तर है, उसे सहन करके भयपूर्वक भ्रमण किया जाता है, किंतु मेरे स्नेह का कोई दुर्ग है जिसमें वह निर्भय वाणिज्य करता है।'

परंतु इतने से भी कवि का तात्पर्य स्पष्ट समझ में नहीं आता। चौथी पंक्ति में जो 'किवि' है 'ज' प्रति में इसके स्थान पर 'किं' है किंतु टीका में अर्थ 'किमपि' ही दिया है। इसका अर्थ प्रसंग के अनुकूल होना चाहिए। इसके पूर्व के छंदों में नायिका ने बसंत में रस गंध लुब्ध भ्रमरों की लुब्धता का वर्णन किया है। वे परस्पर मिलित कंटकों से विद्ध हो रहे हैं तो भी तीक्ष्ण कंटकाओं के दुःख की अवहेलना करके मधुपान कर रहे हैं। रस-लोभ से रसिक गण अपने शरीर की परवाह नहीं करते। प्रेम मोह में कोई पाप की आशंका भी नहीं करते—

विज्झंति परुप्पर तरु लिहंति
कंटग्ग तिक्ख ते गहु गणंति
तणु दिज्जइ रसि यह रसह लोहि
णहु पाउ गणिज्जइ पिम्म मोहि २६

इस मधु प्रेम व्यापार की क्रीड़ा को देखकर ही नायिका के मन में विस्मय हुआ और उसने यह छंद पढ़ा—

महु पिक्खवि विंभिउ मणिहि हूउ
सुणि पहिय कहिउ रवणिज्ज रूउ। २०७

इसलिये इसमें मधु-प्रेम में कष्ट पाने की बात होनी चाहिए और साथ ही विस्मय का भी कोई हेतु अवश्य होना चाहिए। यह विस्मय तभी हो सकता है जब ऐसी ही अवस्था में ऐसा कुछ घटता न दिखे। नायिका के मन की स्थिति से यह अनुमान किया जा सकता है कि जब सभी लोग प्रेम के लिये कठोर पीड़ा को सह कर भी प्रेम-पात्र की ओर कठिनाई के साथ

अग्रसर हो रहे हैं उसी समय उसी अवस्था में उसका प्रिय क्यों ऐसा नहीं कर रहा है। उसके मन में यह भी बात आ सकती है कि पुष्प भ्रमरों को रस के लोभ से अपना शरीर दे रहे हैं और वह भी इसी प्रकार रस-लोभ से अपने प्रिय को अपना शरीर अर्पण करना चाहते हैं। परन्तु फिर भी उसका प्रिय समस्त विघ्न बाधाओं के भय को दूर करके क्यों नहीं आ रहा है। जब सभी लोग भय और कष्ट की परवाह किए बिना दुस्तर तरण कर रहे हैं तो उसका प्रिय ही क्यों ऐसा भय और जोखिम नहीं उठा रहा है। उसके मन में यह भी वितर्क उठ सकता है कि कदाचित उसके प्रेम की ही कमजोरी है और यह प्रेम उसके प्रिय तक नहीं पहुँच रहा है। वह उसके प्रेम के लिये दुर्गम है। भ्रमरों के पुष्प तक पहुँचने में बाधक कंटक है। उन्हीं का भय या जोखिम नायिका के प्रिय के मार्ग का बाधक भयंकर समुद्र है। भ्रमर अगर कंटकों की उपेक्षा कर सकता है तो उसके प्रिय को भी समुद्र की उपेक्षा करनी चाहिए थी। परन्तु ऐसा नहीं हो रहा है यही विस्मय का हेतु है। इस दृष्टि से देखने पर इस पद्य का अर्थ इस प्रकार होगा—

दुःसह दुस्तर गर्जमान मकरध्वज को, जो जलती हुई विरहाग्नि की तीव्र ज्वाला से उसी प्रकार आकुल है, जिस प्रकार बड़वाग्नि की ज्वाला से समुद्र आकुल रहता है और जो धनी तरंगों की आवर्त से उसी प्रकार भ्रमाकुल है जिस प्रकार समुद्र हुआ करता है, सह कर भी सब लोग जोखिम उठाकर विचरण कर रहे हैं, किंतु मेरा प्रिय, मेरे स्नेह के लिये दुर्गम है बिना किसी प्रकार के भय या जोखिम को उठाए, निर्भय होकर वाणिज्य कर रहा है।

यहाँ 'दुग्ग' शब्द का प्रयोग करके कवि ने समासोक्ति के द्वारा यह भी बताना चाहा है कि भयंकर मकरध्वज (समुद्र) में स्थित दुर्ग जिस प्रकार उसकी भयंकरता से अप्रभावित रहता है उसी प्रकार मेरा प्रिय भी मकरध्वज (कामदेव) की भयंकरता से अप्रभावित है। टिप्पणक कार की व्याख्या 'मम स्नेहेन अपीडितः' वाक्यांश इसी बात की ओर इशारा करता है। जिस प्रकार समुद्रस्थित दुर्ग समुद्र की बाधाओं से निर्भय होकर व्यापार करता है उसी प्रकार मेरा प्रिय भी कामदेव की बाधाओं से निर्भय होकर व्यापार कर रहा है।

यहाँ मकरध्वज, झालाउल, लहरिवण, भाउल आदि शब्दों का प्रयोग करके कवि ने कामदेव के साथ ही भयंकर समुद्र की भी व्यंजना की है। मकरध्वज शब्द का प्रयोग करके उसने बताना चाहा है कि सभी लोग जब मकरध्वज ? (कामदेव) की भयंकरता की उपेक्षा कर रहे हैं तो उसका प्रिय ही मकरध्वज (समुद्र) की क्यों नहीं उपेक्षा कर रहा है। इसके बाद नायिका के चित्त में यह वितर्क उपस्थित होता है कि कदाचित उसका प्रिय उसके प्रेम के लिये दुर्गम है। 'मह रोहइ किवि दुग्ग' से तात्पर्य प्रिय से है। 'भय' शब्द का व्यवहार जोखिम के अर्थ में होता है।

३ – २१९ नच्चीयइ, वसंतकाल, हार, परिखिल्लरीहिं

'ज' प्रति का 'णच्चियइ' पाठ छंद और व्याकरण की दृष्टि से उचित है। 'बी' प्रति में 'वसंत कालु' के स्थान पर 'वसंत यालु' (वसंत - तालु) पाठ है जिसका अर्थ होगा 'अपूर्व वसंत - ताल (वसंत राग के ताल से) नाचा जा रहा है, जो उत्तम ज्ञात होता है 'परिखिल्लरी' का अर्थ टिप्पनककार ने 'परिवेष्टिता' किया है और अवचूरिका में 'परिखेलंती' अर्थ दिया है। दे० ना० मा० २७० में 'खिल्लिरी' का अर्थ 'संकेत' या 'अभिनय' दिया हुआ है जो यहाँ प्रसंगानुकूल जान पड़ता है। इससे 'परिखिल्लरी' का अर्थ होगा 'नाना प्रकार की आंगिक

चेष्टाओं को करती हुई'। इस प्रसंग में भी 'बी' प्रति का 'हारि' पाठ ज्यादा उचित है, अर्थ है 'हार द्वारा'।

### ३ – २२३ पहावरिउ, अणाइ, अनंत

'पहावरिउ' शब्द का अर्थ टीकाकारों ने 'पंथानं आवरयन्' किया है, अर्थात 'पथ को आवृत करता हुआ'। भाव यह हुआ कि ज्यों ही विरहिणी पथिक को संदेश देकर दक्षिण की ओर मुड़ी, निकट ही पथ को आवृत करता हुआ उसका पति दिखाई दिया और वह तुरंत हर्षित हुई ( आसन्न पहावरिउ दिट्ठु णाहु तिणि झत्ति हरसिय ) किंतु यह अर्थ कुछ स्पष्ट नहीं है। 'पहावरिउ' शब्द का अर्थ होगा 'पथा, वरित' अर्थात मार्ग से ढका हुआ या छिपा हुआ। मतलब यह हुआ कि पति तो उसका निकट ही आ गया था किंतु रास्ते के मोड़ के कारण आवरित सा था, दिखाई नहीं दे रहा था। 'पहावरिउ' शब्द का एक दूसरा अर्थ भी हो सकता है, प्रभा से आवरित। कवि 'पहावरिउ' शब्द के प्रयोग से दो अर्थ ध्वनित करना चाहता है। नायिका का प्रेमी मार्ग के मोड़ के कारण दिखाई नहीं दे रहा था लेकिन नायिका को देखने मात्र से 'प्रभावृत' भी हो गया—

रड्डा के अंत में जो दोहा है वह इस प्रकार है:—

जेम अचिंतउ कज्जु तसु सिद्ध खणद्धि महंतु
तेम पठंत सुणंतयह जयउ अणाइ अणंतु

अर्थ है जिस प्रकार उस नायिका का अचिन्तित महान् कार्य क्षणार्द्ध में ही सिद्ध हो गया उसी प्रकार पढ़ने सुनने वालों का भी हो, अनादि अनंत परम पुरुष की जय हो यही ग्रन्थ का भी अन्तिम दोहा है। इसलिये कवि का अनादि पुरुष का स्मरण कर लेना उचित ही है। किन्तु 'सी' प्रति में एक पाठ और भी है जो किसी टीकाकार की दृष्टि में नहीं पड़ा है। यह पाठ 'जयउ अणाइतु अंत', है अर्थात अनागत ( भावी ) अंत की जय हो' यदि यह पाठ स्वीकार किया जाए तो अंतिम पंक्ति का अर्थ इस प्रकार होगा –

'उसी प्रकार पढ़ने सुनने वालों के अनागत अंत की जय हो अर्थात पढ़ने सुनने वालों के मन में जो भी इच्छा हो उसका अंत भविष्य में जययुक्त होवे।' यह अर्थ इस दोहे को भगवान की स्तुति न बना कर सीधा सादा आशीर्वादात्मक भरत वाक्य के रूप में कर देता है।

( क्रमशः )

# महाभारत— एक ऐतिहासिक अध्ययन – २

## बुद्धप्रकाश

### वृक जाति का, प्रतीक भीम

'अर्जुन' नाम की जातीय व्यंजना के अध्ययन के अनंतर हम प्रसिद्ध गदाधारी भीम के नाम की गवेषणा करेंगे। भीम का एक उपनाम वृकोदर भी मिलता है।[१] यह लक्ष्य है कि वृक एक जाति का नाम है। पाणिनि ने वृकों की गणना क्षत्रिय संघों में की है।[२] इस संघ का सदस्य वार्कैण्य कहलाता था और संपूर्ण संघ की संज्ञा वृक थी। यह वार्कैण्य हखामनि सम्राट दारयवउश् के बहिस्तून अभिलेख में 'पार्थव' के साथ वर्णित 'वकान' का रूपांतर है। इस लेख में दारयवउश् ने लिखा है कि पार्थव और वकान ने उसके विरुद्ध विद्रोह किया और वे फ्रवर्तिश् से जा मिले जिसे उसके पिता विश्तास्प ने परास्त किया।[३] अवेस्ता में इस शब्द का रूप 'वेहकान' है, आरमीनी में यह 'वकन' हो जाता है, यूनानी में इसका पाठ 'उरकानिया' बन जाता है और इसका वर्तमान उच्चारण है 'हिरकानिया'। आजकल यह शब्द पार्थिया के उत्तर में केस्पियन सागर के पूर्वी कोने के प्रदेश के लिये व्यवहृत होता है। संस्कृत में 'वृक' शब्द का अर्थ भेड़िया है और यही अभिप्राय फारसी शब्द 'गुर्ग' का भी है। अतः 'गुर्गान' नामक प्रांत जिसमें अस्तराबाद का प्रदेश भी संमिलित है प्राचीन हिंदी - ईरानी जनपद वृक - वकान का द्योतक है। उत्तर पश्चिम की बहुत सी भाषाओं में वृक शब्द के प्रयोग पाए जाते हैं। इश्काशमी में 'वेर्क' और युइदगा के 'वुर्क', 'वुर्ग' इसके अवशेष हैं। वीमा कदफिसस् के मथुरा के देवकुल के जीर्णोद्धार और निरीक्षण के अध्यक्ष एक शक कर्मचारी की उपाधि 'बकनपति' या 'बर्कनपति' थी जिससे ज्ञात होता है कि यह अधिकारी वृकों से संबंधित था या जैसा कि श्री काशीप्रसाद जायसवाल का सुझाव है, यह हिर्कानिया का निवासी था।[४] महाभारत में भी वृक जाति के कई उल्लेख मिलते हैं, यद्यपि कुछ स्थलों पर पाठ बड़ा विकृत हो गया है।[५] श्री वासुदेवशरण अग्रवाल के मतानुसार 'वृक' का बहुवचन रूप 'वृकाः' शक हौमवर्क

१. **श्रीमद्भगवद्गीता,** १।१५ पौण्ड्रं दध्मौ महाशंखं भीमकर्मा वृकोदरः; **किरातार्जुनीय** २।१।

२. **पाणिनिसूत्र** ५।३।११५ वृकाहेण्यण्; भट्टोजी दीक्षित ने इस सूत्र पर लिखा है 'आयुधजीविसङ्घवाचकात्स्वार्थे। वार्केण्यः'

३. सुकुमार सेन, **ओल्ड पर्शियन इंसक्रिप्शंस** पृ० ४८ थातिय दारयवउश् ख्शायथिय पर्थव उत वकान हामिस्सिया अब व इच म फ्रवर्तिश् अगौबन्ता विश्तास्प मना पिता हौव पर्थवैय आह···अवदा हमरनं अकुनौश् हदा पर्थवैबिश्।

४. **जर्नल ऑव दि बिहार एंड उड़ीसा रिसर्च सोसायटी** भाग १६ पृ० २५८।

५. **महाभारत** ६।१०।६०; ११।७६; ४।५८; देखिए रावर्टशेफर, **एथनोग्राफी आव एंशियेंट इंडिया** पृ० ७६–१४६।

या शक हौमबर्ग पद के 'वर्क' या 'वर्ग' अंश का परिचायक है।[६] किंतु कुछ विद्वान् 'हौमवर्क' शब्द के 'हौम' का मिलान 'सोम' शब्द से करते हैं और इस नाम से प्रख्यात शकों को सिर-दरिया के तट पर फरगना के प्रदेश में प्रतिष्ठित करते हैं जहाँ सोम का पौदा विशेष रूप से पाया जाता था।[७] कैंट महाशय के मतानुसार प्राचीन फारसी धातु 'वर्ग' का अर्थ 'निचोड़ना' या 'पीना' है। उदाहरणार्थ कृष्णसागर के उत्तरपूर्वी तट पर कुबान नदी के किनारे रहने वाले अस्पवर्ग ( यूनानी, अस्पूरगियानोई ) लोगों का नाम इस तथ्य पर आधारित है कि वे घोड़ियों की धार निकाल कर उनके दूध से कुमीज़ बनाया और पिया करते थे।[८] जैसा कि हम आगे चलकर देखेंगे वास्तव में शक हौमकर्ग पांचाल जनसमूह की एक सहकारी जाति सोमक के पर्यायवाची हैं। अपने सुग्धी निवासस्थान से ये लोग अफ़ग़ानिस्तान की ओर अग्रसर हुए जहाँ इनका नाम दुश्ते-मर्गो नामक स्थान में प्रतिध्वनित होता है जैसा कि फूंशे ने संकेत किया है।[९] वेजेंडोंक ने उनकी पहचान 'सकरवाक' से की है[१०] और मार्कार्ट के अनुसार वे सकरौके[११] हैं जिन्होंने असिआनी के साथ मिलकर बक्त्र पर आक्रमण किया था। यद्यपि हौमवर्क शब्द का 'वृक' के साथ कोई संबंध प्रतीत नहीं होता तथापि इसमें संदेह नहीं है कि वृक जाति भी शक - परिवार से संबंधित थी जैसा कि कुषाण कर्मचारी वर्कनपति की उपर्युक्त उपाधि से परिलक्षित होता है। जहाँ तक भेडिए के अर्थ में प्रयुक्त होने वाले वृक शब्द से इस जाति के नाम की व्यंजना का प्रश्न है, यह बात उल्लेखनीय है कि मध्यएशिया की बहुत सी जातियाँ अपने को भेडिए की संतान मानती थीं। तुर्कों की एक प्रसिद्ध किंवदंती के अनुसार वे दस कन्याएँ, जिनमें एक से उनके राजवंश का प्रवर्तन हुआ, एक राजकुमार और भेडियन की संतान थी। ऐसी मान्यता है कि उसके कुल के सर्वनाश के पश्चात् एक भेडियन ने उस राजकुमार की रक्षा की और बाद में उससे विवाह भी किया।[१२] इस संबंध के फल-स्वरूप तुर्कों के राजवंश का प्रादुर्भाव हुआ। हिरोदोतस[१३] ने शकों की एक जाति नयरी का उल्लेख किया है जिनके बारे में यह प्रसिद्ध था कि प्रत्येक नयरी, वर्ष में एक बार भेडिया बन

६. वासुदेवशरण अग्रवाल, **इंडिया एज नोन टु पाणिनि** पृ० ४४३ – ४६७।

७. ऑरल स्टाइन, **'आन दि एफेड्रा, हुम एंड सोमप्लांट'** बुलेटिन आव दि स्कूल ऑव ओरियंटल एंड एफ्रीकन स्टडीज ( १९२१ ) पृ० ५०१ – ५१४।

८. आनोंल्ड जोज़ेफ ट्वायनबी, **ए स्टडी आव हिस्ट्री** भाग ७ पृ० ५८७ रोलेंड जी० कैंट का नोट।

९. आ० फूशे, **ला वीय रूत द् लेंद द् बक्त्र आ तक्सिला** भाग २ पृ० १९० पा० टि० २१।

१०. अं० जी० वान वेजेंडोंक, **कुशान, खियोनिटन, उंद हेप्तालिटन,** क्लीओ ( १९३३ ) पृ० ३३७।

११. या मार्कार्ट, **दास एर्स्ते कापितेल देज़ गाथा उश्तवती** पृ० ४३।

१२. ओटो मेंशन—हेल्फन, **दि यू-ची प्रोब्लेम रीएग्ज़ामिंड,** जर्नल आव दि एमेरिकन ओरियंटल सोसाइटी ( १९४५ ) पृ० ७४।

१३. **हिरोदोतस** ४।१०५ जोर्ज रॉलिंसन का अंग्रेजी अनुवाद भाग ३ पृ० ९१।

जाता है और कुछ दिन बाद फिर अपना मानव रूप ग्रहण कर लेता है। हिरोदोतस के अंग्रेजी अनुवादक जोर्ज रालिंसन ने रेवरेंड पामर का मत उद्धृत करते हुए लिखा है कि सिथिया के उत्तरवर्ती वन्यप्रदेश में लोग शरद् ऋतु में भेड़ियों की खाल पहन लेते हैं, यही उनके भेड़िया बनने की मान्यता का आधार है।[१४] इस प्रदेश में मनुष्य और भेड़िए का इतना घनिष्ट साहचर्य है कि यहाँ से भेड़ियों से संबंधित उक्त दंतकथाओं का आविर्भाव और प्रसार हुआ। वृक जाति का नाम इन व्यापक कथाओं की ओर संकेत करता है जो मध्यएशिया की अनेक शक जातियों में और तुर्कों के आधिपत्य के बाद उनके कबीलों में प्रचलित हुईं। 'वृकोदर' शब्द में उक्त तुर्की किंवदंती से मिलती-जुलती मान्यता संनिहित है। इस प्रकार भीम भी मध्यएशिया की शक - जातियों का प्रतीक है। अर्जुन के समान यह भी इन घुमक्कड़ लोगों का द्योतक है, अर्जुन ऋषिकों का और यह वृकों का। यह लक्ष्य है कि पंजाब में जाटों की एक जाति विर्क कहलाती है। अमृतसर पठानकोट रेलवे पर वर्का नामक जंकशन भी संभवतः इन वृकों के आगमन का सूचक है। अतः स्पष्ट है कि प्राचीन काल में वृक भारत में आए और यहाँ की जनता तथा स्थानों पर अपनी छाप छोड़ गए।

### यौधेय जाति का प्रतीक युधिष्ठिर

अर्जुन और भीम की तरह सबसे बड़े पांडवबंधु युधिष्ठिर का नाम भी जातीय महत्व रखता है। पाणिनि ने युधिष्ठिर शब्द को 'युध्' धातु से सिद्ध किया है जो लड़ने के अर्थ में प्रयुक्त होती है।[१५] प्राचीन पंजाब की एक प्रसिद्ध जाति यौधेय का नाम भी 'युध्' धातु से निष्पन्न है। पाणिनि ने उनका वर्णन पर्शु के साथ किया है[१६] और उनकी गणना आयुध-जीवी संघों में की है।[१७] वास्तव में 'यौधेय' पाणिनि और कौटिल्य द्वारा उल्लिखित 'आयुध-जीवी' और 'आयुधीय'[१८] का पर्यायवाची है। पुराणों में यौधेयों की चर्चा उशीनरों के साथ हुई है जो उत्तरवैदिक युग में पूर्वी पंजाब पर छा गए थे।[१९] इन परंपराओं के आधार पर पार्जीटर ने यह मत प्रकट किया है कि उशीनर ने यौधेय, अंबष्ठ, नवराष्ट्र और क्रिमिलों के राज्यों की स्थापना की और उसके पुत्र शिवि ने शिवपुर की आधारशिला रखी।[२०] महा-भारत में यौधेयों की चर्चा त्रिगर्त, मालव, अंबष्ठ और शिवि के साथ आई है।[२१] सभापर्व

१४. जोर्ज रॉलिन्सन, **हिरोदोतस** भाग ३ पृ० २०६।

१५. **पाणिनिसूत्र** ८।३।९५ गवियुधिस्थिरः।

१६. **वही** ५।३।११७ पर्श्वादियौधेयादिभ्योऽणञौ।

१७. **वही** ४।१।१७८ न प्राच्यभर्गादियौधेयादिभ्यः।

१८. **कौटिलीय अर्थशास्त्र** (शामशास्त्री का संस्करण) २।३५ पृ० १४८ समाहर्ता चतुर्धा जनपदं विभज्य…ग्रामाग्रं परिहारकमायुधीयम् **निबंधयेत्**।

१९. एफ० ई० पार्जीटर, **मार्कंडेयपुराण** पृ० ३८०।

२०. एफ० ई० पार्जीटर, **एंशिएंट इंडियन हिस्टारिकल ट्रेडीशन** पृ० २६४।

२१. **महाभारत** ७।१८।१६; ८।५।४८।

में वे इन जातियों के साथ युधिष्ठिर के दरबार में उपहार लाते हुए दिखाए गए हैं।[२२] द्रोणपर्व में अद्रिज, मद्रक और मालव के साथ उनका उल्लेख है।[२३] वराहमिहिर ने उनको आर्जुनायन के साथ भारत के उत्तरी भाग में रखा है।[२४] समुद्रगुप्त की प्रयागप्रशस्ति में उनकी गिनती आर्जुनायन, मद्रक, मालव, आभीर आदि उत्तर की उन जातियों में हुई है जिन्होंने समुद्रगुप्त का आधिपत्य स्वीकार किया था।[२५] महाक्षत्रप रूद्रदामा के जूनागढ़ के अभिलेख में शकों के साथ उनके युद्ध का वर्णन है जिसमें उन्हें मात खानी पड़ी।[२६] गुप्तसाम्राज्य के अभ्युदयकाल में उनकी सत्ता पूर्वी पंजाब में बहुत दूर तक फैल गई जैसा कि सतलज और यमुना के बीच कांगड़ा, लुधियाना, रोहतक, देहली, देहरादून और सहारनपुर से प्राप्त उनकी मुद्राओं से और रोहतक के पास उनकी टकसाल और सुनेत के पास उनकी मुद्राओं के सांचों की प्राप्ति से परिलक्षित होता है।[२७] उनकी मुद्राओं की नवीन शैली से, जिनपर ब्राह्मी लिपि में 'यौधेय-गणस्य जयः' लेख उत्कीर्ण है और उनका उपास्यदेव कार्तिकेय चित्रित है और जो इस प्रदेश में कुषाण-मुद्राओं के स्थान पर प्रचलित हुई, यह प्रकट हो जाता है कि उन्होंने शकों के उन्मूलन में काफी हाथ बँटाया। लुधियाने से प्राप्त उनकी एक मुद्रा पर जो 'यौधेयानां जयमंत्र-धराणाम्' लेख मिलता है, उससे ज्ञात होता है कि पंजाब के आयुधजीवी संघों में उनका बड़ा महत्त्वपूर्ण स्थान था।[२८] धीरे धीरे वे उत्तरी राजपूताना में फैल गए और भरतपुर तक आ बसे जहाँ उनके एक 'महाराज महासेनापति' का शिलालेख मिला है।[२९] यह महत्व की बात है कि सतलज के तट से बहावलपुर की सीमा तक का प्रदेश आज भी जोहियावार कहलाता है और यौधेयों के प्राचीन उत्कर्ष का साक्ष्य देता है। श्री कनिंघम ने बहावलतुर प्रदेश के जोहिया राजपूतों की पहचान यौधेयों के वंशजों से की है और इनकी तीन शाखाओं का मेल यौधेय मुद्राओं से विदित तीन जातियों के साथ बैठाया है।[३०] इस प्रकार पंजाब में यौधेयों का बहुत प्रमुख स्थान रहा है। युधिष्ठिर के साथ उनके संबंध का सिद्धांत केवल भावात्मक

२२. **वही** २।४८।१४ – १५ काश्मीराः कुन्दमानाश्च पौरवा हंसकायनाः।
शिवित्रिगर्तयौधेया राजन्या मद्रकेकयाः॥
अम्बष्ठाः कौकुरास्तार्क्ष्या वस्त्रपाः पह्लवैः सह।
वसातयः समौलेयाः सहक्षुद्रकमालवैः॥

२३. वही ७।१५९।५ यौधेयानद्रिजान् राजन् मद्रकान्मालवानपि।

२४. **बृहत्संहिता** १४।२८।

२५. फ्लीट, **कोर्पस इन्सक्रिप्शियोनम् इंडिकारुम** न० १ पंक्ति २२ – १३ मालवार्जुन यौधेयमद्रकाभरिप्रार्जुनसनकानीककाकखरपरिकादिभिश्च सर्वकरदानाज्ञाकरणप्रणामागमनपरितोषितप्रचण्डशासनस्य।

२६. **एपिग्राफिया इंडिका** भाग ८ पृ० ३६ सर्वक्षत्राविष्कृत वीरशब्दजातोत्सेकाविधेयानां यौधेयानां प्रसह्योत्सादकेन दक्षिणापथपतेः सातकर्णेर्द्विरपि निर्व्याजमवजित्य।

२७. एलेग्जेंडर कनिंघम' **रिपोर्ट आन दि आर्क्योलोजिकल सर्वे आव इंडिया** भाग २ पृ० १४ – १७।

२८. **प्रोसीडिंग्स आव दि एशियाटिक सोसायटी आव बंगाल** (१८८४) पृ० १३९।

२९. फ्लीट, **कोर्पस इन्सक्रिप्शियोनम् इंडीकारुम** भाग ३ सं० १ पंक्ति १, यौधेयगणपुरस्कृतस्य महाराजमहासेनापतेः।

३०. एलेग्जेंडर कनिंघम, **एंशिएंट ज्योग्रफी आव इंडिया** पृ० २८१ – २८२।

विचारों पर ही आधारित नहीं हैं वरन् एक सुदृढ़ ऐतिहासिक भित्ति पर स्थित है। इस तथ्य से प्रकट है कि महाभारत में यौधेय को युधिष्ठिर का पुत्र बताया गया है।[31]

## यौधेय और यौतिया

यौधेय जाति का लारिस्तान के यौतिया और ट्रांसकाकेशिया के ऊइतिओइ से असंदिग्ध साम्य है। यौतिया ने ईरानी - भाषा - भाषी जातियों के उस जनसंक्रमण ( फ्योल्केरवांडेरंग ) में भाग लिया जिसके फलस्वरूप आठवीं शती ई० पू० में मीढ और पर्शु ईरान में फैल गए। यौतिया और मकिया इस आक्रमण में अग्रणी थे। पार्सा इसके मुख्य भाग में तथा असगर्तिया उनके पीछे थे। मद्रा के दबाव से यह संचरण दो भागों में बट गया – दाहिना भाग उत्तरपश्चिम की ओर धंसता हुआ ट्रांस-कॉकेशिया तक फैल गया और बायाँ भाग दक्षिणपूर्व की ओर घूमता हुआ पंजाब तक आ पहुँचा जैसा कि इससे पहिले संक्रमण में इन जातियों के पूर्वज एक ओर उत्तरी ईरान और ट्रांसकाकेशिया से होकर आनातोलिया तक पहुँचे और दूसरी ओर उनकी शाखाएँ उत्तरपश्चिमी दर्रों को पार करतीं हुई सप्तसिंधु प्रदेश में आ घुसीं। इस प्रकार यौतिया, मकिया और असगर्तिया पार्सी के सव्यपक्ष के साथ अर्दलान और आजरबैजान में बस गए और इससे भी उत्तर और उत्तरपश्चिम की ओर बढ़ते हुए आरास और कुर नदियों की निचली घाटी में आबाद हो गए। ट्रांसकाकेशिया में क़ाराबाग़ और कुर नदी के दक्षिणी तट के बीच जो ऊती ( यूनानी, ऊतेने ) नामक प्रदेश है वह इस भूभाग में यौतिया के आगमन और निवास का प्रमाण प्रस्तुत करता है।[32] दक्षिण - पूर्व की ओर इन यौतियाओं की सीमा पूर्वी लारिस्तान थी, जैसा कि उनके मुख्य वह्यजदात की राजधानी ताखा की स्थिति से प्रकट होता है, जिसकी पहचान तरुम से की गई है। ये यौतिया हखामनि वंश की अरियरम्नी शाखा के विरुद्ध उठ खड़े हुए और उनका नेता वह्यजदात अपने आपको कुरूश द्वितीय का पुत्र बर्दिय घोषित करके किश्पिश् के बड़े लड़के की असली संतति के पुनः संस्थापन के लिये ५२२ – ५२१ ई० पू० में[33] विश्तास्प के पुत्र दारयवउश् से जूझ पड़ा। एक भव्य सैनिक योजना के अनुसार उसने गँदार ( गंधार ) में कुभा की घाटी पर अधिकार कर लिया और दारयवउश के दो प्रमुख साथी हरहवतिश् और बाख्त्रीश् के क्षत्रपों के मिलने के मार्गों को काट कर यतगुश् के विद्रोहियों से जा मिलने का प्रयत्न किया। गँदार की ओर उसके इस प्रयाण का ध्येय दक्षिणपूर्वी ईरान में यौतिया साम्राज्य स्थापित करके मीढों के नेता फ्रवतिश् के हाथ मजबूत करना था। किंतु हरहवतिश् के क्षत्रप विवान ने उसकी योजना की इतिश्री और दारय-

३१. **महाभारत** १।९५।७६ युधिष्ठिरस्तु गोवासनस्य शैव्यस्य देविकां नाम कन्यां स्वयं वरॉल्लेभे। तस्यां पुत्रं जनयामास यौधेयं नाम।

३२. यन० आदोन्तज़, **इस्त्वार द् आरमेनी, लेज़ोरीज़ीन** पृ० ३०८।

३३. सुकुमार सेन, **ओल्ड पर्शियन इंसक्रिप्शंस** पृ० ५३ थातिय दारयवउश् ख्शायथिय मर्तिय वह्यजदात नाम तारवा नाम वदनम् यौतिया नामा दह्याउश् पार्सँय अवदा अदारय हौव दुवितीयम् उदपतता पार्सैय्। काराह्या अवथा अथह अदं बर्दिय अम्हि ह्य कुरौश पुस्स·········।

वउरा ने गर्व के साथ अपनी इस विजय की घोषणा की ।[३४] तदनंतर यौतिया के अस्तित्व को निर्बल करने के लिये उसने उन्हें और उनके साथ मक्रिया को हरह्वतिश् के राज्य में मिला दिया। हिरोदोतस की सूची के अनुसार उन्हें चौदहवें करविभाग में रखा गया और ६०० टेलेंट का विशाल कर उनके कंधों पर लाद दिया गया ।[३५]

इस प्रकार यौतिया एक ईरानी भाषा भाषी जाति थी जिसने नवीं - आठवीं शती ई० पू० में मध्यएशिया के घुमक्कड़ लोगों के एक महान जनसंक्रमण में भाग लिया। उनकी एक शाखा ईरान और काकेशिया तक जा पहुँची और दूसरी पंजाब में उतर आई ।[३६] यौतिया के पड़ोस में कुरु, कंबोज और वे शक जातियाँ थीं जो हखामनिश् ( ७०० – ६७५ ई० पू० ) के पुत्र और उत्तराधिकारी किश्पिश् ( ६७५ – ६४० ई० पू० ) की सहायक थी और जिनके नामों का संस्मरण इस शाखा के राजा कुरुश् और कंबुजिय के अभिधानों में मिलता है ।[३७] इस प्रकार ईरान और भारत में यौतिया का आगमन कुरु जाति के प्रसार से संबंधित है। यौधेय के नाम से संश्लिष्ट युजिष्ठिर का नाम कुरुकालीन भारत में इन लोगों के आगमन का साक्ष्य देता है। यौतिया - यौधेय जाति के साथ इस पांडव योद्धा का जो गहरा संबंध है उसका एक महत्वपूर्ण प्रमाण यौतियानेता वह्यज़दात के नाम से प्राप्त होता है। इस नाम में 'वह्यन्' ईरानी शब्द 'वोहु' का तुलनात्मक रूप है जिसका अर्थ 'अच्छा' है। अवेस्ता में वोहु - मनो वह दूसरी आमेशा - स्पेन्ता है जो अहुरमज़्दा के शरीर से प्रादुर्भूत होती है। वोहु - मनो दिव्य ज्ञान है, भगवान् का 'वीर पुत्र' है जो हमें अश के पथ पर ले जाता है ।[३८] वह पशुओं का भी संरक्षक है। इस प्रकार अश के साथ संबद्ध वोहु - मनो भारतीय 'धर्म' की भावना से मेल खाता है। युधिष्ठिर को धर्मराज और धर्मपुत्र कहते हैं और यही अर्थ वह्यज़दात शब्द का भी है। यह साम्य एकदम आकस्मिक है और इससे कोई विशेष ऐतिहासिक निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता किंतु युधिष्ठिर और यौधेय – यौतिया की समानता की पृष्ठभूमि में यह उन मौलिक भावनाओं की ओर प्रकाश डालता है जो आख्यानिक वीरों के नामों में प्रच्छन्न रहती हैं।

## मद्र जाति के प्रतीक नकुल और सहदेव

हमने ऊपर तीन पांडवबंधु अर्जुन, भीम और युधिष्ठिर के नामों की जातीय व्यंजना का अध्ययन किया। अब हमें नकुल और सहदेव की ओर ध्यान देना है। ये दोनों भाई पांडु और माद्री की संतान थे। उनकी माता माद्री का नाम यह प्रकट करता है कि इन

३४. सुकुमार सेन, **वहीं** पृ० ५४ – ६० वह्यज़दात के अनुयायियों का इतना दमन हुआ कि पर्सिपोलिस के दक्षिणी मकबरे पर जो मातहत जातियों की तालिका दी हुई है उस तक में यौतिया का नाम नहीं है; सुकुमार सेन, **वहीं** पृ० १७२।

३५. जोर्ज रालिंसन, **हिरोदोतस** भाग २ पृ० ( ? )

३६. आर्नल्ड जे० ट्वायनबी, **ए स्टडी आव हिस्ट्री** भाग ७ पृ० ६०७ – ६०६।

३७. जी० जी० केमेरोन, **ए हिस्ट्री आव अर्ली ईरान** पृ० १७६ – १८०।

३८. आई० जे० एस० तारापुरवाला, **जोरोआस्ट्रियनिज्म**, कलचरल हेरिटेज आव इंडिया भाग २, पृ० ३३१।

दोनों भाइयों का मद्र जाति से घनिष्ठ संबंध था जो उत्तरवैदिक काल में पंजाब में बस गई थी। चिनाब और रावी के मध्यवर्ती प्रदेश में शाकल (स्यालकोट) में केंद्रित मद्रों का राज्य वैदिक अध्ययन और अनुसंधान का प्रमुख स्थान था। इसको मद्रगार शौंगायनी और उद्दालक आरुणि के गुरु पतंचल काप्य जैसे विद्वानों को जन्म देने का श्रेय प्राप्त है। महाभारत में जो अश्वपति और उसकी कन्या सावित्रि का वृत्तांत आया है उससे प्रकट हो जाता है कि प्राचीन काल में ये बड़े धार्मिक समझे जाते थे।[३९] पाणिनि ने उनके पूर्व और अपर विभागों का उल्लेख किया है।[४०] एतरेयब्राह्मण में उत्तरमद्र नाम से उनके उत्तरी निवासस्थान की चर्चा है जो कहीं उत्तरकुरु के पास रहा होगा।[४१]

## जर्तों का आगमन और मद्रों का पतन

मद्र, जैसा कि ऊपर कहा गया है, चिनाब और रावी के बीच के प्रदेश में बस गए थे। उनकी राजधानी शाकल (सागल) आपगा नदी के तट पर रेक्षना दोआब में स्थित थी।[४२] शुरू में मद्र धर्म - कर्म की दृष्टि से पवित्र समझे जाते थे। किंतु बाद में विदेशी जातियों के आगमन और संमिश्रण के फलस्वरूप उनके रीति - रिवाज बिगड़ गए और उनमें विचित्रता की गंध आने लगी। उद्योगपर्व में शल्य के शिविर में रहने वाले योद्धाओं के शस्त्र, कवच, धनुष, ध्वज, वाहन, वेश, आभूषण आदि को विचित्र बताया गया है।[४३] कुरुदेश में इन विचित्र लोगों के आने से एक कुतूहल सा मच गया था। ऐसा प्रतीत होता है कि जर्तिक या जर्त लोगों के आगमन से मद्रों की संस्कृति में विदेशीपन आ गया था। महाभारत के एक उल्लेख से

३९. **बृहदारण्यकोपनिषत्** ३।७।१ सर्वपल्ली राधाकृष्णन्, दि **प्रिंसिपल उपनिषदस्** पृ० २२४; ए० वेबर, **हिस्ट्री आव इंडियन लिटरेचर** पृ० १२६।

४०. **पाणिनि सूत्र** ७।३।१३ दिशोऽमद्राणाम्; ४।२।१०८। मद्रेभ्योऽञ्।

४१. **एतरेयब्राह्मण** ८।१४।३, त्सिमर के मतानुसार उत्तरमद्र कश्मीर के निवासी थे। [ **आल्तइण्डीशे लेबेन** पृ० १०२ ]

४२. **महाभारत**, २।३२।१४ – १५ ततः शाकलमभ्येत्य मद्राणां पुटभेदनम्।
मातुलं प्रीतिपूर्वेण शल्यं चक्रे वशे बली॥

**कलिंगबोधिजातक** (फौसबॉल का संस्करण नं० ४७९) **कुस जातक** (फौसबाल का संस्करण सं० ५३१)।

४३. **महाभारत** ४।८।३४

अक्षौहिणीपतिराजन् महावीर्यपराक्रमः।
विचित्रकवचाः शूरा विचित्रध्वजकार्मुकाः॥
विचित्राभरणाः सर्वे विचित्ररथवाहनाः।
विचित्रस्रग्धराः सर्वे विचित्राम्बर भूषणाः॥
स्वदेशवेशाभरणा वीरा शतसहस्रशः।
तस्य सेना प्रणेतारो बभूवुः क्षत्रियर्षभाः॥

ज्ञात होता है कि इन जर्तों ने मद्रों की राजधानी शाकल पर अधिकार कर लिया था।[४४] ये जर्त ताशकंद के आसपास जक्सारतीज नदी के उत्तर में तुखारों के निकट रहने वाले इयातिओई थे जिनकी चर्चा तोलेमी ने अपने भूगोल में की है। रालिंसन के अनुसार वे 'जत्' - 'गत' नामक शक थे जिनकी दो शाखाएँ थिस्सगेते (छोटे गत) और मस्सगेते (बड़े गत) नामों से प्रख्यात थीं। एक ओर ये लोग योरोप में फैले और गाथ कहलाए और दूसरी ओर भारत में प्रविष्ट होकर जाट नाम से अभिहित हुए।[४५] ये जाट समस्त पंजाब में व्याप्त हैं। महाभारत में इनकी बड़ी निंदा की गई है और इन्हें शीलवर्जित कहा गया है। विशेषरूप से इनकी गुड़ से बनी शराब पीने की प्रवृत्ति और लहसुन के साथ गोमांस का कबाब खाने की आदत को बड़ी घृणित दृष्टि से देखा गया है।[४६] इन जर्तों या जाटों के मिलने से मद्रों के आचार-विचार भी पतन की ओर चल पड़े थे।

## मद्र और ईरान

महाभारत के इस उल्लेख से कि मद्र व्युषिताश्व की संतान थे, जिसका नाम दारयवउश् के पिता विश्तास्प के नाम से मिलता है, यह प्रकट होता है कि यह एक ईरानी जाति थी। यह राजा पांडु के समान क्षयरोग में ग्रस्त था और अपनी पत्नी भद्रा काक्षीवती के साथ संभोग करने से इसकी मृत्यु हो गई। किंतु दैवी वरदान के फलस्वरूप भद्रा के सात पुत्र उत्पन्न हुए जिनमें से तीन शाल्व और चार मद्र थे।[४७] मद्र को मद्रकार भी कहते थे। मद्रकार ईरानी भाषा का समास है जिसमें 'कार' का अर्थ 'सेना' या 'जनता' है।[४८] पुश्तो में इस शब्द का यह अर्थ अब तक सुरक्षित है।[४९] मद्र शब्द की समानता ईरानी शब्द माद या मेदे या

४४. **वही** ८।४४।१०

शाकलं नाम नगरमापगा नाम निम्नगा।
जर्त्तिका नाम वाहीकास्तेषां वृत्तं सुनिन्दितम्॥

४५. जोर्ज रालिन्सन, **हिरोदोतस** भाग ३ पृ० १८५, २०६।

४६. **महाभारत** ८।४४।११

धानागौड्यासव पीत्वा गोमांसं लशुनैः सह।
अपूपमांसवाट्यानामशिनः शीलवर्जिताः॥

४७. **महाभारत** १।१२१।७, १७ – १८

व्युषिताश्व इति ख्यातो बभूव किल पार्थिवः।
पुरा परम धर्मिष्ठः पुरोर्वंशविवर्धनः॥
आसीत्काक्षीवती चास्य भार्यापरमसम्मता।
भद्रार्णां मनुष्येन्द्र रूपेणासदृशी भुवि॥
सा तेन सुषुवे देवी शवेन भरतर्षभ।
त्रीन् शाल्वाँश्चतुरो मद्रान् सुतान् भरतसत्तम॥

४८. सुकुमार सेन, **ओल्ड पार्शियन इंसक्रिप्शंस्** पृ० ३६ अवयाशैय् अथहं परैदिय् कारह्य हमिस्सिय मना नैय् गौबुतेय अवं जदिय्।

४९. जोर्ज मोर्गन्सटियर्न, **एटीमोलोजीकल वोकेबुलेरी आव पुश्तो**; जार्ल शार्पेतिए, **सम रिमार्कस् ओव पुश्तो एटिमोलोजी**, एक्टा ओरियंटेलिया, भाग ७ पृ०१८८।

मीड से प्रतिपादित की गई है।[५०] मद्रों की माता मद्रा और मीडों की माता मीदिया के कथानकों में भी बहुत कुछ साम्य मिलता है।[५१] सिल्युस्की ने उत्तरपश्चिमी भारतीय कथानक के स्थायी स्वरूप के आधार पर सिद्ध किया है कि मद्रों पर शकों का भी काफी प्रभाव पड़ा। इस कथानक के अनुसार राजा अपने धार्मिक कृत्य में बलि दिए गए बारहसिंगे के शरीर में प्रवेश करता है और उसका प्रतिद्वन्द्वी भी एक बारहसिंगे का रूप धारण करके उसकी पत्नी से संभोग करता है। इस कथानक में बारहसिंगें को जो महत्व मिला हैं वह शक प्रभाव के कारण है क्योंकि शकों में भी बारहसिंगे का महत्वपूर्ण स्थान था जैसा कि उनकी कला से प्रकट होता है।[५२] सिल्युस्की ने इस तथ्य की ओर भो संकेत किया है कि शरभंगजातक (फौसबाल सं० ४८३) में राजर्षि पौरव को शरभ का अवतार बताया गया है। ऋष्यशृंग के आख्यान पर भी बारहसिंगे से संबंधित कथानकों का प्रभाव स्पष्ट है। यह भी लक्ष्य करने की बात है कि मद्रों की राजधानी शाकल का संबंध मेंडक से है जिसके पास सोने के मेंढे थे। सोने के मेंढे का यह आख्यान स्वर्णिम ऊन वाले उस मेंढे की दंतकथा से मिलता है जिसे अर्गोनोट लोगों ने पोंट के उत्तर में जीता था। वस्तुतः मध्यएशिया के घुमक्कड़ लोगों में मेंढे का बड़ा महत्त्व है। इन तथ्यों से ज्ञात होता है कि मद्रों का ईरानी और शक जगत् से गहरा संबंध था।[५३]

## मद्र युवतियाँ

मद्र अपनी स्त्रियों के सौंदर्य के लिये प्रसिद्ध थे। उनकी लंबी, गोरी और सुंदर स्त्रियाँ दूर दूर तक प्रख्यात थीं।[५४] कर्णपर्व में एक मद्र को, जो कुरुराष्ट्र में आ बसा था शतद्रु और इरावती के पार अपने देश में लौटने पर, वहाँ की स्त्रियों के साथ रमण करने की इच्छा से

५०. हारीतकृष्ण देव, **मीड एंड मद्र**, जर्नल आव दि रायल एशियाटिक सोसायटी आव बंगाल (१९२५) पृ० २०५।

५१. ज्याँ सिल्युस्की, **नूवोज़ास्पेक्त द् लिस्त्वार दे स्किथ**, रव्यु द् ल्युनिवर्सिते द् ब्रुसेल्स, भाग ४२ (१९३७) पृ० २१८।

५२. ज्याँ सिल्युस्की, **आना लियाँ पप्ल द्यु पाँजाब, ले साल्व** जर्नाल आजियातीक (१९२९) पृ० ३३७।

५३. ज्याँ सिल्युस्की, **आनासियाँ पप्ल द्यु पाँजाब लेसुदुम्बर** जूर्नाल आजियातीक (१९२६) पृ० ४ – ८; **नूवोज़ास्पेक्त द् लिस्त्वार दे स्किथ** (उपर्युक्त) पृ० २१८। **महाभारत** १.६७ के अनुसार शाल्व को असुर अजक का अवतार बताया गया है। मुद्राओं से एक उदुम्बर राजा अजमित्र का पता चलता है जिसका नाम अजक से मिलता-जुलता है। यह उल्लेखनीय है कि मद्रंकर अर्थात भद्रशैल (स्यालकोट) का उपास्य यक्ष खरपोस्त था जो एक ईरानी शब्द है और गधे की खाल पर लिखी हुई पुस्तक का द्योतक है।

५४. **महाभारत** ८।४४।१८

मनः शिलोज्ज्वलापांग्यो गौर्यस्त्रिककुदां जनाः।
कंबलाजिनसंवीताः क्रंदंत्यः प्रियदर्शनाः॥

चिह्नल दिखाया गया है।[५५] पाली अट्ठकथाओं में मगध के महातित्थ नामक ग्राम के एक ब्राह्मण पिप्पली माणवक की कथा आई है। उसके पिता ने उसके लिये एक स्वर्णप्रतिमा जैसी पत्नी ढूँढ़ने के लिये आठ दूत नियुक्त किए थे। ये दूत यह सोचकर कि मद्रदेश सुंदर स्त्रियों का आगार है (मद्दरट्ठं नाम इत्थागारो) मद्रों के शाकल नगर में गए जहाँ उन्हें भद्रा कापिलायनी के दर्शन हुए। वह उस स्वर्णप्रतिमा से भी अधिक सुंदरी थी जिसके अनुरूप कन्या की उन्हें खोज थी। तत्पश्चात् भद्रा और पिप्पली का परिणय निश्चित हो गया और विवाह के ठीक पश्चात् उन्होंने बौद्ध धर्म में दीक्षा ले ली।[५६] इस आख्यान से पता चलता है कि बुद्ध भगवान के काल में मद्र की सुंदरियाँ सुदूर मगध तक प्रख्यात थीं। मद्रों में एक प्रथा यह थी कि कन्या को मूल्य लेकर आसुर पद्धति से ब्याहा जाता था। जब माद्री का विवाह पांडु से होने को था तो शल्य ने भीष्म से मूल्य देने का आग्रह किया। शल्य ने कहा कि यह उनकी प्राचीन कुलप्रथा है जिसका उल्लंघन करना उचित नहीं है।[५७] इससे ज्ञात होता है कि मद्रों के वैवाहिक नियम और दांपत्य प्रथाएँ कट्टर ब्राह्मणधर्मावलंबी आर्यों से विभिन्न थीं और वे आर्य-संस्कृति से बाहर माने जाते थे।

**मद्र और शाल्व**

प्रारंभ में मद्र शाल्वनामधारी ईरानी जनसमूह में गिने जाते थे। शाल्वों की चर्चा गोपथ ब्राह्मण (१।२।६), शतपथ ब्राह्मण (१०।४।१।१०) और पाणिनिसूत्रों (४।१।१६७, ४।३।१६६) में पाई जाती है।[५८] एक वैदिक ग्रंथ से पता चलता है कि उन्होंने यमुना के तट पर अधिकार कर लिया था और वहाँ बैठ कर उनकी स्त्रियों ने चरखे चलाने शुरू कर दिए थे।[५९] महाभारत में उनका मत्स्यों के साथ जो उल्लेख

५५. वही ८।४४।१७

शतद्रुकामहं तीर्त्वा तां रम्यामिरावतीम्।
गत्वा स्वदेशं द्रक्ष्यामि स्थूलशंखाः शुभाः स्त्रियः॥

५६. **संयुत्तनिकाय-अट्ठकथा** १५।१।११, **अंगुत्तरनिकाय - अट्ठकथा** १।१।४, **थेरगाथा - अट्ठकथा** ३०, **थेरीगाथा - अट्ठकथा** ६८।

५७. **महाभारत** १।१२२६

पूर्वैः प्रवर्तितं किंचित्कुलेऽस्मिन्नृपसत्तमैः।
साधु वा यदि वासाधु तन्नातिक्रांतुमुत्सहे॥
कुलधर्मः स नो वीर प्रमाणं परमं च तत्।
तेन त्वां न ब्रवीम्येतदसंदिग्धं वचोऽरिहन्॥
तं भीष्म प्रत्युवाचेदं मद्रराजं जनाधिपः।
धर्म एषः परो राजन् स्वयमुक्तः स्वयंभुवा॥
नात्र कश्चन दोषोऽस्ति पूर्वैर्विधिरयं कृतः।

५८. **पाणिनिसूत्र** ४।१।१६७ साल्वेयगांधारिभ्यां च, ४।३।१६६ लुप् च।

५९. ज्याँ सिल्युस्की, **'आनाख्रियाँ पप्ल द्यु पंजाब, ले साल्व'** (उपर्युक्त) पृ० ३१४।

आया है उससे प्रतीत होता है कि वे अलवर तक पहुँच चुके थे।[६०] चंद्रव्याकरण की चंद्रवृत्ति [६१] में लिखा है कि कांगड़ा घाटी के उदुंबर (जिनकी राजधानी पठानकोट थी), होशियारपुर जिले के पास ब्यास के दक्षिणी प्रदेश के तिलखल (महाभारत (६।१०।५१) के तिलभर), स्यालकोट पर केन्द्रित चिनाव और रावी के मध्यवर्ती प्रदेश के मद्रकार, यमुना के किनारे जगाधरी के पास वर्तमान औद्योगिक नगर यमुनानगर (अब्दुल्लापुर) के निकट रहने वाले युगंधर, साकेत और केकय के राजमार्ग पर अरावली की श्रेणियों के उत्तर-पश्चिम में बसनेवाले भूलिंग (महाभारत ६।१०।३८ के कुलिंग और तोलेमी के बोलिंगे) और प्राच्य तथा उदीच्य पांचालों की सीमा पर शरावती नदीके समीप बसने वाले शरदंड – शाल्व समूह के सदस्य थे। सिल्युस्की के मतानुसार शाल्व शब्द का अर्थ बारहसिंगा या हिरन जैसा कोई पशु हैं। इस शब्द की धातु से ही शरभ शब्द की व्युत्पत्ति हुई है जो बारहसिंगे की किस्म का एक आख्यानिक पशु है। शाल्वों में शरभ का शिकार चक्रवर्ती राजा के राज्यारोहण की विधि का एक विशेष अंग था। मध्य-एशिया के लोगों में, विशेषतः शकों में, इन पशुओं का बड़ा महत्त्व था।[६२] इस प्रकार शाल्व जाति का नाम ही उनकी शकउत्पत्ति का परिचायक है। वर्तमान पंजाब में जो 'सलूजा' नामक जाति पाई जाती है वह इन्हीं प्राचीन शाल्वों की वंशज हैं। कालांतर में मद्रों का अपना महत्त्व भी बढ़ गया था।

### मद्र, भद्र, मालव

प्राकृत में मद्र शब्द मल्ल बन जाता है क्योंकि 'द्र' का 'ल्ल' हो जाता है।[६३] मल्ल यूनानी लेखकों का मल्लोइ और महाभारत का मालव है।[६४] यह महत्त्व की बात है कि यम के आदेश से मद्रनरेश अश्वपति के पुत्र मालव कहलाए। इससे पता चलता है कि मद्र और मालव वस्तुतः एक ही थे। भीष्मपर्व में उनके प्रतीच्य और उदीच्य भागों की अलग अलग चर्चा की गई है। फिरोजपुर, लुधियाना, पटियाला, जीन्द और मलेरकोटला के सिख अब तक मालव सिख कहलाते हैं। संभवतः इन प्रदेशों में प्राचीन काल में मालव लोग आबाद थे। ईसवी संवत् के आरंभ में मालव लोग दक्षिण की ओर चले गए और मध्य तथा दक्षिणपूर्वी राजपूताने में जा बसे। सिल्युस्की के अनुसार शाल्व समुदाय की प्रमुख जातियाँ मद्र और उदुंबर, मालव और क्षुद्रक नामों से प्रख्यात हुईं जिनका संबंध यूनानी इतिहासकारों और पाणिनि के टीकाकारों से स्पष्ट है।

मद्र का एक पाठ भद्र भी था। काशिका में मद्रकार के स्थान पर भद्रकार पाठ मिलता

६०. **महाभारत**, (विराटपर्व) २६, २, (भीष्मपर्व) १०।३ (उद्योगपर्व) ४।२४।

६१. **चंद्रव्याकरण** २।४।१०३ उदुम्बरास्तिलखला मद्रकारा युगंधराभुलिङ्गाः शरदण्डाश्च साल्वावयव संज्ञिताः॥

६२. सिल्युस्की, **ले साल्व** (उपर्युक्त) पृ० ३१३ – ३२५।

६३. पिशल, **ग्रामाटिक डेयर प्राकृत-स्प्राखन**, विभाग २६४। जूल ब्लॉक, **ला फोरमासियों द ला लाग माराथ**, विभाग १४१।

६४. सिल्युस्की, 'लेजुदुंबर' (१६२६) पृ० १ – २०।

है। मूल सर्वास्तिवादियों के विनय में मद्रों की राजधानी शाकल को भद्रंकर कहा गया है।[६५] ऐसा लेख मिलता है कि प्रसिद्ध चिकित्सक जीवक ने तक्षशिला से भद्रंकर की यात्रा की और वहाँ सर्दी बिताकर वह उदुंबर देश में चला आया जहाँ उसने एक रोगी का उपचार किया। फिर वहाँ से वह मथुरा की ओर रवाना हो गया। महामायुरी में लिखा है कि भद्रपुर में शैल यक्ष की पूजा होती थी।[६६] यह भद्रपुर भद्रंकर का रूपांतर है जो शाकल का दूसरा नाम था।[६७] 'भद्र' 'भल्ल' बन जाता है जिस प्रकार 'मद्र' 'मल्ल' हो जाता है। पाणिनि सूत्र (४।२।७५) के गणपाठ में भल्ल मल्ल के पहिले दिया हुआ है। पंजाबी में स्पर्श वर्ण निधृत हो जाते हैं और हिमाचल-प्रदेश की पट्टी की बोलियों में हकार का सर्वथा लोप हो जाता है। अतः 'भ' का उच्चारण 'प' हो जाता है और भल्ल पह्लव बोला जाता है जो ईरानियों का नाम है। इन शब्दों का एक पाठ वाह्लिक भी है जो बक्त्र के निवासियों का द्योतक है। सारांश यह है कि मद्र नरेश अश्वपति की भार्या मालवी, मद्रों की माता भद्रा और पांडु की पत्नी माद्री (नकुल और सहदेव की जननी) का उपनाम बाह्लिकी इस तथ्य की ओर संकेत करते हैं कि ये लोग ईरानी - बक्त्री परिवार से संबंधित थे। दूसरे शब्दों में नकुल-सहदेव मद्रों के प्रतीक हैं जो माद या मीड जाति के थे।

## पांडु और पांडुऊई

उपर्युक्त अध्ययन से स्पष्ट है कि पांचो पांडवबंधु एक ऐसे जातीय समुदाय के प्रतीक हैं जो भारत और ईरान में समान रूप से ज्ञात था। उनके इतिहास के अन्य पक्षों पर विचार करने से पूर्व यह आवश्यक लगता है कि उनके सामूहिक नाम 'पांडव' शब्द पर भी दृष्टिपात किया जाए। हम देख चुके हैं कि उनके पिता पांडु का पीतवर्ण इस बात का द्योतक है कि उनमें कुछ उत्तर-पश्चिम के किरात तत्व भी मिल गए थे। पालि ग्रंथों से ज्ञात होता है कि गंधार का राजा कुसाति, जो मगध-नरेश बिंबिसार का समकालीन था, एक पांडव नामक जाति से लड़ा था।[६८] तोलेमी ने एक पांडुऊई नामक पंजाबी जाति की चर्चा की है[६९] और

६५. ज्याँ सिल्युस्की, **ल नोदूएस् द् लेंद दाँ ल विनय दे मूलसर्वास्तिवादें**, जूर्नाल आजियातीक (१९१४) भाग २ पृ० ४९३।

६६. सिलवें लेवी, **ल कातालोग जेओग्राफीक दे यक्ष दाँ ला महामायुरी**, जूर्नाल आजियातीक (१९१५) भाग १ पृ० १९।

कुकुच्छंदः पाटलिपुत्रे स्थूणायां चापराजितः।
शैलो भद्रपुरे यक्ष उत्तराया च मानवः॥

६७. फ्लीट, **अक्त द्यु कातोर्जिएम कॉंग्रेस देजोरियाँतालिस्त** (१९०५) पृ० १६४।

६८. टी० डब्ल्यु रीज़्डेविड्स् **बुद्धिस्ट इंडिया** पृ० २८, जी० पी० मालाला शेखर, **डिक्शनरी आव पाली प्रोपर नेम्स** भाग २ पृ० २१५. फेलिक्स् लासोत, **एसे आन गुणाढ्य एंड दि बृहत्कथा** (रेवरेंड ए० म० टेवर्ड का अंग्रेजी अनुवाद) पृ० १७६, **पपंचसूदनी**, भाग २ पृ० ९८२।

६९. **इंडियन एंटीक्वेरी** भाग १३ पृ० ३३१, ३४९।

रायचौधुरी ने उसकी पहचान आर्जुनायन से की है।[७०] मार्कंडेयपुराण में पांडव का वर्णन उत्तर-पश्चिम की जातियों, उदाहरणार्थ कंबोज, पर्व और दरद के साथ हुआ है। इससे यह स्पष्ट है कि पांडव भी एक जाति विशेष का परिचायक और प्रतीक है।

### पांडवबंधुओं की जातीय व्यंजना

पांडवबंधुओं की संख्या पांच का ऐतिहासिक दृष्टि से बड़ा महत्त्व है। यूरेशिया के घुमक्कड़ दल प्रायः कबीलों के समूह होते थे और अपने आपको 'अमुक अमुक इतने' इस प्रकार अभिहित किया करते थे। उदाहरण के लिए 'गुरगुर के दस कबीले' ( ओनुगुर ) 'आर्शी के नौ कबीले' (तोकुज आर्शान्) 'त्रयी के चार कबीले' (चहार तोग्रिस्तान) आदि इस प्रकार के संख्यापरक अभिधान हैं। पांडव भी पाँच जातियों के समूह के प्रतीक हैं, आर्जुनायन, वृक, यौधेय और दो मद्र जाति जिनकी संख्या ऐतिहासिक और भौगोलिक दृष्टि से बड़ी महत्वपूर्ण है। केस्पियन सागर के दक्षिण में कजवीन और अर्दलान का मध्यवर्ती प्रदेश 'खमसाह' कहलाता था। 'खमसाह' अरबी भाषा का शब्द है और इसका अर्थ पाँच है। इस प्रदेश में प्राचीन असुरों ( असीरिया के लोगों ) ने उर्मियाह की घाटी के दक्षिणी ओर पर झील और पशु'वा के बीचोबीच असगर्त के स्वतंत्र राज्य की सीमा पर और मन्नई के पास एक सैनिक दुर्ग स्थापित किया था जिसका नाम उन्होंने पंजिश रखा।[७१] सार्गोन ने अपने ७१४ ई० पू० के आठवें अभियान के वृत्तांत में पंजिश के किले की चर्चा की है जो जिकिर्तु और अंदिया के विरुद्ध असुरों की प्रधान चौकी थी।[७२] यह शब्द पंजिश् 'पंज' ( संस्कृत पञ्च ) का असुरी रूप है और 'खमसाह' इसका अरबी पर्याय है। उनका अर्थ 'पाँच' है। ये एक ईरानी स्थान नाम के परिचायक हैं जो "पांचजातियों" के संक्रमण का प्रतीक और अवशेष रहा। ऐसा प्रतीत होता है कि पांडव-बंधु जिन पांच जातियों के प्रतीक हैं, उनका योरेशिया के एक घुमक्कड़ दल के वाम पक्ष से संबंध था। इनका सव्यपक्ष उर्मियाह झील के निकट कजवनि और आरास और कुर नदियों की घाटियों के बीच के पर्वतीय प्रदेश में जा पहुँचा और इसे 'पञ्च' या 'पंजिश' नाम से पुकारने लगा।

हमारे इस अनुसंधान का सार यह है कि पांडवबंधु पांच जातियों के प्रतीक हैं जो मध्य-एशिया से भारत में प्रविष्ट हुईं। इन जातियों में से कुछ ईरान में भी घुसीं। इस जातीय समूह के आर्जुनायन और वृकों में शक तत्व संमिलित थे और यौधेय तथा मद्रों में ईरानी तत्वों का बाहुल्य था।

इस प्रकार इन जातियों का आगमन उत्तरी भारत के शक - ईरानी आक्रमण का द्योतक प्रतीत होता है। यह भी संभव है कि इन जातियों में उत्तरपश्चिम के कुछ किरात तत्व

७०. हेमचंद्र रायचौधुरी, **पोलिटिकल हिस्ट्री आव एंशिएंट इंडिया** ( पंचम संस्करण ) पृ० ५४५।

७१. ए० फोरेर, **डी प्रोविन्त्साइनताइलुंग देज आसीरिशन राइशेस्** पृ० ७५; एन० आदोन्त्स, **इस्वार दारमेनी, लेजोरीजीन** पृ० १०२, ३६७।

७२. डी० डी० ल्युकन बिल, **एशिएंट रिकार्ड्स आव असीरिया एंड बेबीलोनिया,** भाग २, पृ० १५०।

भी मिल गए हों। यह एक बड़ी विशेषता है कि हमारे पास इसका ऐतिहासिक साक्ष्य मौजूद है कि शकों ने भारत पर ईसवी संवत् से कई शताब्दियों पहिले एक आक्रमण किया था। देखना यह है कि इस आक्रमण की, इस जातीय अभियान से; जिसके प्रतीक पाँच पांडव-बंधु हैं, किस प्रकार संगति बैठती है।

## नवीं शताब्दी ई० पू० का भारतीय शकआक्रमण

प्रोफेसर सिल्युस्की ने सिद्ध किया है कि मद्रों की राजधानी शाकल और रावी तथा चिनाब के मध्यवर्ती शाकलद्वीप के नाम 'शक' शब्द पर आधारित और शक आक्रमण के द्योतक हैं। इसी प्रकार, गौतमबुद्ध की शाक्य जाति का नाम 'शक' शब्द का संकेत करता है। यह लक्ष्य करने की बात है कि पाणिनिव्याकरण में शाक्य को शक शब्द से सिद्ध किया गया है। सूत्र ४।३।९२ में शाण्डिक्य जैसे एक शब्दों के समूह की सिद्धि बताई गई है जिनमें 'ञ्य्' प्रत्यय जुड़ता है और फलतः प्रारंभिक स्वर की वृद्धि हो जाती है।[७३] शाक्य निर्वासित शंबक का नाम भी सिल्युस्की के अनुसार शकों का प्रतीक है।[७४] इसे दिव्यावदान में श्यामक और यूनानी लेखकों की कृतियों में सियाउआकोस कहा गया है। तिब्बती दुल्वा के अनुसार इसे कोसलनरेश विडुडभ के शाक्यआक्रमण के समय कुछ लोगों की हत्या करने के अपराध में देशनिकाला दिया गया था और वह बकुड देश में जा बसा था। वहाँ उसने शकों में प्रचलित बारहसिंगे के महत्त्व और पवित्रता के सिद्धांत को प्रतिपादित और प्रचलित किया था। सिल्युस्की का यह भी मत है कि बुद्ध भगवान ने स्त्रियों और पुरुषों की समानता का जो सिद्धांत प्रतिपादित किया और अपने मातृपक्ष को जो प्रधानता दी, जैसा कि उनके सबसे पहिले अपने मातृपक्ष के दो व्यक्तियों को और तत्पश्चात् पितृकुल के तीन व्यक्तियों को दीक्षित करने की किंवदंती से प्रकट होता है, वह सीथिओं, विशेषतः इसेदोन लोगों में प्रचलित स्त्रियों की और फलतः मातृपक्ष की प्रमुखता से मेल खाती है।[७५] प्राचीन भारत में राजत्व का जो सूर्याश्रित विधि-विधान था, उस पर भी मध्य-एशिया का प्रभाव परिलक्षित होता है। वाजपेययज्ञ में घोड़ों से जुड़े हुए रथों की दौड़ और अश्वमेध यज्ञ में घोड़े के परिभ्रमण और बध स्तेपीज की कुछ प्रथाओं की याद दिलाते हैं जिनका उल्लेख चीनी लेखकों ने किया है। देन्यूब नदी की घाटी में लोहे का प्रचार भी, जो हेल्सतात की संस्कृति का प्रधान लक्षण है, सीथियों के संक्रमण का परिणाम है। सिल्युस्की के शब्दों में स्तेपीज् के महान् मार्ग योरोप और एशिया के महाद्वीप की धुरी हैं। इसी राजमार्ग के किनारे किनारे ईसा से पूर्व की प्रथम सहस्राब्दि में लोहे के प्रयोग और उससे संबंधित प्रक्रिया का ज्ञान फैला। इसके अतिरिक्त राज-

७३. **पाणिनिसूत्र** ४।३।९२ शण्डिकादिभ्यो ञ्यः। इस सूत्र के गणपाठ में 'शक' शब्द भी आया है जिससे 'शाक्य' बनता है। गणपाठ इस प्रकार है—शाण्डिक, सर्वकेश, सर्वसेन, शक, शट, वह, शंख, बोध।

७४ राकहिल, **लाइफ आव दि बुद्ध** पृ० ११८; **दिव्यावदान** (कॉवेल का संस्करण) पृ० ५८०, सिलवें लेवी **कातालोग ज्रेओग्राफीक दे यक्ष दाँ ल् महामायुरी** (उपर्युक्त) पृ० ६१. ७३, ९७।

७५. ज्याँ सिल्युस्की, **नूवोजास्पेक्त द् लिस्त्वार दे स्किथ** (उपर्युक्त) पृ० २०९ – २२३।

नैतिक और धार्मिक जगत की कुछ प्रमुख नवीनताएँ और आविष्कार जैसे सूर्य से संबंधित धार्मिक कृत्य और सार्वभौम राज्य का सिद्धांत इस मार्ग से प्रसरित हुए। सांस्कृतिक तत्वों के इस प्रचार में, जिनको विभिन्न सभ्यताओं ने ग्रहण करके क्रमशः समृद्धि प्राप्त की, सिथियों का कोई बहुत गहरा योग प्रतीत नहीं होता। उन्होंने विशेषरूप से उस सबका प्रचार किया जिसे औरों ने बनाया और ईजाद किया था। वे उन कीड़ों की तरह काम करते थे जो एक फूल से दूसरे फूल में परागकण पहुँचाते हैं।[७६]

ई० पू० दूसरी शती से बहुत पहिले भारत में शकों के आगमन का साक्ष्य पंजाब के उन नगरों के नामों से मिलता है जिनके अंत में 'कन्थ' शब्द प्रयुक्त होता था। ऐसे नगर वर्णु[७७] और उशीनर[७८] प्रदेशों में मिलते थे। रावी से कनखल तक और उससे भी परे[७९] ऐसे नगर पाए जाते थे। पाणिनिसूत्र ६।२।१२५ में 'कंथ' युक्त स्थाननामों का निर्देश है और गणपाठ में चीहणकन्थ, मडरकन्थ, वैतुलकन्थ, पटत्ककन्थ, वैडालीकर्णकंथ, कुक्कुटकंथ और चित्कणकंथ के नाम दिए हुए हैं।[८०] मूलसर्वास्तिवादियों की विनय से ज्ञात होता है कि भगवान बुद्ध उत्तरपश्चिम के एक कंथा (तिब्बती, कन् - था) नामक ग्राम में गए जहाँ उन्होंने एक पक्षी और उसके परिवार को दीक्षा दी।[८१] 'कंथ' शक भाषा का शब्द है और इसका अर्थ 'नगर' है। यह शब्द खरोष्ठी अभिलेखों के 'कधवर' - 'कंथावर' फारसी के 'कंद', खोतानी के 'कंथा', सुग्धी के 'कथ', पुश्तो के 'कंदै' और यू - ची की भाषा (जिसे बेली ने 'असिका' नाम दिया है) के 'कंदा' या 'कोइंदत' शब्दों के परिवार का है।[८२] यह महत्त्वपूर्ण बात है कि वंक्षु के पार का प्रदेश जो शकों का आदिम निवास-स्थान था 'कंथ' युक्त नगर-नामों से भरपूर है। समरकंद, खोकंद, चीमकंद, ताशकंद, पंजकंद, यारकंद आदि नगर इस प्रदेश के प्रमुख स्थान हैं। शक आकृति के इन स्थानवाची शब्दों का संपूर्ण पंजाब में वर्णुवाटी से कनखल तक और उससे भी परे पाया जाना इस तथ्य का साक्ष्य देता है कि आचार्य पाणिनि के काल से भी पहिले, सिकंदर से कुछ पूर्व, इस प्रदेश में शकों का आक्रमण हो चुका था।[८३] कात्यायन के एक वार्तिक में अरघट्ट से चलने वाले कुए कर्कंधु के साथ जिस पैढी वाले कुएँ शकंधु का

७६. ज्यॉ सिल्युस्की, **ले स्किथ ए ला प्रोपागासियों द् ला सिविलिज़ासियों द् हालस-तात**, रव्यु द् ला यूनिवर्सिते द् ब्रूसेल्स, भाग ४२ (१९३६ – ३७) पृ० ३०७।

७७. **पाणिनिसूत्र** ४।२।१०३ वर्णों वुक्।

७८. **वही** २।४।२० संज्ञायां कन्थोशीनरेषु।

७९. **वही** ४।२।१४८ कंथापलदनगरग्रामह्रदोत्तरपदात् उदाहरणार्थं दाक्षिकंथीयम्, देखिए ४।२।१०२ कंथायाष्ठक्; **वही** ६।२।१२४ कंथा च; **वही** ६।२।१२५ आदेश्चिहणादीनाम्।

८०. **पाणिनिसूत्र** ६।२।१२५ आदिश्चिहणादीनाम्।

८१. ज्यॉ सिल्युस्की, **लू नोर्दूए द् लेन्द** उपर्युक्त पृ० ५१३।

८२. स्टेन कोनो, **कार्पस् इंसक्रिप्शियोनम इंडीकारुम** भाग २, भूमिका पृ० ४३; **शक स्टडीज़** पृ० ४८, १४९; एच० डब्ल्यू० बेली, **असिका**, ट्रांजेक्शन्स् आव दि फाइलोलोजिकल सोसायटी (१९४५) पृ० २२ – २३।

८३. वासुदेवशरण अग्रवाल, **इंडिया एज़ नोन टु पाणिनि** पृ० ६८; **सम फारिन वर्ड्स् इन एंशिएंट संस्कृत लिटरेचर**, इंडियन हिस्टारिकल कार्टरली (१९५१) पृ० ११ – ११।

उल्लेख मिलता है, वह भी इसी तथ्य की ओर संकेत करता है।[८४] एरियानस के इस कथन से भी कि सिकंदर के आक्रमण के समय शक भारत की उत्तर - पश्चिमी सीमा पर विद्यमान थे इस बात की पुष्टि होती है।[८५] शकों के आक्रमण का यह उमड़ता हुआ सागर उत्तरपश्चिमी प्रदेश से फैल कर भारत की पूर्वी सीमाओं तक प्रसरित हो गया था। पुराणों में यह उल्लेख मिलता है कि राजा बाहु के काल में शक अयोध्या तक बढ़ आए थे और उसके पुत्र सगर ने उनको रोका तथा निर्वासित किया था।[८६]

## ईसवी पूर्व नवीं आठवीं शताब्दि का ईरानी - शक - आक्रमण

शकों के इस आक्रमण से उत्तरी भारत ही आप्लावित नहीं हुआ वरन् ईरान और सीसतान भी विनिमज्जित हो गए। हखामनिश् के पुत्र किशिपश् ( तिस्पीश् ) का नाम किम्री योद्धा तयस्पु के नाम से मिलता है जो ६८१ – ६६८ ई० पू० में असुरी सम्राट् ईसरहद्दन से लड़ा था।[८७] यह महत्व की बात है कि हिरोदोतस के अनुसार किशिपश की पत्नी का नाम जो कुरुश् प्रथम की माता थी, स्पाको ( कुतिया ) था। यह नाम शक योद्धा इस्पकाई की याद दिलाता है जो किम्री के पीछे पीछे ईरान में घुस गया था।[८८] किशिपश् और स्पाको के नाम किम्री और सीथी लोगों के पारस्परिक संबंध के द्योतक हैं जिन्होंने ईरान में हखामनि साम्राज्य की स्थापना में काफी सहयोग दिया।

किम्री और सीथी, असुरी लेखों के गिमिरै और इश्कुजै, आपस में एक दूसरे से संबंधित थे। ये एक सी भाषाएँ बोलते थे और लूटमार से गुजर करते थे। सारगोन द्वितीय के राज्य-काल में उरार्तु पर इनके आक्रमण का ज्वार उमड़ा और यद्यपि वे परास्त होकर भागने पर विवश हुए, उन्होंने देश को इतना बर्बाद कर दिया कि वहाँ के राजा रूसस् प्रथम को निराश होकर आत्महत्या करनी पड़ी। किम्री दो भागों में बँट गए थे, इनका एक भाग कशश्रित की सहायता के लिये उर्मियाह झील के किनारे पर आ धमका और इनका अश्वारोही भाग एशिया माइनर में घुस पड़ा और उसने वहाँ के फ्रीजी और लीडी राज्यों का विध्वंस कर डाला। इसके कुछ समय बाद असुर बेनीपाल ने उनको साइलिसिया की पहाड़ियों में परास्त किया और उनके बचे - खुचे अंश भाग कर सीथियों से जा मिले। इसरहद्दन के काल में सीथी उर्मियाह झील के दक्खिनी और दक्षिणपूर्वी भाग में बस गए और साकिज़ नामक नगर में उन्होंने अपनी राजधानी स्थापित की। इस नगर का नाम शकों के नाम का अवशेष है। परततुआ नामक राजा, जो हिरोदोतस द्वारा वर्णित प्रोतोथाइस है, के नेतृत्व में उन्होंने आजर-

८४. पाणिनिसूत्र ६।१।६४ पर वार्तिक शकन्ध्वादिषु पररूपं वाच्यम्।

८५. फ्लेवियस अर्रियनुस, एनेबेसिस एलेग्जंड्री ( लोएब क्लासिकल लायब्रेरी में इलिफ रॉबसन का संस्करण भाग २ पृ० २३४।

८६ विष्णुपुराण ४।३; वायुपुराण अध्याय ८८, ब्रह्मांडपुराण अध्याय ६३।

८७. डी० डी० ल्युकनबिल, एशिएंट रिकार्डस् आव असीरिया एंड बेबीलोनिया भाग २१ पृ० ५१६, ५३०, ५४६।

८८. वही भाग २ पृ० ५१७, ५३३; कोइन्कि, आल्तेस्ते गेशिश्ते डेयर मीदेर उन्द पर्सेर ( लाइपत्सिक् १९३६ ) पृ० ३७ – ३१। यहाँ हिरोदोतस १।११० की व्याख्या है।

बैजान के काफी बड़े हिस्से पर पैर जमा लिए। इसी बीच उरार्तु असुरिया के विरुद्ध उठ खड़ा हुआ और वहाँ के सम्राट ने शकों से सहायता माँगी। इससे परततुआ की इतनी हिम्मत बढ़ी कि उसने असुरी राजकुमारी से विवाह करने का प्रस्ताव किया। परततुआ के पुत्र मेद्रोस् के युग में शकों की शक्ति बहुत अधिक बढ़ी और उसने मीडिया पर अधिकार करके हिरोदोतस के कथनानुसार वहाँ २८ वर्ष (६५३ – ६२५ ई० पू०) राज्य किया। इस सफलता से शकों को असुरी साम्राज्य को चुनौती देने का साहस हुआ और उन्होंने पश्चिम की ओर आक्रमण कर दिया। असुरिया को नष्टभ्रष्ट करते हुए उन्होंने एशिया माइनर, उत्तरी शाम, फिनीशिया, दमिश्क और फलस्तीन में तबाही मचा दी। उनके आक्रमण का संस्मरण जेरेमियाह की पुस्तक (४।१३) में दी हुई एक भविष्यवाणी में है। इसमें लिखा है कि 'एक राष्ट्रों का संहारक चला आ रहा है। देखो, वह बादलों की तरह आएगा, उसका रथ आँधी जैसा होगा, उसके घोड़े बाज़ों से ज्यादा तेज होंगे। हाय, हाय, हम मर मिटेंगे।'[८९] शकों के इस बढ़ते हुए तूफ़ान को मिस्र के फ़ारोआ ने रोका। इधर ईरान में मीड राजा साइखारेज ने उनका ढंग अपना कर अपनी सेना को सुसंगठित किया और फिर मेदिस् को करारी मात दी। सीथी आक्रमण की ध्वनि हिरोदोतस् और अरियन के इस लेख में सुनाई देती है कि सिकंदर के हमले से पहिले 'शक इदन्थिर्सस् ने सीथिया से निकलकर एशिया की बहुत सी जातियों पर विजय प्राप्त की और वह मिस्र से भी परे तक जीतता चला गया।'[९०]

लूरिस्तान में इन योरेशिया के घुमक्कड़ लोगों के आगमन का प्रमाण वहाँ की कांस्यकला की 'पशु-शैली' है। यह शैली एक विशाल प्रदेश में फैली मिलती है जिससे पता चलता है कि किरिपश् के समय में ये शक लोग लूरिस्तान से फर्स तक बस गए थे।[९१] लूरिस्तान की काँस्यकृतियाँ एक ऐसे अश्वारोही और रथी योद्धाओं का साक्ष्य देती हैं जो एक जगह बसकर रहने के विरुद्ध थे और चलते फिरते रहने में ही आनंद मानते थे। इसलिये ये लोग ऐसी चीज़ों को ज्यादा पसंद करते थे जो आसानी से उठाई और ले जाई जा सकें। यद्यपि इस कला में हुर्री और असुरी प्रभाव भी प्रतिबिंबित हैं फिर भी इसकी वास्तविक शैली विशुद्ध शक है। विशेष रूप से पेटियों के पट्ट और चौपारे सीथिओं की उस निजी कला के नमूने हैं जिसके अवशेष दक्षिणी रूस में मिले हैं। ईरानी इतिहास के इस शकयुग का सर्वश्रेष्ठ निदर्शन साकिज से प्राप्त वस्तुओं से मिलता है जो उर्मियाह झील के दक्षिण में शकों की राजधानी थी। वहाँ जो विशुद्ध असुरी पदार्थ मिले हैं वे उन उपहारों के अवशेष हैं जो असुरी सम्राट ने परततुआ को भेंट किए थे। विशुद्ध शक वस्तुओं में एक सोने की मियान है जिस पर बारहसिंगे के सिरों की पंक्ति अंकित है और कुछ सोने के चौपारे हैं जिन पर पशुओं के सिर चित्रित हैं। विशेष महत्व की वस्तु एक चाँदी की तश्तरी है जिसमें खरगोश जैसे जंगली जानवरों की पंक्तियाँ दुबकती और भागती हुई दिखाई गई हैं। इस तश्तरी पर कुछ चित्रमय चिह्न भी हैं जो शकों का सब से पहिला अभिलेख है।

८९. रने घिर्शमान, **ईरान** पृ० ९९।

९०. जे० डब्ल्यू मेक्क्रिंडिल, **मेगेस्थनीज़ एंड एरियन** पृ० २०१; जोर्ज रालिंसन, **हिरोदोतस्** भाग ३, पृ० १।

९१. जी० जी० केमेरोन, **ए हिस्ट्री आव अर्ली ईरान** (शिकागी १९३६) पृ० १८३ – १८४।

बरतनों की टोंटियों में एक, शिकारी चिड़िया की मुड़ी हुई चोँच की आकृति की है जिस पर गोल आँखें साफ चमकती हैं। दूसरी आराम से बैठे शेर के आकार की है और तीसरी में बत्तखों के मुँह बनाए गए हैं। ये सब विशुद्ध शक-कला-शैलियाँ हैं।[९२] पर्सिपोलिस की खुदाई में हजारों पत्थर के बरतनों और गुलदस्तों के टुकड़े मिले हैं जिनपर बत्तख और हंस चित्रित हैं।[९३] अतः स्पष्ट है कि शकों ने प्राचीन ईरान के घटनाचक्र में प्रमुख भाग लिया।

शकों के आगमन के पश्चात् कुरु और कंबोज भी ईरान में उन्नति करने लगे। इन जातियों के संक्रमणों और आक्रमणों से जो उथल-पुथल हुई उसका परिणाम हखामनि साम्राज्य की स्थापना था।

### ईरानी वीरकाव्य में शकतत्त्व

ईरान में शकों के आगमन का प्रमाण बहुत से वीर-कथानकों और आख्यानों से मिलता है जो इस देश के साहित्य में रम गए। रुस्तम और जाल से संबंधित कथाचक्र पर शक प्रभाव स्पष्ट है। यह बड़े महत्व की बात है कि अवेस्ता में इन प्रसिद्ध वीरों के नाम तक नहीं मिलते और इनसे संबंधित जो कथाएँ हैं वह ईरानी वीर-काव्य के अन्य आख्यानों से मेल नहीं खातीं वरन् उनसे अलग मालूम होती हैं। इनका वातावरण और स्थानीय चित्रण एकदम ईरानी कथानकों से भिन्न है।[९४] इनका संबंध पूर्वी ईरान के सीस्तान और जाबुलिस्तान नामक प्रदेशों से है जो हेलमंद की घाटी में स्थित हैं। जब अरब विजेता सीसतान में प्रविष्ट हुए तो उन्हें वहाँ 'रक्शे-रुस्तम' नामक स्थान मिला।[९५] फिरदौसी के शाहनामे में, जो प्राचीन ईरानी बीरकाव्य का उपबृंहित रूप है, रुस्तम को उसके प्रतिद्वंद्वी प्रायः 'सग्ज़ी' कहते हुए दिखाए गए हैं जिससे उसके शकसंबंधों पर यथेष्ट प्रकाश पड़ता है। यह भी प्रायः सर्वविदित ही है कि कट्टर जरथुस्त्री रुस्तम को अच्छा नहीं समझते क्योंकि उसने इस्फंदियार की हत्या का पाप किया था जो केवल ईरान का लोकप्रिय राजकुमार ही नहीं बल्कि ज़रथुस्त्र के धर्म का एक प्रबल समर्थक और प्रचारक भी था।[९६] इन तथ्यों से प्रतीत होता है कि रुस्तम शक जाति का विदेशी वीर था। यह बात कि रुस्तम के पूर्वजों के नाम ईरानी थे, इस विषय में कोई विशेष महत्व नहीं रखती क्योंकि शक स्वयं ईरानी नस्ल के थे और उनकी भाषा इसी परिवार से संबंधित थी। यह बात कि सीसतान में शक लोग ई० पू० छठी शताब्दि से पहिले

९२. रने घिर्शमान, **ईरान** पृ० १०५, १०७, १०९ – ११०।

९३. **वही**, पृ० १७६।

९४. न्योल्डेके, **दास ईरानिशे नात्सियोनालेपोस** ( द्वितीय संस्करण ) पृ० ९ – १०।

९५. **वही**, पृ० ११।

९६. इस संकेत के लिये मैं प्रोफेसर जे० ई० संजाना का आभारी हूँ। उनका मेरे नाम ५-१२-५६ का पत्र विशेष महत्व का है। श्री संजाना का यह सुझाव कि रुस्तम के नाम का अवेस्ता में 'रोधस्तख्म' के रूप में मिलना इस स्थापना में कोई अंतर उत्पन्न नहीं करता कि रुस्तम शक-जाति से संबंधित था क्योंकि शक वस्तुतः ईरानी ही थे। न्योल्डेके ने इस सुझाव को समीचीन न मानते हुए इसका पूर्णतः खंडन किया है।

से ही आबाद थे श्री एफ० डब्ल्यू० टामस के अनुसंधान से सिद्ध हो गई है।[९७] किंतु बहुत शीघ्र ही ये शक ईरानियों के समाज और संस्कृति में समा गए, यहाँ तक कि दारयवउश उनको अलग से न पहचान सका और घुमक्कड़ दृष्टि से वह उन्हीं लोगों को शक समझ पाया जो सिरदरिया के परे सुग्ध के आसपास रहते थे। इसी प्रकार भारत से भी शकआक्रमण के लगभग सभी चिह्न लुप्त हो गए। केवल कुछ विचित्र स्थाननाम जिन पर एक वैयाकरण का ध्यान पहुँचा और कुछ धुँधले कथानक जो पुराणों के अपार आख्यानसागर में विलीन हो गए, इन लोगों के प्रतीक रह गए।

## महाभारत - नवीं शती ईसापूर्व के भारतीय शकईरानी आक्रमण का वृत्तांत

ई० पू० प्रथम सहस्राब्दि की प्रारंभिक शताब्दियों में ईरान और भारत में जो शकों का संक्रमण हुआ उसकी साहित्यिक अभिव्यंजना वीरता, नश्वरता और ओज से परिपूर्ण उन गीतों और गाथाओं में हुई जो शाहनामा और महाभारत में संगृहीत हैं। जैसा कि ऊपर देखा जा चुका है नवीं - आठवीं शती ई० पू० में ईरान में शक जनसंक्रमण हुआ जिसमें यौतिया, मकिया और असगर्तिया ने प्रमुख भाग लिया और उनके पीछे ही पीछे क्रिव्री, सीथी, कुरु और कंबोज वहाँ घुस आए और उन्होंने हखामनि साम्राज्य की स्थापना में भाग लिया। एशियाई घुमक्कड़ों का एक ऐसा ही समुदाय जिसमें प्रायः यही जातीय तत्व संमिलित थे, लगभग उसी काल में अफगानिस्तान और पंजाब में आ धमका। इस आक्रमण में शकों की प्रधानता थी। महाभारत में वर्णित पांडवों का आगमन इस नवीं शती के शकआक्रमण को प्रतिबिंबित करता है। इस प्रसंग में यह उल्लेखनीय है कि श्री हेमचंद्र रायचौधुरी के मतानुसार परीक्षित का राज्याभिषेक जो महाभारत के युद्ध के तुरंत बाद की घटना है, नवीं शती ई० पू० में संपन्न हुआ।[९८] यह समय नवीं शती के भारतीय शक आक्रमण से मेल खाता है।

## गांधारों का उन्मूलन और कुरुक्षेत्र का प्रथम युद्ध

जब कभी भी किसी जाति ने पंजाब पर आक्रमण किया या किसी सेना ने इस प्रदेश पर अभियान किया तो उसने उत्तरपश्चिमी सीमाओं पर बसने वाले लोगों को उखाड़ कर दक्षिण - पूर्वी मैदानों की ओर धकेल दिया। शक - ईरानी जातियों के अभियान के फलस्वरूप भी पंजाब की उत्तर - पश्चिमी सीमा पर बसने वाले गंधार के निवासी पूर्व की ओर घुस पड़े और कुरुक्षेत्र के मैदान में कुरुओं से भिड़ गए। महाभारत से ज्ञात होता है कि पांडवों और कौरवों के प्रसिद्ध कुरुक्षेत्र के युद्ध से कुछ ही पहिले इसी भूमि में सरस्वती के तट पर उत्तर - पश्चिम के गंधर्वों और कुरुओं का भीषण संग्राम हुआ जिसमें कुरुजनाधिप चित्रांगद वीरगति को

९७. एफ० डब्ल्यु० टामस, **शकस्थान व्हेयर ड्वेल्ट दि शकस नेम्ड बाई डेरियस एंड हिरोडोटस**, जर्नल आव दि रायल एशियाटिक सोसाइटी लंदन (१९०६) पृ० १८१ – २००। इसी पत्रिका के उपर्युक्त अंक में आगे चलकर टामस महाशय ने इस विषय पर एक और टिप्पणी लिखी है, वही पृ० ४६० – ४६४।

९८. हेमचंद्र रॉयचौधुरी, **पोलीटिकल हिस्ट्री आव एंशिएंट इंडिया** (पंचम संस्करण) पृ० ३६।

प्राप्त हुआ।[९९] ये गंधर्व और गांधार वस्तुतः एक ही हैं क्योंकि ये दोनों शब्द द्रविड भाषाओं के अश्ववाचक 'कुडिरेइ' कुद्री (कुद्री), कुडिर (कुदिर), कुडुरे (कुदुरे) आदि शब्दों से निष्पन्न और संबंधित हैं जैसा कि श्री ज्याँ सिल्युस्की ने सिद्ध किया है।[१००] ऐसा प्रतीत होता है कि शकै-ईरानी जातियों के आक्रमण के फलस्वरूप गंधार के लोगों का स्रोत उमड़कर पूर्व की ओर बहने लगा और उसने एक अभियान का रूप धारण कर लिया जिसका परिणाम कुरुक्षेत्र का प्रथम युद्ध था जिसमें चित्रांगद की मृत्यु हुई। किंतु यह युद्ध शक-ईरानी जातियों के एक बड़े और शक्तिशाली आक्रमण की पूर्व पीठिका मात्र था जिससे कुरुओं की सत्ता निर्मूल हो गई।

### पांचाल जातियाँ और कुरुओं के साथ उनके युद्ध

कुछ ऐसा प्रतीत होता है कि शक-ईरानी जातियों का आक्रमण, जिसके प्रतीक पांडव-बंधु हैं, उस समय हुआ जब कुरुओं और पांचालों का वैमनस्य भभक कर युद्ध का रूप धारण कर रहा था। ये पंचाल भी एक जातीय समुदाय के प्रतीक थे जिसमें बहुत सी जातियाँ संमिलित थीं और जिसपर केशी का आधिपत्य था। इस समूह ने ई० पू० सत्रहवीं शताब्दि

९९. **महाभारत** १।१०१।६-७

स तु चित्राङ्गदः शौर्यात् सर्वान् चिक्षेप पार्थिवान्।
मनुष्यं न हि मेने स कंचित सदृशमात्मनः॥
तं क्षिपन्तं सुरांश्चैव मनुष्यानसुरांस्तथा।
गन्धर्वराजो बलवाँस्तुल्यनामाऽभ्ययात्तदा॥
तेनास्य सुमहद्युद्धं कुरुक्षेत्रे बभूव ह।
तयोर्बलवतोस्तत्र गन्धर्वकुरुमुख्ययोः॥
नद्यास्तीरे सरस्वत्याः समास्तिस्रोऽभवद्रणः।
तस्मिन् विमर्दे तुमुले शस्त्रवर्षसमाकुले॥
मायाधिकोऽवधीद्वीरं गन्धर्वः कुरुसत्तमम्।
स हत्वा तु नरश्रेष्ठं चित्राङ्गदमरिन्दमम्॥
अन्ताय कृत्वा गन्धर्वो दिवमाचक्रमे ततः।

१००. ज्याँ सिल्युस्की, **लेफ्लुऑंस ईरानियान ऑं ग्रेस ए दाँ लेन्द** ख्यु द ल्युनिवर्सिते द् ब्रूसेल्स, भाग ३७ (१९३१-३२) पृ० २८५। यह लक्ष्य करने की बात है कि गन्धर्वों के मुख घोड़ों के थे। गंधर्व का घोड़े से निकट संबंध है। इस प्रकार उनके नाम का अश्ववाचक शब्द से संबंधित होना बड़ा महत्त्व रखता है। यह बात कि द्रविड लोग प्राचीन काल में उत्तर-पश्चिमी प्रदेशों से होकर भारत में प्रविष्ट हुए, इस तथ्य से सिद्ध होती है कि उनकी भाषा का अवशेष अब तक भी ब्राहुई लोगों में पाया जाता है। यह संभव है कि गंधार शब्द भी उनकी भाषा से संबंध रखता हो और इस प्रदेश में उनके आगमन का द्योतक हो। इस शब्द का अश्ववाची शब्दों से समीकरण उत्तरपश्चिमी प्रदेशों में घोड़ों के बाहुल्य और महत्त्व की ओर संकेत करता है।

के आसपास भारत में प्रवेश किया जैसा कि मैंने अन्यत्र सिद्ध करने की चेष्टा की है।[१०१] इस समूह का एक पक्ष इस शती में शाम की ओर चल पड़ा था और उसने हंमुराबी के राजवंश का अंत कर दिया था। मध्यएशिया के जनसमुदाय इसी प्रकार दो भागों में बँट - बँट कर भारत और मध्यपूर्व की ओर अग्रसर होते रहे।[१०२] पंचाल पाँच जातियों के समूह का प्रतीक है, १-क्रिवि, जो हिंदी-ईरानी सीमाप्रदेशों की एक सर्पोपासक आदिम जाति थी[१०३], २ - तुर्वश, जो मध्य एशिया के स्तेपों के ईरानी नस्ल के लोग थे और जिनका नाम ख्वारिज्म प्रदेश के 'तुर' नामक स्थान में अवशिष्ट है और जिनके वंशज कुरम (क्रमु) घाटी के 'तुरी लोग हैं[१०४], ३ - केशी, जिनकी पहचान स्पष्टतः केशियों या केशाइट से की जा सकती है जिन्होंने मध्यपूर्व में अमोरी राज्य को समाप्त करके कई सौ वर्ष राज किया, ४ - संजय, हिरोदोतस द्वारा वर्णित स्रंगै, हखामनि अभिलेखों के ज्रंक, इलामी भाषा के सिर – र – अन् – क, अरियन के सारग्गोइ और स्त्राबो के द्रग्गियाने, जिनका नाम उस प्रदेश से संबंधित था जिसे बाद में सीसतान कहा जाने लगा, और ५ - सोमक या सोमकृत्य के करने वाले लोग जिन्हें हखामनि लेखों में शक हौमवर्ग कहा गया है। सोमक और हौमवर्ग पर्यायवाची शब्द हैं। जातियों का यह समूह संभवतः बोलन मार्ग से भारत में प्रविष्ट हुआ जैसा कि इनमें संजय के संमिलित होने से तथा इस प्रदेश में दश्ते-मर्गो नामक जगह के मिलने से प्रतीत होता है। इस समुदाय में जो जातियाँ शामिल थीं वे लगभग वही थीं जिन्होंने शाम पर प्रायः उसी काल में आक्रमण किया था।

भारत में आने के बाद ये लोग गंगा की उपत्यका में बस गए। इनके दो राज्य स्थापित हुए, एक की राजधानी कांपिल्य थी और दूसरे की अहिच्छत्रा। इसी बीच कुरु मध्यएशिया के प्रदेशों से चलकर पुरुभरतों वाले प्रदेश में आ बसे और उनमें घुल मिलकर एक हो गए। कुरुओं के आगमन और उनके कुरुक्षेत्र के द्वार पर अधिकार करने के फलस्वरूप उनमें और पंचालों में युद्ध की ज्वाला भभक उठी। वैदिक साहित्य[१०५] में कुरु-पंचालों के युद्ध, वैमनस्य और शत्रुता के अनेक संकेत मिलते हैं और महाभारत में भी बारंबार उनका उल्लेख हुआ है। शतपथब्राह्मण ( १२।६।३ ) में कुरु और संजयों के वैरपूर्ण संबंध की चर्चा है और जैमिनीय – उपनिषद् – ब्राह्मण ( १।३८।१; १२।४ ) में एक सुंदर दृश्य है जहाँ कुरु दाल्भ्यों को उपालंभ देते हुए दिखाए गए हैं जो पंचालों के सहचर और संबंधी थे। महाभारत में पांचाल्य ( पंचाल-नरेश ) और पुरु-भरत-राजा संवरण के युद्ध का वर्णन है जिसके फलस्वरूप संवरण को भाग कर सिंधुघाटी में आश्रय लेना पड़ा। पंचालों का कुरु भूमि पर आधिपत्य हो गया और वहाँ कष्ट, दरिद्रता और पतन का बोलबाला हुआ। संवरण ने अपने परिवार, परिचारकों और बंधुओं के साथ सिंधु की उपत्यका के किसी दुर्ग में शरण ली और वशिष्ठ के नेतृत्व में अपने

१०१. बुद्धप्रकाश, **कृष्ण, एन एथनोलोजिकल स्टडी**, पी० के० गोडे अभिनंदन ग्रंथ।

१०२. ए० क्रास्तेन्जन, **कुल्तूरगेशिश्ते डेज् आल्तेन ओरियन्तस्** पृ० २११–१२।

१०३. कास्तेन रोनो, **वैदिक क्रिवि**, एक्टा ओरियन्टेलिया, भाग १३, पृ० १६१–१८०।

१०४. जी० लि स्ट्रेञ्ज, दि लैंड्स आव दि ईस्टर्न कैलिफेट पृ० ३३१-३२। सी० एल० पैनेल **असंग दि वाइल्ड ट्राइब्स् आव दि अफगान फ्रंटियर** पृ० ५५–५६।

१०५. मेकडोनल और कीथ, **वैदिक इंडेक्स**, भाग २, पृ० ६९।

साम्राज्य को फिर से प्राप्त करने का यत्न आरंभ किया।[१०६] महाभारत में इसे एक बहुत प्राचीन घटना बताया गया है।

महाभारत के अनुसार कौरवों और पांडवों का कुरुक्षेत्र का महायुद्ध वास्तव में कुरुओं और सृंजयों का संग्राम था। युद्ध के दृश्यों का वर्णन और चित्रण करते समय युद्ध के पर्वों के संपादक का ध्यान बारंबार कुरुओं और सृंजयों के युद्ध की ओर आकृष्ट होता है जो पंचालों की एक प्रधान जाति था। इन संकेतों से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि कुरु-सृंजय-संग्राम, लेखकों या चारणों के मस्तिष्क में प्रमुख था और इसपर कौरव-पांडव युद्ध का वृत्तांत मढ़ दिया गया। भीष्म पर्व में कुरु सदा सृंजयों के साथ लड़ते हुए दिखाए गए हैं।[१०७] जब भीष्म

१०६. **महाभारत** १।८६।३१ – ४१

आर्क्षे संवरणे राजन् प्रशासति वसुन्धराम्।
संक्षयः सुमहानासीत् प्रजानामिति नः श्रुतम्॥
व्यशीर्यत ततो राष्ट्रं क्षयैर्नानाविधैस्तथा।
क्षुन्मृत्युभ्यामनावृष्ट्या व्याधिभिश्च समाहतम्॥
अभ्यघ्नन् भारतांश्चैव सपत्नानां बलानि च।
चालयन्वसुधां चैव बलेन चतुरङ्गिणा॥
अभ्ययात्तं च पाञ्चाल्यो विजित्य तरसा महीम्।
अक्षौहिणीभिर्दशभिः स एनं समरेऽजयत्॥
ततः सदारः सामात्यः सपुत्रः ससुहृज्जनः।
राजा संवरणस्तस्मादपलायत महाभयात्॥
सिन्धोर्नदस्य महति निकुंजे न्यवसत्तदा।
नदीविषयपर्यन्ते पर्वतस्य समीपतः॥
तत्रावसन्बहून्कालान् भारताः दुर्गमाश्रिताः।
तेषां निवसतां तत्र सहस्रं परिवत्सरान्॥
अथाभ्यगच्छद्भरतान्वसिष्ठो भगवानृषिः।
तमागतं प्रयत्नेन प्रत्युद्गम्याभिवाद्य च॥
पुरोहितो भवान्नोऽस्तु राज्याय प्रयतामहे।
ओमित्येव वसिष्ठोऽपि भरतान् प्रत्यपद्यत॥
अथाभ्यषिञ्चत् साम्राज्ये सर्वक्षत्रस्य पौरवम्।
विषाणभूतं सर्वस्यां पृथिव्यामिति नः श्रुतम्॥
ततः स पृथिवीं प्राप्य पुनरीजे महाबलः।
आजमीढो महायज्ञैर्बहुभिर्भूरि दक्षिणैः॥

१०७. **महाभारत** ६।४५।१ – २

पूर्वाह्णे तस्य रौद्रस्य युद्धमह्नो विशाम्पते।
प्रावर्त्तत महाघोरं राज्ञां देहावकर्तनम्॥
कुरूणां सृंजयानां च जिगीषूणां परस्परम्।
सिंहानामिव संह्रादो दिवमुर्वीं च नादयन्॥

और अर्जुन घोर युद्ध में संलग्न हुए और अन्य योद्धा स्तब्ध होकर आह्वि आदि करने लगे तो कुरु और संजय भी एक जगह रुक कर देखने लगे।[108] कर्णपर्व में भी जब विपक्षी सेनाएँ अर्जुन और कर्ण के प्रखर प्रहारों से संत्रस्त हो रहीं थी तो कुरु और संजय आपस में उलझ पड़े और इस संग्राम का फल मुख्यतः उन्हीं को भोगना पड़ा।[109] अन्य स्थानों पर भी जब योद्धाओं की विभिन्न टुकड़िया अपने प्रतिद्वन्द्वियों से लड़ती हैं तो कुरु नियमित रूप से संजयों के साथ जूझते हैं।[110] अतः स्पष्ट है कि महाभारत के महायुद्ध में कुरुपंचाल का परंपरागत वैमनस्य और सतत युद्ध उत्तर-पश्चिम की शक ईरानी जातियों के आक्रमण में हिलमिल गया। यह महत्वपूर्ण बात है कि पांडवों को पंचालों से वैवाहिक दृष्टि से संबंधित दिखाया गया है और यह भी सारगर्भित तथ्य है कि पांडवसेना का प्रथम सेनापति पंचाल राजकुमार धृष्टद्युम्न बनाया गया। यह भी उल्लेखनीय है कि वैदिक साहित्य में कुरुपंचालों के युद्धों के संकेत तो हैं किंतु कुरुपांडवों के वैमनस्य का कोई संकेत नहीं है। इससे ज्ञात होता है कि कुरु-पंचाल-युद्ध कौरव-पांडव युद्ध से बहुत पहिले की घटनाएँ हैं। ऐसा लगता है कि जब कुरु-पंचाल-वैमनस्य चरम सीमा पर था तो पंजाब से शकईरानी जातियों का आक्रमण हो गया। संभव है कि पंचालों के निमंत्रण पर या उनके सहयोग और सहायता से यह आक्रमण हुआ हो, जैसा कि भारतीय इतिहास में अक्सर होता रहा है। इस कार्य-कलाप एवं जातियों की गतिविधि के फलस्वरूप मध्यदेश से कुरुओं के प्रभुत्व का अंत हो गया।

वही ६।७२।१५

तत्राद्भुतमपश्याम संप्रहारं सुदारुणम्।
यदकुर्वन् रणे शूराः संजयाः कुरुभिः सह॥

वही ६।७३।४१

मुक्तकेशा विकवचा विरथाश्छिन्नकार्मुकाः।
बाहुभिः समयुध्यन्त संजयाः कुरुभिः सह॥

१०८. वही ६।६०।२६

एवं विधं कार्मुक भीमनादमदीनवत्सत्पुरुषोत्तमाभ्याम्।
ददर्श लोकः कुरु संजयाश्च तद्वैरथं भीष्म धनञ्जयाभ्याम्॥

१०९. वही, ८।९३।१

तस्मिंस्तु कर्णार्जुनयोर्विमर्दे दग्धस्य रौद्रेऽहनिविद्रुतस्य।
बभूव रूपं कुरुसंजयानां बलस्य बाणोन्मथि तस्य कीदृक्॥

११०. वही ८।४७।२३

एवं मारिषसंग्रामो नरवाजि गजक्षयः।
कुरूणां संजयानां च देवासुर समोऽभवत्॥

वही ८।५७।१२

स सन्निपातो रथयूथपानां बभूव राजन् अतिभीमरूपः।
जनक्षयः कालयुगांतकल्पः प्रावर्त्तताग्रे कुरुसंजयानाम्॥

वही ८।५९।१

ततः पुनः समाजग्मुरभीताः कुरुसंजयाः।
युधिष्ठिरमुखाः पार्थाः सूतपुत्र मुखावयम्॥

## कुरुक्षेत्र का द्वितीय महायुद्ध और कुरुओं का पतन

कुरुओं का पतन महाभारत के कथानक का विषय है। हाप्किंस ने छान्दोग्योपनिषत् के एक पद्य को उद्धृत करते हुए यह दिखाया है कि एक बार कुरुओं पर आपत्ति पड़ी थी और एक घोड़ी ने उनकी रक्षा की थी।[१११] शंखायन श्रौतसूत्र में एक ब्राह्मण के शाप के फलस्वरूप कुरुओं के कुरुक्षेत्र से निकलने का उल्लेख मिलता है।[११२] छांदोग्योपनिषत् में एक अन्य स्थान पर लिखा है कि एक बार टिड्डी दल के आने से कुरुदेश की फसलें नष्ट हो गईं और फलतः उशस्ति चाक्रायण का परिवार बड़े कष्ट में आ गया और उसे एक दूसरे आदमी की थाली में से जूठा भोजन उठाकर करना पड़ा।[११३] पुराणों से पता चलता है कि अधिसीम कृष्ण के पुत्र निचक्षु के राज्यकाल में गंगा की एक बाढ़ से हस्तिनापुर बह गया और कुरुओं को अपनी राजधानी कौशांबी में बदलनी पड़ी।[११४] बौद्धकाल में कुरु जनपद बहुत सिकुड़ गया था और इसका सार्वभौम महत्व समाप्त हो चुका था। सोमनरस जातक ( सं० ५०५ ) के अनुसार कुरुरट्ठ में उत्तर पंचालनगर स्थित था जिससे पता चलता है कि कुरुदेश पर पंचालों का आधिपत्य जम गया था।

## आभीरों का उत्कर्ष

कुरुओं के पतन के बाद पंजाब और मध्यदेश में शांति और शासन समाप्त हो गए और बहुत सी आदिम और विदेशी जातियाँ सिर उठाने लगीं। इन जातियों में शूद्र और आभीर प्रमुख थे जो अपने निवासस्थान सिंधु के डेल्टा और बलुचिस्तान से निकल कर पंजाब में फैल गए और सरस्वती की उर्वर उपत्यका को आतंकित करने लगे, जैसा कि मैंने अपने आभीरों के अध्ययन [११५] में प्रतिपादित किया है। आभीरों के सान्निध्य के कारण विनशन में सरस्वती के लुप्त होने की मान्यता इस तथ्य की ओर इंगित करती है कि शक ईरानी जातियों के तुरंत ही बाद आभीर कुरुदेश में उमड़ आए थे[१६] और कुरुओं के पतन में इनका भी

१११. **छांदोग्योपनिषत्** ४।१७।६ – १०, राधाकृष्णन् दि **प्रिंसिपल उपनिषद्स** पृ० ४८०

यतो यत आवर्तते तद् तद् गच्छति मानवः।
ब्रह्मैवैक ऋत्विक् कुरूनश्वभिरक्षति ॥

ई० डब्ल्यु० हाप्किंस, **दि ग्रेट एपिक आव इंडिया** पृ० ३८५।

११२. १५।१६।१० – १३।

११३. **छांदोग्योपनिषत्** १।१०।१ राधाकृष्णन ( उपर्युक्त ) पृ० ४६ ४२१

मट्चीहतेषु कुरुषु आटिक्या सहजायया उशस्तिर्हं चाक्रायण इभ्यग्रामें प्राद्राणक उवास।

११४. एफ० ई० पार्जीटर, **डाइनेस्टीज आव दि कलि-एज** पृ० ५

गंगयापहृते तस्मिन नगरे नागसाह्वये।
त्यक्त्वा निचक्षुर्नगरं कौशांब्यां च निवत्स्यति ॥

११५. बुद्धप्रकाश, **दि आभीस, देयर एण्टीक्वीटी, हिस्ट्री एण्ड कल्चर.** जर्नल आव दि बिहार रिसर्च सोसायटी भाग ४० ( १६५४ ) पृ० १ – १७।

११६. **महाभारत** ६।३७।१ ततो विनशनं राजन जगामाथ हलायुधः।
शूद्राभीन् प्रतिद्वेषाद् यत्र नष्टा सरस्वती।

काफी गहरा हाथ था। मुषलपर्व से ज्ञात होता है कि ये आभीर इतने दुर्दांत और शक्तिशाली हो गए थे कि इन्होंने अजेय अर्जुन को भी परास्त कर दिया था जब वह द्वारका से यादव महिलाओं को वापस ला रहा था।[११७] उसी समय नाग जैसी कुछ और जातियाँ सिर उठाने लगी थी क्योंकि जनमेजय को उन्हें कुचल कर तक्षशिला में दरबार लगाना पड़ा। उसका सर्पसत्र इस तथ्य का द्योतक है। या तो वह मध्य-देश में अशांति और आतंक फैलने से उत्तर-पश्चिम की ओर गया जिस प्रकार उसका पूर्वज संवरण गया था और या उत्तर-पश्चिम के किसी जातीय संकट को दूर करने के लिये उसे तक्षशिला में अपनी राजधानी बनानी पड़ी। तक्षशिला में ही वैशंपायन ने उसे महाभारत सुनाया।

### शकों का काव्य महाभारत

उपर्युक्त अध्ययन में हमने उत्तर वैदिककाल में महाभारत के आधार पर पंजाब के जातीय आक्रमणों और संक्रमणों की गवेषणा की। हम इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि महाभारत का केंद्र-बिंदु पांडव-कथानक प्राचीन भारतीय साहित्य की परंपराओं से एकदम भिन्न है। यहाँ तक कि पुराणों की प्राचीन और प्रामाणिक वंशावलियों में पाण्डवों के वृत्तांत का या उनसे संबंधित घटनाओं का संकेत तक भी नहीं मिलता। इससे ज्ञात होता है कि महाभारत में जो विशेष प्रकार का साहित्य संगृहीत है उसका भारतीय साहित्य की अन्य धाराओं से और उनमें संनिहित परंपराओं से कोई ताल-मेल नहीं है। इतिहास के महान् विद्वान् और विलक्षण तत्त्वद्रष्टा आर्नोल्ड जोजेफ ट्वायनबी ने एक मूल्यवान संकेत किया है कि महाभारत की उत्पत्ति का श्रेय शकों को है। उन्होंने लिखा है कि "जब शकों को वीर-काव्य की आवश्यकता पड़ी तो उनका ध्यान अपनी भारतीय प्रजा की ओर गया और यह स्पष्ट ही है कि जब किसी पराधीन जन-समाज से ऐसी माँग की जाती है, तो उसके कवि अपने कोश से अनेक नई और पुरानी वस्तुएँ निकाल कर प्रस्तुत करने के लिये तैयार हो जाते हैं। यदि हम किसी ऐसे हिंदू कवि की कल्पना करें जिसका हृदय एक नवीन 'उच्च धर्म' में आसक्त हो और जिसे कोई भावुक बर्बर शक योद्धा-नरपति वीर-गाथाएँ तैयार करने की आज्ञा दे, तो क्या संस्कृत काव्य, जैसा कि यह हमारे सामने वर्तमान है, ठीक वैसे ही तुकबंदी नहीं मानी जाएगी, जो एक साथ दो विभिन्न रुचियों को संतुष्ट करने और दो पृथक् हितों को संपन्न करने के प्रयत्न की क्रिया-शक्ति से प्रादुर्भूत होती है?"[११८] यहाँ ट्वायनबी ने यह सिद्ध करने की चेष्टा की है कि महाभारत में जो योरेशिया के घुमक्कड़ लोगों के संक्रमण और संचरण के पुरातन संस्मरण और वृत्तांत संगृहीत हैं उनका ईसवी संवत् के प्रवर्तन के आसपास उत्तरी एवं पश्चिमी भारत में शक-राज्य की स्थापना के अनंतर और शकों की वीरकाव्य की आवश्यकता के कारण पुनरुत्थान और पुनः संस्करण

११७. **महाभारत,** १६।८।१७ – १८

आभीरैरनुसृत्याजौ हताः पंचनदालयैः।
धनुरादाय तत्राहं नाशकं तस्य पूरणे॥
यथा पुरा च मे वीर्यं भुजयोर्न तत्राभवत्।
अस्त्राणि मे प्रणष्टानि विविधानि महामुने॥

११८. आर्नोल्ड जे० ट्वायनबी, **दि फ्योल्केरवाण्डेरुङ्ग आव दि आर्याज् एंड दि संस्कृत एपिक, ए स्टडी आवॅ हिस्ट्री भाग ५ पृ० ६०५ – ६०६।**

हुआ। किंतु ट्वायनबी ने इस तथ्य की ओर ध्यान नहीं दिया है कि ईसा से लगभग नौ सौ वर्ष पहिले शकों और उनसे संबंधित अन्य ईरानी जातियों का उत्तरी भारत में एक और आक्रमण हुआ जिसकी साहित्यिक अभिव्यक्ति इस वीरकाव्य द्वारा हुई। नवीं शती ई० पू० के इस शक-ईरानी आक्रमण के निरूपण द्वारा हम महाभारत के वीर-काव्य की एक अधिक संयत और बोधगम्य व्याख्या करने में समर्थ हो सकते हैं। जैसा हम ऊपर देख चुके हैं पूर्व-खीस्तीय प्रथम सहस्राब्दि के प्रारंभ में शक-ईरानी जातियों के आक्रमण से जो कुरु-साम्राज्य और आधिपत्य का अंत हुआ उसकी साहित्यिक अभिव्यंजना महाभारत में सुरक्षित वीर-काव्य द्वारा हुई। तत्पश्चात् यह कृति कई बार दोहराई गई और ब्राह्मण समाज की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये पहिले ईसवी संवत् के प्रवर्तन के आसपास इसका पुनः संपादन और संस्करण हुआ और फिर गुप्तकाल की प्रेरणाओं को मुखरित करने के लिए चौथी - पाँचवीं शताब्दि में इसका पुनः संपादन और लेखन हुआ। धीरे धीरे पांडवों की जातीय व्यंजना लुप्त हो गई और उन्हें कौरवों के बंधुओं के रूप में चित्रित करने की चेष्टा की गई। किंतु फिर भी पांडव वीरों के वृत्तांतों में कुछ ऐसे विदेशी और विचित्र रूप रह गए जिनकी भारतीय समाज के वातावरण से संगति नहीं बैठती और यह स्पष्ट हो जाता है कि इस वीर-काव्य का मूल-स्रोत किसी ब्राह्मणेतर बाह्य प्रेरणा से प्रादुर्भूत हुआ है। तुलनात्मक ऐतिहासिक गवेषणा द्वारा हमने नवीं शताब्दि ई० पू० के जिस शक-ईरानी आक्रमण की स्थापना की है और जिसके प्रतीक पाँच पांडव बंधु हैं उसकी छाप महाभारत के गीतों, गाथाओं और कथानकों पर स्पष्ट दिखाई देती है। इस प्रकार महाभारत मूलतः नवीं शताब्दि ई० पू० का शक - प्रेरणा और प्रवृत्ति से ओत-प्रोत वीर-काव्य है। इसमें इन जातियों के आक्रमण की ध्वनि मुखरित हो उठी है। यही कारण है कि इसका विषय विशुद्ध भारतीय साहित्यिक सामग्री से मेल नहीं खाता।

*

# विशिष्ट शब्दार्थवाद

रामभूर्ति त्रिपाठी

साहित्य के स्वरूप का विचार देश एवं काल की सीमा में रहते हुए भी उससे ऊपर उठकर किया जाता है, क्योंकि वह सार्वभौम एवं शाश्वत है। साहित्य की यह अखंड सत्ता अपने को विभिन्न नाम - रूपों में व्यक्त करती रहती है। सापेक्ष दृष्टि रखनेवाला मानव उसकी अखंड-रूपता का स्पर्श नहीं कर पाता, उसका हाथ जितनी दूर तक पहुँच पाता है, उतनी ही दूर तक के अंश को वह साहित्य का स्वरूप समझता है और समय समय पर उसे लिपिबद्ध या वाग्बद्ध करता रहता है। यही कारण है कि उसके स्वरूप की चर्चा नाना रूपों में मिलती है। इसकी अनिर्वचनीयता का दूसरा कारण यह भी है कि साहित्य 'रमणीय' है और रमणीय पदार्थ नित नूतन है, नित्य नवोन्मेषशाली हैं। अतः निर्धारित लक्षण की परिमित सीमा में उसे बाँधा भी कैसे जा सकता है? निष्कर्ष यह कि उसकी सभी चर्चित स्वरूपगत विशेषताएँ सत्य हैं, पर वे अंतिम नहीं हैं, क्योंकि वे अपूर्ण हैं। इस अवसर पर जायसी की उक्ति याद आती है—

> सुन हसती कर नाउँ, अन्हरन टोआ धाइ के।
> जो देखा जेहि ठाउँ, मुहम्मद सो तैसन कहा॥

साहित्य एवं भावक सहृदयों के संबंध में भी यही बात है। निष्कर्ष यह कि इसकी चर्चा का कोई अंत नहीं।

साहित्य के स्वरूप की चर्चा विभिन्न देशों एवं कालों में विभिन्न ढंग से की गई है। पर जहाँ तक संस्कृत अलंकारशास्त्र का संबंध है, ग्रंथों के अवलोकन से पता चलता है कि 'काव्य-लक्षण' को दो धाराएं प्रवहमान थीं। एक धारा के अनुयायी विशिष्ट शब्दार्थ को 'काव्य' कहते हैं जब कि दूसरे 'विशिष्ट शब्द' मात्र को। वक्रोक्तिजीवितकार एक तीसरे मत [1] की ओर इंगित करते हैं, यद्यपि उसके पोषक प्रमाण उपलब्ध नहीं होते। तीसरा वर्ग केवल 'अर्थ' को ही काव्य कहता है। 'साहित्य' एवं 'काव्य' को पर्याय मान कर ही यहाँ यह स्वरूपविचार किया जा रहा है। व्यवहार में साहित्य शब्द 'काव्य' के अतिरिक्त 'वाङ्मय' मात्र के लिये भी प्रयुक्त होता है। संस्कृत अलंकारशास्त्र में 'काव्य' और 'साहित्य' – दोनों का पर्याय के रूप में प्रयोग हुआ है। इसी दृष्टि के अनुसार यहाँ प्रथम सिद्धांत अर्थात विशिष्ट शब्दार्थ के विषय में संक्षिप्त विवेचन किया जायगा।

## विशिष्ट शब्दार्थवादी धारा

इस धारा का अव्यक्त रूप कितना पुराना है, यह तो प्रमाणों के अभाव में कुछ भी नहीं कहा जा सकता, परंतु उसका व्यक्त रूप आचार्य भरत के नाट्यशास्त्र में सर्वप्रथम

१. कुन्तक या कुन्तल।

३ – वामन के पश्चात् इस धारा में ख्यातनामा आचार्य मम्मट ( १०५० ई० ) का स्थान है। मम्मट ने काव्य का स्वरूप अधोलिखित रूप में निर्दिष्ट किया है –

"तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलङ्कृती पुनः क्वापि"

अर्थात् शब्द एवं अर्थ का वह समुदित स्वरूप काव्य है, जहाँ दोषों का अभाव हो, गुणों का सद्भाव ( सत्ता ) हो तथा सर्वत्र अलंकार की स्थिति हो। सरस स्थल में यदि कहीं अलंकार अस्फुट भी रहें, तो कोई क्षति नहीं। इस प्रकार यहाँ दोषाभाव, गुण एवं अलंकार की सत्ता आवश्यक मानी गई है। स्पष्ट है कि ऐसा काव्य उत्कृष्ट काव्य ही हो सकता है।

परवर्ती यशोलिप्सु आचार्यों ने 'प्रकाश'-कार का दृढ़ता के साथ जो खंडन किया है, वह एक उल्लेखनीय विषय है। साथ ही यह भी समझने की बात है कि ये खंडनकर्ता 'प्रकाश'-कार के लक्षण को सामान्य या 'जातीय' समझकर खंडन करते रहे हैं।

इस खंडन को संक्षिप्त रूप में समझने के लिये उक्त सूत्र के दो खंड कर लेने चाहिएँ – १ - 'विशेषण' खंड एवं २ - 'विशेष्य' खंड। विशेष्य खंड में **'शब्दार्थौ'** एवं विशेषण खंड में तीन विशेषणों का सद्भाव है—१ - **अदोषौ**, २ - **सगुणौ**, ३ - **अनलंकृती**। इन चारों अंशों की स्वकीय व्याख्या में परवर्ती आचार्यों ने अपने-अपने खंडन-मंडन का विस्तार किया है। इन चारों में सबसे पहले विशेष्य खंड **'शब्दार्थौ'** को लेता हूँ।

आचार्यों ने, मुख्यतः 'विशिष्ट शब्दवादी' धारा के समर्थकों ने, इसका खंडन तीन दृष्टियों से किया है—क - शास्त्रीय दृष्टि, ख - लोकव्यवहार की दृष्टि एवं ग - व्युत्पत्ति की दृष्टि। शास्त्रीय दृष्टि से हमारा तात्पर्य है द्वितीय-तृतीय दृष्टियों से भिन्न दृष्टि। इसके अतिरिक्त और कोई विशेष अभिप्राय नहीं समझना चाहिए। इस दृष्टि के विचार से केवल एक ही बात कहनी है और वह यह है कि जिस प्रकार वेद, पुराण[3] आदि शब्दरूप माने गए हैं, उसी प्रकार 'काव्य' भी 'शब्द' रूप ही माना जाय। यह विचार पंडितराज जगन्नाथ का है। इस युक्ति का खंडन प्रकाशकार के पोषक वैयाकरणशिरोमणि आचार्य नागेश भट्ट ने किया है।[4] उन्होंने बताया है कि 'वेद' वस्तुतः मिलित शब्दार्थ ही है, उसे केवल 'शब्द' रूप मानना पाणिनि एवं पतञ्जलि जैसे विचारकों की ओर से गजनिम्मीलिका है। पाणिनि का सूत्र है – 'तदधीते तद्वेद', जिससे स्पष्ट है कि वे 'वेद' को **अध्ययन** एवं **मनन** दोनों की वस्तु मानते हैं। अध्ययन 'शब्द' का तथा मनन 'अर्थ' का संभव है। अतः वेद को प्रामाणिक आचार्यों ने भी 'शब्दार्थ' रूप ही माना है। महर्षि पतञ्जलि के महाभाष्य से भी यही बात पुष्ट होती है।

दूसरी दृष्टि है – लोक व्यवहार की। इस विषय में मैंने इस धारा का परिचय देते हुए पहले ही कहा है कि लौकिक प्रयोगों से 'काव्य' शब्द एवं 'अर्थ' उभयरूप सिद्ध हैं। तीसरी दृष्टि है—व्युत्पत्ति की। काव्य कविकर्म है—कवेः कर्म काव्यम्। 'शब्द' एवं 'अर्थ' में से कवि का कर्म, 'शब्द' ही उसका कार्य है, 'अर्थ' का निर्माण वह नहीं करता। कवि की साक्षात्

३. एषैव च वेद पुराणादिलक्षणेष्वपि गतिः – पृष्ठ ६, रसगङ्गाधर।
४. "अतएव वेदत्वादेरुभयवृत्तित्वप्रतिपादकः 'तदधीते तद्वेद' इत्यादिसूत्रस्थो भगवान् पतञ्जलिः सङ्गच्छते" – रसगंगाधर टीका 'गुरुमर्मप्रकाश'।

कर्मता 'शब्द-योजना' में ही दिखाई पड़ती है। अतः कवि-कर्म का विषय होने से 'शब्द' को ही 'काव्य' कहा जा सकता है, न कि 'शब्द' एवं 'अर्थ'—दोनों को।

इसका समाधान देते हुए शब्दार्थवादी धारा के आचार्यों का कहना है कि जिस प्रकार कवि शब्दों की योजनारूप रचना करता है, उसी प्रकार अर्थों की भी वह योजनारूप रचना करता है। यद्यपि अर्थ स्वयंसिद्ध होते हैं, तथापि काव्य-जगत में कुछ ऐसे नवीन अर्थ देखे जाते हैं जिनका अवस्थान लोक में नहीं है। तो क्या इन अर्थों में कवि की कर्मता नहीं है? ऐसे ही अर्थों को वैयाकरणों ने 'बौद्ध' अर्थ कहा है। ये अर्थ बाह्य जगत में नहीं हैं, कवि की प्रतिभा में ही रहते हैं। ऐसे ही अर्थों को लेकर 'ध्वनिकाव्य' के प्रभेदों में 'कविप्रौढ़ोक्तिसिद्ध' काव्य की चर्चा हुई है।[५] वहाँ व्यञ्जक अर्थों के दो भेद किए गए हैं – स्वतःसम्भवी एवं कविप्रौढ़ोक्तिसिद्ध। आनन्दवर्द्धनाचार्य ने इन्हें समझाते हुए कहा है –

> प्रौढ़ोक्तिमात्रनिष्पन्नशरीरः सम्भवी स्वतः।
> अर्थोऽपि द्विविधो ज्ञेयो वस्तुनोऽन्यस्य दीपकः ॥ २४ ॥

सम्पूर्ण काव्यार्थ के इन दो स्वरूपों में से प्रथम भाग निश्चित ही कवि की अपनी कृति है। सिद्धि की दृष्टि से देखने पर तो किसी-किसी के मत से वर्ण, पद, वाक्य तक नित्य हैं, फिर वे ही क्यों कवि के कर्म होने लगे? सारांश यह कि इस सिद्ध, असिद्ध एवं नित्य तथा अनित्य के झगड़े से ऊपर उठकर देखा जाय तो शब्द एवं अर्थ—दोनों ही कविकर्म अर्थात काव्य कहे जा सकते हैं।

विशेष्य खंड पर विचार करने के अनंतर अब विशेषणों पर भी विचार करना चाहिए। सबसे पहले 'अदोषौ' विचारणीय है। इस अंश का विरोध आचार्यों ने किया है। विशेषतः, दर्पणकार विश्वनाथ एवं रसगंगाधरकार पंडितराज ने अनेक विरोधी तर्क उपस्थित किए हैं। इन विरोधी तर्कों का आधार मुख्यतः 'अदोषौ' का 'अ' है। 'अ' 'नञ्' (न) का समासगत अवशिष्ट रूप है और 'नञ्' के कई अर्थ ग्रंथों में मिलते हैं—

> सादृश्यमस्फुटत्वञ्च तदल्पत्वं विरोधिता।
> अप्राशस्त्यमभावश्च नञर्थाः षट् प्रकीर्तिताः ॥

इन छह अर्थों में से प्रायः 'अल्पता' एवं 'अभाव' को लेकर कई विकल्प खड़े किए गए हैं। कुछ नमूने देखिए। यदि 'अदोषौ' के 'अ' का अर्थ 'अल्प' किया जाय, तो 'अदोषौ' का अर्थ होगा—"अल्पदोषौ"। अर्थात् इस स्थिति में उस शब्दार्थ को काव्य कहेंगे, जिसमें 'अल्पदोष' हों। पर ऐसा मानने से सर्वथा निर्दुष्ट शब्दार्थ को काव्य कहने में आपत्ति होगी, क्योंकि उसमें 'अल्प-दोष' का होना आवश्यक है। अतः इस आपत्ति से छुटकारा पाने के लिये 'अल्पदोषौ' का अभिप्राय यह समझना चाहिए कि काव्य के शब्दार्थ यदि सर्वथा निर्दुष्ट हों तो कहना ही क्या? उनमें यदि अल्प-दोष भी हो तो कोई हानि नहीं है।

परंतु प्रकाशकार काव्योपयोगी शब्दार्थ से 'दोष' का सर्वथा असंस्पर्श चाहते हैं। अर्थात् ये 'अदोषौ' के 'अ' का अर्थ 'अभाव' करना चाहते हैं। पंडितराज जगन्नाथ ने इस

५. ध्वन्यालोक, द्वितीय उद्योत।

मत पर एक आपत्ति यह उठाई है कि सर्वथा दोषरहित शब्द एवं अर्थ को काव्य मानने का परिणाम यह होगा कि बहुत सी 'काव्य' – नामधारिणी रचनाएँ दोषग्रस्त होने के कारण काव्य की परिधि से बहिर्भूत हो जायँगी और उन्हें अकाव्य करार दिया जायगा। पर यह उचित नहीं जान पड़ता। यदि कोई मनुष्य किसी प्रकार के दोष से युक्त हो तो क्या उसे मनुष्य की परिधि से बाहर कर दिया जा सकता है ? क्या उसे मनुष्य से भिन्न समझा जायगा ? कदाचित् नहीं। फिर यही शर्त काव्य के साथ भी होनी चाहिए। सारांश यह कि 'काव्य' होने के लिये 'प्रकाश' की यह शर्त कि काव्योपयोगी शब्दार्थ सर्वथा दोषशून्य हों, ठीक नहीं है। पर ये सारे तर्क तब बालू की भीत की भाँति ढह जाते हैं, जब हम यह देखते हैं कि 'प्रकाश'-कार ने सामान्य काव्य के लक्षण नहीं बताए हैं, बल्कि उपादेय एवं श्लाघ्य काव्य के लक्षणों का निर्देश किया है।

'अदोषौ' के पश्चात् 'सगुणौ' की बारी आती है। इस विशेषण से प्रकाशकार का अभिप्राय यह है कि शब्द एवं अर्थ को काव्य की पदवी प्राप्त करने के लिये यह आवश्यक है कि वे गुणवान् हों। गुण से तात्पर्य है—प्रसाद, माधुर्य एवं ओज का। 'प्रसाद' एक ऐसा गुण है, जो सर्वसाधारण है, पर 'माधुर्य' एवं 'ओज' में से एक की स्थिति अवश्य होनी ही चाहिए। प्रकाशकार के इस वक्तव्य पर लोगों की आपत्ति है। आपत्ति दो प्रकार की है—१ - गुण का आवश्यक सद्भाव नहीं रखना चाहिए। २ - यह कि गुण 'रस' के धर्म हैं, शब्द एवं अर्थ में उनकी उपस्थिति कहना ठीक नहीं। प्रथम आपत्ति का इस एकवर्गीय काव्य-धारा में कोई स्थान ही नहीं है। दूसरी के संबंध में यह कहना है कि यद्यपि गुण मुख्यतः 'रस' में हैं, तथापि औपचारिक रूप से उन्हें शब्द में भी माना जा सकता है। प्रकाशकार ने स्पष्ट कहा है—'गुणवृत्या पुनस्तेषां वृत्तिः शब्दार्थयोर्मता''। इस प्रकार की उक्ति से प्रकाशकार ध्वनित करना यह चाहते हैं कि काव्य में इसका संपर्क अपेक्षित है। बात यह है कि गुण एवं रस—दोनों की स्थिति परस्पर सापेक्ष होती है, इसी कारण सहृदयशिरोमणि मम्मट ने 'गुण' की सत्ता द्वारा 'रस' की सत्ता का आवश्यक सद्भाव सूचित किया है। इस पर भी कुछ लोग यह कहना चाहते हैं कि यदि 'शब्दार्थ' को गुणवान् बनाकर इसकी सत्ता का सद्भाव ही सूचित करना लक्ष्य था, तो सीधे 'सरस' शब्दार्थ ही कह देते, इस द्रविड़ प्राणायाम की क्या आवश्यकता थी ? समाधान यह है कि 'सरस' कहने से रसमयता एवं गुणमयता तो आ जाती, पर पूर्ण योजना अथवा पद—संघटना का वह औचित्य, जो गुण के अनुरोध से चलकर काव्य को सुषमा समर्पित करता है, न आ पाता। अतः वाग्देवतावतार की वह उक्ति युक्तियुक्त ही है।

तीसरा विशेषण है—'अनलङ्कृती क्वापि'—कहीं कहीं यदि अलंकार की सत्ता अस्फुट हो तो भी 'शब्दार्थ के काव्यत्व में कोई क्षति नहीं आती। अर्थात् अलंकार का सर्वत्र रहना आवश्यक है, पर यदि कहीं ( सरस स्थल में ) वह अस्फुट भी हो तो कोई हानि नहीं। एकवर्गीय काव्य - धारा में इस तत्व का अवस्थान होना ही चाहिए।

इस धारा के अवशिष्ट आचार्यों में दोनों **वाग्भट, हेमचंद्र** एवं **विद्यानाथ, क्षेमेंद्र,**[६] **धर्म-**

६. काव्यं विशिष्टशब्दार्थसाहित्यं सदलंकृति—कविकंठाभरण आरंभ।

**सूरि**[७], **अच्युतराय**[८] आदि के नाम और लिए जा सकते हैं। प्रसिद्ध श्वेतांबर जैन श्री हेमचंद्र का समय बारहवीं शती का उत्तरार्द्ध माना गया है। काव्यानुशासन के प्रथम अध्याय में आपने काव्य का अधोलिखित लक्षण दिया है—

'अदोषौ सगुणौ सालङ्कारौ च शब्दार्थौ काव्यम्'

इसमें प्रकाशकार के लक्षण से इतना ही विशेष है कि उन्होंने 'अनलङ्कृती क्वापि' कहा है और इन्होंने "सालङ्कारौ"। अर्थात् जहाँ प्रकाशकार के अनुसार काव्य के लिये ही कहीं अलंकारों की अस्फुटता भी क्षम्य है, वहाँ हेमचंद्र की दृष्टि में वह भी क्षम्य नहीं है।

'वाग्भट' नाम के दो आलंकारिक हो चुके हैं, जिनमें प्रथम बारहवीं शती उत्तरार्द्ध के तथा द्वितीय १४वीं शती के आचार्य हैं। प्रथम वाग्भट्ट की कृति है **वाग्भटालंकार**। इसमें आपने अधोलिखित लक्षण लिखा है—

साधु शब्दार्थसंदर्भं गुणालंकारभूषितम्।
स्फुटरीतिरसोपेतं काव्यं कुर्वीत कीर्तये॥

इस काव्यलक्षण की यह विशेषता है कि इसमें 'अदोषौ' का कथन नहीं है और रीति तथा रसका स्फुट अवस्थान कीर्तिकर काव्य के लिये आवश्यक माना गया है। यद्यपि प्रकाशकार ने भी अपने काव्य को 'यशसे' कहा है, फिर भी उनकी दृष्टि इनसे व्यापक है। उन्होंने जहाँ तक हो सका है कीर्तिकर काव्यों के संग्रह का प्रयास किया है। यही कारण है कि उन्होंने रस की स्फुटता का उल्लेख नहीं किया। अधम काव्य में रसतत्व को अत्यंत तिरोहित माना है। कहा भी है —'अव्यङ्ग्यं त्ववरं स्मृतम्' अर्थात् अधम काव्य व्यङ्ग्य-रहित होता है। रस सर्वथा व्यङ्ग्य ही होता है। इस प्रकार 'अव्यङ्ग्य' से रस की अस्फुटता ही बताई गई है।

वाग्भट द्वितीय ने निम्नलिखित ढंग से काव्य लक्षण-दिया है—

'शब्दार्थौ निर्दोषौ सगुणौ प्रायः सालङ्कारौ काव्यम्'—इस लक्षण में पुनः प्रकाशकार उतर आए हैं। अंतर इतना ही है कि जहाँ प्रकाशकार ने 'अलंकृती पुनः क्वापि' शब्द का प्रयोग किया, वहीं इन्होंने 'प्रायः सालङ्कारौ' कहा, अभिप्राय दोनों का एक ही है।

**'प्रतापरुद्रयशोभूषण'** के प्रणेता श्री विद्यानाथ ने कहा है—

'गुणालंकारसहितौ शब्दार्थौ दोषवर्जितौ काव्यम्'। यह लक्षण दोनों वाग्भट के मध्य में है। पहले वाग्भट का 'स्फुट रस' भी नहीं और दूसरे वाग्भट्ट का 'प्रायः सालङ्कारौ' भी नहीं। न्यायवागीश[९] भी इसी दल में है।

७. सगुणालङ्कृती काव्यं पदार्थौ दोषवर्जितौ।—साहित्यरत्नाकर, आरंभ

८. तत्र निर्दोषशब्दार्थगुणवत्वे सति स्फुटम्। गद्यादि बंधरूपत्वं काव्यसामान्यलक्षणम्।
—साहित्यसार

९. गुणालंकारसंयुक्तौ शब्दार्थौ। नित्यदोषविनिर्मुक्तो काव्यनित्यभिधीयते।—अलंकारचंद्रिका

महाराज भोज का समय ग्यारहवीं शती का मध्य है। आपके काव्यलक्षण पर भी इसी धारा का प्रभाव लक्षित होता है, यद्यपि 'शब्दार्थों' का स्पष्टतः कथन नहीं है—

"निर्दोषं गुणवत्काव्यमलङ्कारैरलङ्कृतम्।
रसान्वितं कविः कुर्वन् कीर्तिं प्रीतिं च विन्दति॥

**सरस्वतीकंठाभरण** की इस उक्ति में विशेष्य-खंड सर्वथा लक्षित नहीं हो रहा है। **नरेन्द्रप्रभसूरि** ने भी अपने अलङ्कार महोदधि में लिखा है—

"काव्यं शब्दार्थवैचित्र्ययोगः सहृदयप्रियः।
यस्मिन्नदोषत्वगुणालङ्कृतिध्वनयः स्थिताः॥

संक्षेप में इस धारा की गति-सरणि के प्रदर्शन की रूपरेखा ऊपर दी गई। संप्रति, इस धारा के एकवर्गीय दल के अनंतर 'जातीय' या सामान्यवादी मत के ऐतिहासिक स्वरूप की चर्चा आरंभ की जा रही है।

उपलब्ध आचार्यों में भामह ही सर्व प्रथम इस जातीय शब्दार्थवादी धारा के गण्य-मान्य आचार्य हैं।

## सामान्यवादी ( जातिवादी ) धारा

उपलब्ध आचार्यों में इस धारा के आद्य प्रवर्तक आचार्य भामह कहे जा सकते हैं। ये छठीं शती पूर्वार्द्ध के आचार्य हैं। इन्होंने अपने काव्यालंकार में काव्य का लक्षण बताते हुए लिखा है – "शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्" – अर्थात् शब्द एवं अर्थ मिलकर 'काव्य' कहे जाते हैं। इस लक्षण की व्याख्या की जाय, तो चाहे जितनी विशेषताएँ निकलें, पर स्थूलरूप से देखा जाय तो यह लक्षण काव्य का स्पष्ट परिचय नहीं देता।

यदि कुछ परवर्ती आचार्यों द्वारा व्याख्यात उक्तियों की सहायता ली जाय, तो भामह का कथन स्पष्ट होगा। एक जगह भट्टनायक[१०] ने वाङ्मय की इतर शाखाओं से साहित्य को पृथक् करते हुए लिखा है कि वाङ्मय के उस अंश को, जहाँ शब्द की प्रधानता होती है, **शास्त्र** कहते हैं। दोनों ( शब्द एवं अर्थ ) में जहाँ अर्थ-भाग की प्रधानता हो, उसे पुराण ( आख्यान ) एवं इतिहास कहते हैं तथा जहाँ दोनों अंशों की प्रधानता हो, उसे काव्य कहते हैं। व्यक्ति-विवेक व्याख्यानकार[११] ( रुय्यक ? ) ने भी इस अभिप्राय से कहा है कि शास्त्र एवं इतिहास-पुराण से काव्य की यही विलक्षणता है कि काव्य में शब्द एवं अर्थ दोनों का वैशिष्ट्य होता है।

कुछ आचार्यों ने वाङ्मय की इतर शाखाओं से काव्य की विशेषता इस बात में बताई है कि काव्य में 'अभिधा' का वैशिष्ट्य होता है। असल में अभिधा के द्वारा काव्य का महत्त्व

१०. शब्दप्राधान्यमाश्रित्य तत्र शास्त्रं पृथग्विदुः। अर्थतत्त्वेन युक्ते तु वदन्त्याख्यानमेतयोः॥
—भट्टनायक

११. शास्त्रेतिहासवैलक्षण्यं तु काव्यस्य शब्दार्थवैशिष्ट्यादेव नाभिधावैशिष्ट्यादिति भट्टोद्भटादीनां सिद्धान्तः। — व्यक्तिविवेकव्याख्यान, पृष्ठ १८।

क्ताने वालों की धारणा यह है कि काव्य में अलंकार ही सब कुछ हैं और वे अभिधा के धर्म हैं।[१२] विचार किया जाय तो अलंकार अभिधा के धर्म नहीं; शब्द एवं अर्थ के धर्म हैं। अभिधा के दो अर्थ हो सकते हैं—१ - अर्थ-ज्ञानोपयोगी (अभिधा) व्यापार २ - अथवा शब्दो-च्चारण का व्यापार। अलंकार को इस शब्दशक्ति का अथवा उच्चारण-व्यापार का धर्म मानने में कोई युक्ति नहीं हैं। चारुता या वैचित्र्य ही स्फुरित होने पर अलंकार कहा जाता है। इस प्रकार की चारुता अभिधा शक्ति या उच्चारण में नहीं झलकती, बल्कि 'उच्चार्यमाण' एवं अभिधा शक्ति से 'प्रतिपाद्य' में अर्थात् शब्द एवं अर्थ में झलकती है। अतः अलंकार को शब्द एवं अर्थ का धर्म मानकर इसी के द्वारा काव्य का वैशिष्ट्य प्रदर्शित करना समीचीन है।[१३]

टीकाकार के अतिरिक्त स्वयं भट्टमहिम ने भी शब्दार्थ[१४] की प्रधानता को ही काव्य की विशेषता माना है। उन्होंने कहा है कि शास्त्र तीन प्रकार के होते हैं १ - शब्द-प्रधान, २ - अर्थ-प्रधान तथा ३ - उभय-प्रधान। इनमें से शब्द-प्रधान हैं वेद आदि। कारण यह है कि इसके पारायण से ही अभ्युदय कहा गया है, तनिक भी पाठ-विपर्यास हुआ, यहाँ तक कि स्वर भी अनियंत्रित उच्चरित हुए, तो अध्येता का कर्म कलुषित हो जाता है। अर्थ-प्रधान शास्त्र को 'इतिहास' एवं 'पुराण' कहते हैं, क्योंकि ये अर्थवाद मात्र होते हैं, विभिन्न प्रकार की प्ररोचनाओं द्वारा कर्तव्य एवं अकर्तव्य की स्तुति एवं निंदा करते रहते हैं। उभयप्रधान शास्त्र है काव्य। कारण यह बताते हैं कि काव्य का प्राण है 'रस' और 'रस' का प्राण है 'औचित्य'। इस औचित्य का संबंध शब्द एवं अर्थ-दोनों से है। उद्भट ने शब्दार्थ का वैशिष्ट्य अलंकार के कारण बताया था और आचार्य महिम ने औचित्य के कारण! इन दोनों के अंतर को ध्यान में रखना चाहिए। भट्टजी की यह भी विशेषता है कि जहाँ अन्य लोगों ने वाङ्मय के तीन भेद किए हैं, वहाँ इन्होंने शास्त्र के तीन भेद किए हैं।

इस धारा के अन्य उल्लेखनीय आचार्य **रुद्रट** हैं, जो संभवतः नवम शताब्दी के उत्तरार्द्ध के हैं। इन्होंने अपने काव्यालंकार में काव्य का स्वरूप यों बताया है—'ननु शब्दार्थौ काव्यम्'—मानो किसी से रुष्ट होकर उत्तर दे रहे हों—हाँ, हाँ शब्द एवं अर्थ दोनों मिलकर काव्य कहे जाते हैं। बताया है कि 'ननु' पृष्टप्रतिवचन (पूछे गए प्रश्न के उत्तर) का द्योतक है।

१२. अलङ्काराणां चाभिधात्यत्वमुपगतं तेषां भङ्गिभणितिभेदरूपत्वात्। – व्यक्तिविवेक, पृष्ठ १६।

१३. कुछ अन्य आचार्यों ने व्यापार द्वारा ही काव्य की विशेषता पर बल दिया है। इनमें से कुन्तक तथा भट्टनायक के विषय में अलंकारसर्वस्व की टीका समुद्र बन्ध में कहा है – "वक्रोक्तिजीवितकारभट्टनायकयोः द्वयोरपि व्यापारप्राधान्येऽविशिष्टेऽपि पूर्वत्र विशिष्टाया **अभिधाया प्राधान्यम्**, उत्तरत्र रसविषयस्य भोक्तृत्वापरपर्यायस्य **व्यञ्जनस्य**"।

१४. त्रिविधं हि शास्त्रं शब्दप्रधानमर्थप्रधानमुभयप्रधानञ्चेति। तत्र शब्द प्रधानं वेदादि, अध्ययनादेवाभ्युदयश्रवणात् मनागपि पाठविपर्यासे प्रत्यवायश्रवणाच्च। अर्थप्रधानमितिहास पुराणादि तस्यार्थवादमात्र रूपत्वात्। उभयप्रधानं सर्गबन्धादि काव्यं तस्य-रसात्मकत्वाद् रसस्य चोभयौचित्येन परिपोषदर्शनात्। काव्यस्यापि शास्त्रत्वमुपपादितमेव॥ — व्य० वि०, तृ० वि० ४२।

इनके टीकाकार नमि साधु[१५] ने इस लक्षण की विशेषता स्पष्ट करते हुए कहा है कि 'शब्द' एवं 'अर्थ' का तादात्म्य होने के कारण यद्यपि 'शब्द' की उक्ति से 'अर्थ तत्व' का सद्भाव सिद्ध है, तथापि दोनों की शब्दतः उक्ति करने में लेखक का विशेष अभिप्राय ध्वनित होता है। अभिप्राय यह है कि यदि दोनों में से किसी एक का ही लक्षण-वाक्य में कथन होता और पारस्परिक सापेक्षतावश, दूसरे की प्रतीति आक्षिप्त हो जाती, तो उसका महत्व कुछ हल्का पड़ जाता। हल्का पड़ने का तात्पर्य यह कि उसकी स्थिति उत्कृष्ट या अपकृष्ट—किसी भी प्रकार की हो सकती है। उसकी उत्कृष्ट प्रतीति के लिये कोई विशेष प्रतिबंध नहीं होता। इसके विपरीत जब दोनों का शब्दतः उपादान होगा, तो पाठक को यह जिज्ञासा सहज ही हो सकती है कि जब शब्दमात्र की ही उक्ति से अर्थ-प्रतीति हो जाती है, तो 'अर्थ' को शब्दतः कहने की क्या आवश्यकता ? इस स्थिति में इस कथन की सार्थकता यही कहकर बताई जा सकती है कि काव्य में शब्द की ही भाँति अर्थ की भी समकक्ष महत्ता है। इस समकक्षता का बोध कराने के लिये शब्द और अर्थ—दोनों का शब्दतः उल्लेख ही प्रशस्ततम पथ है।

**ध्वन्यालोककार** आनंदवर्द्धन ने भी प्रसंगतः चतुर्थ उद्योत में कहा है—शब्दार्थयोः साहित्येन काव्यत्वे ... ... ...। निष्कर्ष यह कि ये भी इसी धारा के आचार्य हैं। ये भी शब्दार्थ के साहित्य को ही साहित्य कहते हैं। साहित्य से अभिप्राय काव्य का ही है। यहीं यह भी कह देना उचित होगा कि लोचनकारने भी कहा है कि काव्यमिति—'शब्दार्थावित्यर्थः' अर्थात शब्द एवं अर्थ, दोनों ही काव्य हैं।

नमिसाधु ने रुद्रट के काव्य-लक्षण का जिस रूप में स्पष्टीकरण किया है, उसकी संपुष्टि **राजशेखर** ने भी 'शब्दार्थयोः यथावत्सहभावेन साहित्यम्' कह कर की है। इन्होंने यह बताया कि शब्द एवं अर्थ का जैसा-तैसा भी सहभाव साहित्य नहीं है, बल्कि 'यथावत्—उचित' सहभाव ही साहित्य है। इनकी व्याख्या महिमभट्ट के अधिक समीप है, उद्भट दूर जा पड़ते हैं। महिम ने भी शब्द एवं अर्थ के रस-सापेक्ष औचित्य पर ही अधिक बल दिया है।

इस 'यथावत' की व्याख्यावक्रोक्ति जीवितकार कुंतक ने बहुत ही स्पष्ट की है। 'शब्दार्थौ सहितौ वक्रकविव्यापारशालिनौ। बंधे व्यवस्थितौ काव्यम्'—कुंतक। उन्होंने बताया है कि चारुता की दृष्टि से शब्द एवं अर्थ में परस्पर जबर्दस्त होड़ होनी चाहिए। ऐसे ही परस्पर प्रतिस्पर्धी शब्दार्थ का साहित्य, यथावत साहित्य कहा जाता है। प्रतिस्पर्द्धा के स्वरूप को और स्पष्ट करते हुए उन्होंने कहा है कि शब्द को 'विवक्षितार्थैकपरतन्त्र' तथा अर्थ को 'सहृदयहृदयाह्लादकारिस्वस्पंदसुंदर' होना चाहिए। निष्कर्ष यह कि शब्द ऐसा हो, जो ईप्सित अर्थ को देने में, एकमात्र अपने पर्यायों के बीच अकेले क्षम हो और अर्थ ऐसा हो, जो

१५. कवेः काव्योपयोगिनोः शब्दार्थयोरन्योन्य व्यभिचारादेकतरोपादानेनैव द्वितीये लब्धे द्वितीयोपादानं काव्ये द्वयस्यापि प्राधान्यं ख्यापनार्थम्। अन्यथा हि शब्दार्थयोरेकतरोपाखडाकारन्यतरस्यालंङ्कारैर्विरहितमपि दोषैश्च युक्तमपि काव्यं साधु स्यात। द्वयोपादानेन तुल्यकक्षतया शब्दार्थौ द्वावपि काव्यत्वेनाङ्गी कृतौ भवतः। द्वयमेतत्समुदितमेव काव्यं भवतीति तात्पर्यम्।
—काव्यालंकार टीका

सहृदयों के हृदय में सोती हुई वासना को झकझोर कर आंदोलित कर दे। **रुय्यक** की भी गणना इसी धारा के भीतर करनी चाहिए।

इस प्रकार इस धारा की सभी वक्तव्य विशेषताएँ यही हैं। 'शब्दार्थौ वपुरस्य तत्र विबुधैरात्माम्यधायि ध्वनि' कहने वाले 'एकावली' कार विद्याधर की गणना भी इसी धारा में है। नरराज यशोभूषणकार ने भी कहा है—'कविसमयानुरोधेन निबद्धौ शब्दार्थौ काव्यम्'।

संक्षेप में सामान्यवादी विचारधारा के अनुयायियों और समर्थकों की चर्चा यहाँ प्रस्तुत की गई। उपर्युक्त आचार्यों ने या तो साक्षात् इस सामान्यवादी धारा का प्रतिपादन किया है, अथवा परंपरया उक्त मत का समर्थन। **विशेषवादी** तथा **सामान्यवादी**—इन दोनों धाराओं के मतों का विश्लेषण किया जाय तो यह देखा जा सकता है कि **सामान्यवादी** धारा के लक्षण की परिष्कृत एवं सुव्यवस्थित भावना ही वस्तुतः विशेषवादी धारा में प्रतिबिंबित है। इस कारण इन सिद्धांतों को 'विशिष्ट शब्दार्थ' वाद की शाखा के रूप में वर्णित किया गया है।

*

# महाभारत के कुछ कूट स्थल

वासुदेवशरण अग्रवाल

यह सुविदित है कि महाभारत के विशाल कथा - प्रसंग में कुछ ऐसे कूट श्लोक आ जाते है जिनकी व्याख्या में पूर्व टीकाकारों को कठिनाई का अनुभव हुआ है। ऐसे कुछ स्थलों का निर्देश मैं यहाँ करना चाहता हूँ।

१

**पण्यानां शोभनं पण्यं कृषीणां बाघते कृषिः।**
**बहुकारं च सस्यानां वाह्ये वाह्यं तथा गवाम्॥**

[ शान्तिपर्व, १८६, २० ]

नीलकंठ – विप्राणां पूजनमेवोत्तमं पुण्यम् उत्तमा कृषिश्च तद्वत् दृष्टफलमित्यर्थः।
अर्जुनमिश्र – पण्यानामिति। पण्यजीविना पण्यस्थाने प्रसारितं पण्यमिति स्पर्शापवादः।
वादिराज – कोई टीका नहीं।

श्लोक का अर्थ स्पष्ट है किंतु उसके मुख्य शब्दों पर विचार करने से वह स्फुट हो जाता है। इसमें चार वस्तुओं की इस प्रकार प्रशंसा है –

१ - पण्यानां शोभनं पण्यम् – इसमें दो बार पण्य शब्द आया है। पहले पण्य का अर्थ है बिक्री योग्य सामान या पदार्थ; दूसरे पण्य का अर्थ है वे विशेष पदार्थ जो बिक्री के लिये बाजार की दुकानों में प्रदर्शित करके रखे जाते हैं। इस पण्य का अर्थ पाणिनि सूत्र ३, १, १०१ ( अवद्यपण्यवर्या गर्ह्यपणितव्यानिरोधेषु ) के अनुसार पणितव्य किया जाना चाहिए। इस पर काशिका ने लिखा है – पण्यमिति निपात्यते पणितव्यं चेत्तद्भवति, पण्यः कम्बलः, पण्या गौः। तात्पर्य यह कि यदि किसी को कंबल या गाय मोल लेनी है तो वह उसे निजी तौर पर कहीं भी सौदा करके ले सकता है। दूसरे वह उसे मोल लेने के लिये बाजार जाकर वहाँ प्रदर्शित अनेक वस्तुओं में से चुनकर बेसाह सकता है। जो वस्तुएँ दुकान पर बिक्री के लिये रखी जाती हैं वे प्रामाणिक और अच्छी समझी जाती हैं। उनमें ठगे जाने की संभावना कम है। अतएव पण्यानां शोभनं पण्यम्, इस लोकोक्ति का जन्म हुआ। इसका अर्थ यह है कि बिकने वाली वस्तुओं में वे उत्तम हैं जो पण्य अर्थात् दुकान में बिक्री के लिये रखी गई हों। इनके लिये पणितव्य शब्द भी प्रयुक्त होता था।

२ - कृषीणां बाधते कृषिः – इसमें भी दो बार 'कृषि' शब्द आया है। पहले कृषि शब्द का अर्थ व्यापक और दूसरे का सीमित है। जैसा पतंजलि ने लिखा है – नाना क्रियाः कृषेरर्थाः, नावश्यं कृषिर्विलेखन एव वर्तत ( भाष्य ३, १, २६ )। ये नाना क्रियाएँ क्या होती थीं, यह प्रायः सुविदित है। फिर भी शतपथ के अनुसार उनका उल्लेख इस प्रकार किया जा सकता

है— कृषन्तः वपन्तः लुनन्तः मृणन्तः ( शतपथ १. ६, १, ३ ) अर्थात् जुताई, बुआई, लवनी और मड़नी – इन चारों का संमिलित नाम कृषि या खेती है। दूसरे कृषि शब्द का अर्थ 'कृषिर्विलेखने' इस आधार पर केवल जुताई किया जायगा। यह लोकोक्ति किसान की भाषा से ली गई थी। इसका तात्पर्य यह हुआ कि खेती की कई प्रक्रियाओं में जुताई का महत्त्व सबसे अधिक है। खेत को जितने वाहन दिए जाँय और लौट-पौट कर जितनी गहरी जोत की जाय उपज के लिये हितकर है। आज भी किसानू भाषा में कई कहावतें हैं जिनसे जुताई का बड़प्पन ज्ञात होता है –

जेतना गहिरा जोतै खेत। बीज परे फल अच्छा देत ॥
मेड़ बाँध दस जोतन दे। दस मन बिगहा मोसे ले ॥

जोतै खेत घास न टूटै। तेकर भाग साँझ ही फूटे ॥

जो हल जोतै खेती वाकी। और नहीं तो जाकी ताकी ॥

इस श्लोक में 'वाद्यते' पद कठिन है। नीलकंठ ने लिखा है – वाद्यते स्थिरीक्रियते। वद स्थैर्ये इति धातुः। सधकारः पाठः प्रामादिकः। निःसंदेह धातुपाठ में वद धातु है और उसका अर्थ स्थिर होना होता है। उसी से एयन्त कर्मवाच्य में वाद्यते रूप सिद्ध होगा; अर्थात् खेती की कई प्रक्रियाओं में जुताई को मुख्य मानकर किसान उसे ही अपने कर्म का स्थिर आधार बनाता है। कुछ हस्तलिखित प्रतियों में ऋध्यतां या ऋध्यते पाठांतर भी है। यह भी उत्तम पाठ हो सकता था क्योंकि ऋध् धातु का प्रयोग खेती के प्रसंग में अन्यत्र आया है— सीता मे ऋध्यतां देवि बीजेषु च धनेषु च ( अर्थ शास्त्र २, २४ )। लेकिन वाद्यते प्रयोग के संबंध में एक संभावना और है। कुरु प्रदेश की जनपदीय बोली मेरठ दिल्ली आदि के क्षेत्र में बाजना धातु कहने के अर्थ में अभी तक प्रयुक्त होती है। इसका मूल संस्कृत वाद्यते ही संभव है। तब इस वाक्य का सीधा अर्थ होगा – कृषि की कई प्रक्रियाओं में जुताई सबसे सुंदर कही जाती है।

३ - बहुकारं च सस्यानाम् – सस्य का अर्थ खड़ी फसल या हरी खेती है। अर्थशास्त्र में यह शब्द इस अर्थ में बहुधा प्रयुक्त हुआ है। वहाँ हरी खेती को सस्य और पकी फसल को मुष्टि कहा गया है। इस वाक्य में बहुकार शब्द में अर्थ की कुंजी है। ३, २, २१ सूत्र में पाणिनि ने बहुकर शब्द का उल्लेख किया है। बहुकरी का अर्थ संमार्जनी है। हिंदी का बहारी या बुहारी शब्द इसी से निकला है। बहुकरी से मिलता हुआ उसी अर्थ में वर्धनी शब्द भी झाड़ू के लिये प्रयुक्त होने लगा जिससे बोलचाल का बढ़नी शब्द बनता है। बहुकरी और वर्धनी – दोनों मांगलिक शब्द समझे जाते हैं और झाड़ू उसीका अमांगलिक प्रयोग है। बाण भट्ट ने हर्षचरित में बहारने वाले के लिये व्यवहारिन् शब्द का भी प्रयोग किया है ( परिजनोत्थापनव्याप्रतव्यवहारिणि – हर्षचरित उच्छ्वास ७ )। व्यवहारिन् और व्यवहारिणी शब्द की व्युत्पत्ति विचारणीय है। लोक में पूर्व - परंपरा से प्राप्त बहुकरी या बहुकारी शब्द बहारी या बुहारी के लिये प्रयुक्त होता था। पाइअसद्दमहण्णव में देशी बहुरिया शब्द का भी बुहारी या झाड़ू के लिये उल्लेख आया है। प्राकृत भाषा के बहुअरी या बहुआरी शब्द-रूपों को पुनः संस्कृत में परिणत करके व्यवहारिणी शब्द का प्रयोग प्रचलित हुआ होगा। प्रस्तुत श्लोक के 'बहुकारं च सस्यानाम्' पद का सीधा अर्थ यह हुआ – हरी फसल के लिये सफाई या निराई सबसे शोभन या महत्त्वपूर्ण कर्म है। बीज अच्छा हो, जुताई ठीक हो,

पानी समय से लगा हो, पर यदि खेत का झाड़ – झंखाड़ निराया नहीं गया है तो फसल कुछ न हो सकेगी।

४ - वाह्ये वाह्यं तथा गवाम् – वाहनों में बैल जुता हुआ वाहन बढ़िया माना जाता है। यह प्राचीन जनपदीय जीवन के ठाट-बाट की हलकी झांकी है जब किसान अपने बैलों को जी भर प्यार करते थे, उनके सींगों में तेल लगाकर लाल मुड़ासा बांधते थे और लंबी मंजिल तय करने पर उन्हें घी की नाल पिलाते थे। तब गाय का जाया बैल चाल में घोड़े को भी कुछ न गिनता था। उसी समय रथ आदि गो - प्रयुक्त वाहनों के लिये यह संमानित उक्ति अस्तित्व में आई होगी।

२

काकुदीकं शुकं नाकमक्षिसंतर्जनं तथा
सन्तानं नर्तनं घोरमास्यमोदकमष्टकम्
एतैर्विद्धा सर्वं एव मरणं यान्ति मानवाः
उन्मत्ताश्च विचेष्टन्ते नष्टसंज्ञा विचेतसः
( उद्योग ६४, ३८ - ३९ )

पहला श्लोक जान बूझकर कूट रूप में कहा गया है। इन शब्दों के सीधे अर्थ इस प्रकार हैं—

काकुदीक = बड़े कूबड़ वाला बैल
शुक = सुग्गा, जिसकी टोंट टेढ़ी होती है।
नाक = दुःखरहित अवस्था, सुखमय स्वर्ग।
अक्षिसंतर्जन = आँख का उठना।
संतान = स्वर्ग का एक वृक्ष या उसके फूल जिससे मद चुआया जाता था।
नर्तन = नाचना, नाचते हुए अकड़ने वाले मोर से तात्पर्य है।
घोर = भयंकर, सताने वाला।
आस्यमोदक = मुँह का लड्डू।

एक ही साँस में आठ बेजोड़ वस्तुओं को एक साथ गिना दिया गया है। श्लोकों का सीधा अर्थ इस प्रकार होगा – कूबड़ वाला बैल, टेढमुँहा सुग्गा, मौज-मजे वाला स्वर्ग, दुखती आँख, मद चुआने वाला कल्पवृक्ष, मटक कर नाचता हुआ मोर, सताने वाला घोर भैरव, मुँह का लड्डू – ये आठ जिसे बींध देते हैं, वह मर जाता है, या बौरा जाता है, या बेहोश हो जाता है।

सर्वज्ञनारायण ने देवबोध का प्रमाण देते हुए इन आठ शब्दों को मानसिक विकारों का प्रतीक माना है –

काम क्रोधौ मोहलोभौ मदमानौ तथैव च
मात्सर्याहंकृती चैवं क्रमादेत उदाहृताः।

इस सूची में सबसे पहला वृष या कूबड़वाला बैल काम का प्रतीक है। टेढमुँहा सुग्गा क्रोध का प्रतीक है। मटकता हुआ मोर मान का प्रतीक है। दुखती हुई आँख मोह का प्रतीक है,

जिससे स्पष्ट देखने की शक्ति मारी जाती है। नाक लोभ का प्रतीक है; धनी व्यक्ति धन को सब संसारी रोगों की औषधि समझता है। संतान स्वर्ग का वृक्ष था और उसी का सजातीय मन्दार था। मन्द का संबंध सोम या मद से माना जाता था। संतान को भी मद का प्रतीक मानना संगत था। आस्यमोदक अहंकार का प्रतीक है। वह ऐसा लड्डू है जिसका मिठास भीतर ही भीतर घुलता रहता है। मौनियर विलियम्स के संस्कृत कोष के अनुसार यह किसी शस्त्र की संज्ञा थी किंतु वह अर्थ यहाँ संगत नहीं होता। हमारी संमति में देवबोध ने इसके सांकेतिक अर्थ को ठीक पकड़ा था। यदि इस श्लोक पर उनकी पूरी व्याख्या उपलब्ध होती तो इसके अर्थों पर कुछ और भी प्रकाश पड़ना संभव था। मात्सर्य मनुष्य के अंतःकरण को सतानेवाला घोर भैरव है।

३

जलेचरः कांचनयष्टिसंस्थो व्यात्ताननः सर्वतिमिप्रमाथी
वित्रासयन् राजति वाहमुख्ये शाल्वस्य सेना प्रमुखे ध्वजाग्रयः
(आरण्यक १८, ७)

आरण्यक १८, २ में शाल्व की ध्वजा को मकरकेतु कहा गया है। इस श्लोक का जलेचर शब्द मकर के लिये ही प्रयुक्त हुआ है। श्लोक में 'व्यात्ताननः' पद उसके अर्थ की कुंजी है। सोने की डंडी के सिरे पर जो सोने की पताका लगी हुई थी उस पर मकर की आकृति अंकित न करके स्वयं पताका की आकृति ही मकर जैसी बनाई गई थी। मुँह की तरफ से वह पताका डंडे से जुड़ी हुई थी। उसके खुले हुए मुँह में हवा भर जाने से वह फूल जाती थी और फहराने लगती थी। शुंग काल से लेकर गुप्त काल तक की शिल्प कला में जो कई प्रकार के झंडों की आकृतियाँ मिलती हैं उनमें ठीक इसी प्रकार की मकराकृति पताकाएँ भी पाई गई हैं। उनमें से अधिकांश अजंता के भित्तिचित्रों में अंकित हैं। किंतु इस प्रकार का व्यात्ता-नन मकरकेतु गुप्तकालीन अजंता - कला से भी कुछ पूर्व अस्तित्व में आ चुका था। अहिच्छत्रा से प्राप्त एक शिलापट्ट पर बुद्ध के मारधर्षण के दृश्य में वह अंकित मिला है। वह पट्ट मथुरा के लाल पत्थर का है और लगभग तीसरी शती ईसवी का है। वह इस समय लखनऊ संग्रहालय में सुरक्षित है (लखनऊ संग्रहालय ४६ - १३)। श्लोक का अर्थ इस प्रकार हुआ – सुनहले डंडे के सिरे पर तिमिभक्षक मकर मुँह फैलाए हुए डरावना लग रहा था जो कि शाल्वराज की सेना के आगे ध्वजा के अग्रभाग में दिखाई पड़ रहा था। महाभारत का यह श्लोक रघुवंश के निम्नलिखित श्लोक से तुलना करने योग्य है –

मत्स्यध्वजा वायुवशाद् विदीर्णैं
मुखैः प्रवृद्धध्वजिनीरजांसि।
बभुः पिबन्तः परमार्थमत्स्याः
पर्याविलानीव नवोदकानि।
(रघु० ७, ४०)

कालिदास का भाव तभी स्पष्ट समझा जा सकता है जब मत्स्यध्वजा का अर्थ मछली की आकृति से अंकित ध्वज - ऐसा न लेकर मत्स्याकार ध्वज - ऐसा लिया जाय। अर्थात् कपड़े से बने हुए ध्वज का कटाव मछली के आकार का था। उसका मुँह दंड के समीप था और पूँछ

का भाग वायु में फहरा रहा था। सेना से उठी हुई धूलि वायु के साथ कपड़े की मछली के मुँह में भर कर उसे फुला रही थी। उस पर कवि की कल्पना है मानो सचमुच की मछली वर्षारंभ में नदी का गदला जल पी रही हो।

४

कच्चिल्लवं च मुष्टिं च परराष्ट्रे परन्तप।
अविहाय महाराज विहंसि समरे रिपून्॥
(सभा ५, ५४)

नीलकण्ठ — लवः सस्यच्छेदन कालः। मुष्टिः सस्यानां गोपनकालः दुर्भिक्षमिति यावत्। लूञ् छेदने मुषस्तेये आभ्यामधिकरणे घक्तिनौ। परराष्ट्रे क्षेत्रस्थेषु सुखलब्धान्नदुर्भिक्षे च राजकुल-लब्ध भक्तोपजीविभिर्निरन्नताक्रान्ताः शत्रवः सुखं जेया इत्यर्थः।

लव और मुष्टि पारिभाषिक शब्द थे। नीलकण्ठ के किए हुए अर्थ में वह बात पकड़ में नहीं आई। हरी फसल को सस्य और पकी फसल को, जो कटने के लिये तैय्यार खड़ी हो, मुष्टि कहा जाता था। अर्थशास्त्र में इन दोनों शब्दों का प्रयोग हुआ है। वहाँ कहा है कि राजा शत्रु के देश पर चढ़ाई करना चाहे और उसकी इच्छा हो कि वहाँ की हरी और पकी फसल — दोनों का नाश करे तो उसे ऐसा करना चाहिए। वर्षा ऋतु की सावनी खेती (वार्षिक सस्य) अगहन में पककर तैयार होगी जो हैमन मुष्टि कहलाएगी। अतएव अगहनी खेती को नष्ट करने के लिये विजिगीषु राजा मार्गशीर्ष में दण्ड - यात्रा पर उठे। हैमन मुष्टि आज कल की भाषा में खरीफ की फसल हुई। मार्गशीर्ष में बोई हुई खेती (हैमन सस्य) कहीं वसंत ऋतु में जाकर तैयार होती है। तब उसे वासंतिक मुष्टि कहते हैं। वही आजकल की रबी की फसल है। जो राजा चैत के महीने में अभियान करेगा वह वासंतिक मुष्टि या चैती फसल को या तो नष्ट कर सकेगा या उसकी पैदावार पा सकेगा (अर्थशास्त्र ९।१, शामशास्त्री संस्करण पृष्ठ ३४१)। कौटिल्य और महाभारत दोनों में एक ही बात का उल्लेख किया जा रहा है। मुष्टि शब्द भी दोनों में समान है। अतएव ज्ञापित होता है कि जिसे अर्थशास्त्र में सस्य कहा है वही सभापर्व का लव है। सस्य की व्युत्पत्ति शसु हिंसायाम् और लव की लूञ् छेदने धातु से है। अर्थ की दृष्टि से दोनों में मारने या काटने का भाव है। हरी खेती में प्राण की विद्यमानता समझी जाती थी और वही प्राण फसल के पकने और पौधों के सूखने पर निःशेष हो जाता है। मत्स्यपुराण में भी राजा के यात्राकाल का विचार करते समय यही बात कही गई है —

चैत्र्यां वा मार्गशीर्ष्यां वा यात्रां यामान्तराधिपः।
चैत्र्यां पश्येच्च नैदाघां हन्ति पुष्टिं [* मुष्टिं] च शारदीम्॥
एतदेव विपर्यस्तं मार्गशीर्ष्यां नराधिपः।
शत्रोर्वा व्यसने यायात् काल एव सुदुर्लभः॥
(मत्स्य २४०।५, ६)

राजा चैती पूनो या अगहनी पूनो में सैनिक यात्रा के लिये चले। वह चैत में उठेगा तो उसे वह हरी फसल बोयी हुई मिलेगी जो निदाघ या गर्मी में पककर तैयार होगी और उसी समय उसे वह पकी हुई फसल मिलेगी जो अगहन में बोयी गई थी और जो चैत में पककर

तैयार हुई होगी। इसे ही शारदी मुष्टि कहा गया है। हमारी संमति में यहाँ मूल पाठ शारदी मुष्टि ही रहा होगा जो इस पुराण के अच्छे हस्तलिखित कोशों में (आदर्श ग्रंथों में) देखने योग्य है। मार्गशीर्ष या अगहनी पूनो की तिथि में यात्रा करने से स्थिति ठीक इसकी उलटी होगी, अर्थात् उस समय गर्मी में बोयी गयी फसल पकी हुई तैयार मिलेगी और अगहन की बोयी हुई फसल हरी मिलेगी।

५

पृथग् जनस्य कुडकाः स्तनपाः स्तनवेश्मनि।
नृत्यन्ति परिगायन्ति वेदयन्तो महद्भयम्॥
(भीष्म पर्व ३।८)

इस श्लोक पर इस पर्व के विद्वान संपादक श्री एस० के० बेलवलकर ने एक टिप्पणी दी है। उन्होंने कुडकाः इस शब्द को कुडिकाः का पाठांतर माना है और इसका अर्थ किया है पानी के छोटे गगरे। फिर उससे अर्थ की संगति न देखकर उन्होंने मूल पाठ कुडवाः या कुडपाः होने का अनुमान किया। उसका अर्थ अन्न मापने के छोटे बर्तन समझा है। फिर वे लिखते हैं कि गरीबों के घर में बड़े बर्तन होने की संभावना न थी अतः छोटे बर्तनों का ही उल्लेख हुआ है। फिर उनका कहना है कि घरों में रखे हुए वे बर्तन यह सोच कर नाचने लगे कि युद्ध के बाद जब आपत्काल आएगा तो उन बर्तनों का बार - बार इस्तेमाल किया जायगा - यह सोचकर बर्तन नाचने लगे। इस प्रकार की असंबद्ध कल्पना करने की अपेक्षा यह लिखना अच्छा होता कि श्लोक का ठीक अर्थ नहीं लगा। स्तनपाः शब्द पर टिप्पणी देते हुए वे फिर लिखते हैं कि स्तनपाः का पर्याय कई हस्तलिखित प्रतियों में तनपाः = क्षुद्रकाः है और इन सबका अर्थ दूध पीते बच्चे ही लेना चाहिए। जिसका हमने ऊपर स्तनवेश्मनि पाठ माना है उसके स्थान पर श्री बेलवलकर ने स्तेनवेश्मनि शुद्ध मानकर उसे मूल में रखा है और लिखा है कि स्तन - वेश्मनि पाठ, जो शारदा लिपि की एक प्रति में है अशुद्ध पाठ है! उन्होंने यह अर्थ किया है कि चोरों के घरों में बच्चे यह सोच कर खुश हुए और गाने लगे कि अराजकता के समय में उनका धंधा चमकेगा।

इस श्लोक में क्या बात कही गई है, इसे स्पष्टता और समीचीन संगति से समझना चाहिए। महाभारत युद्ध से पहले जो अपशकुन होने लगे थे उनका यहाँ वर्णन है। यहाँ 'कुडकाः' शब्द का अर्थ 'बालक' या 'बच्चे' है। पंजाबी भाषा में छोटी लड़की को कुड़ी और छोटे लड़कों को कुड़ा (मुंडा और काका भी) कहते हैं। कुड़ी का मूल शब्द कुटिका, कुडिका या प्राकृत कुडिआ था और उसी के लिये पुंलिंग रूप कुटक या कुडप था। मोनियर विलियम्स, आप्टे आदि कोषों में कुटक और कुटिका शब्दों का यह अर्थ नहीं पाया जाता। पाइअसद्द महण्णव कोष में भी कुडग शब्द तो है किन्तु यह अर्थ नहीं है। सौभाग्य से हरिषेणकृत बृहत्कथा कोष (रचनाकाल सं० ९८९) में कुटिका शब्द कन्या के अर्थ में आया है -

पूर्णभद्रवचः श्रुत्वा धनदत्तो बभाण तम्।
यच्छामि कुटिकां तेऽहं यदि देहि धनं बहु॥
निशम्य धनदत्तोक्तं पूर्णभद्रो जगावमुम्।
कुटिकां देहि मे शीघ्रं गृहाण त्वं धनं बहु॥
(बृहत्कथा-कोष ३०।८ - ९)

एक हस्तलिखित प्रति में 'कुटिकां' का अर्थ 'कन्यां' दिया हुआ भी है।

महाभारत के श्लोक में मूल पाठ 'कुडकाः' ही था। एक कश्मीरी प्रति में उसका पाठांतर दिया भी है जो उसके अर्थ का ही सूचक है। 'स्तनपाः का अर्थ 'दूध पीते बच्चे' है। 'स्तेनवेश्मनि' एक दम निरर्थक अपपाठ है। इसका शुद्ध पाठ 'स्तनवेश्मनि' ही था। इस पर्व की शारदा लिपि में लिखी हुई एक मात्र प्रति (श १) में 'स्तनवेश्मनि' पाठ ही है। वही श्रेष्ठ मौलिक था। स्तनवेश्म का अर्थ दूध पिलाने का कमरा या घर का वह भाग हुआ जिसमें निष्क्रमण संस्कार से पूर्व बच्चा रखा जाता था। अब इस श्लोक का ठीक अर्थ इस प्रकार होगा – यदि सामान्य लोगों के घरों में ऐसे छोटे बच्चे जो अभी दूध पिलाने के स्थान में ही हैं, नाचने-गाने लगें तो वह दुर्निमित्त महाभय सूचित करता है। श्री प्रोफेसर एच० डब्ल्यू० बेली (कैम्ब्रिज) ने २४ मई सन् १९५४ के अपने पत्र में मुझे सूचित किया है कि मध्य ऐशिया में क्रोरमिन से मिले हुए लेखों में कुडा (लड़का) और कुडी (लड़की) शब्द आए हैं। इससे एक अनुमान और संभव प्रतीत होता है, वह यह कि उत्पात और दुर्निमित्तों की लंबी सूची वाला यह प्रकरण महाभारत में गुप्त - युग के लगभग, जब इस ग्रंथ का अंतिम संस्करण हुआ, उस समय जोड़ा गया। मूल ग्रंथ के कथा-प्रवाह में यह प्रसंग वैशंपायन से कहलाया गया है। मध्य एशिया से प्राप्त हस्तलिखित सामग्री का जो समय है वही महाभारत के इस प्रकरण का भी ज्ञात होता है।

❀

## विमर्श

# देवनागरी में अँग्रेजी शब्दों का उच्चारण

### गोरखप्रसाद

अँग्रेजी शब्दों का शुद्ध उच्चारण देवनागरी में लिखना विशेष रूप से कठिन इस कारण हो जाता है कि उसमें ह्रस्व ए, ऐ, ओ और औ की मात्राएँ हैं ही नहीं। इसके लिए विशेष मात्राएँ बनी अवश्य हैं, परंतु वे प्रेसों में अब अप्राप्य हैं। निम्न रीति से यह असुविधा मिट जाती है। परंतु संभव है लोगों को इसमें आपत्ति हो। लेखक जानना चाहता है कि वे आपत्तियाँ क्या हैं। स्मरण रहे कि यह उच्चारण-प्रणाली केवल कोष में शुद्ध उच्चारण बताने के लिए उपस्थित की जा रही है। साधारण भाषा में इसका उपयोग नहीं किया जायगा।

नियम १—जहाँ किसी विदेशी शब्द का शुद्ध उच्चारण देवनागरी में लिख कर बताया गया है वहाँ ए, ऐ, ओ और औ की मात्राएँ सर्वत्र ह्रस्व समझी जायँ; केवल जब उनके आगे प्लुतचिह्न ऽ लगा हो या ऐक्सेण्ट ' लगा हो तभी वे दीर्घ समझी जायँ।

नियम २—प्रत्येक शब्द-खंड का अंतिम व्यंजन हलंत युक्त समझा जाय, केवल तभी वह स्वर युक्त समझा जाय जब उसके आगे ऽ चिह्न रहे या कोई मात्रा रहे।

### प्रामाणिक उच्चारण

| | |
|---|---|
| अ ( ह्रस्व ) | : hut हट; but बट; sofa सो'फ़ऽ ( यहाँ सो में ओ की मात्रा दीर्घ है ); idea आइ-डी'अऽ |
| आ ( दीर्घ ) | : father फ़ा'दर; arm आर्म |
| इ ( ह्रस्व ) | : hit हिट; create क्रि-एऽट |
| ई ( दीर्घ ) | : Eve ईव; heat हीट |
| उ ( ह्रस्व ) | : book बुक; foot फ़ुट |
| ऊ ( दीर्घ ) | : moon मून; shoot शूट |
| ए ( ह्रस्व ) | : end एंड; get गेट |
| ए' या एऽ (दीर्घ) | : gate गेऽट; date डेऽट; daily डे'ली |
| ऐ ( ह्रस्व ) | : account ऐ-काउंट'; husband हैज़'बैंड |

ऐ' या ऐऽ (दीर्घ) : hat हैऽट; add ऐऽड;
ओ (ह्रस्व) : obey ओ-वे'; anatomy ऐ-नैट'ओ-मि
ओ' या ओऽ (दीर्घ) : old ओऽल्ड; over ओ'वर
ऑ (दीर्घ) : orb ऑर्ब; hot हॉट
आइ (संयुक्त) : ice आइस; sight साइट
आउ (संयुक्त) : out आउट; thou दाउ
ऑय (संयुक्त) : oil ऑयल; noisy नॉयज़'इ
इय (संयुक्त) : here हियर; fear फ़ियर
उअ (संयुक्त) : poor पुअर
एअ (संयुक्त) : care केयर; share शेयर
यु (ह्रस्व) : united यु-नाइ'टेड; formulate फ़ॉर'म्यु-लेऽट
यू (दीर्घ) : cube क्यूब; duty ड्यू'टी
, : pardon पार'ड'न; eaten ईट''न; table टे'ब'ल
ज़्ह (व्यंजन) : usual यू'ज़्हु-अल; pleasure प्लेज़्ह'अर
ज़ (व्यंजन) : zone ज़ोऽन; haze हेऽज़
फ़ (व्यंजन) : feel फ़ील; philosophy फ़ि-लॉस'ओ-फ़ि

*

## चयन

# पंजाब में हिंदी काव्य

एल. डी. बार्नेट

[ बृटिश म्युजियम में संगृहीत कुछ ऐसे गुरुमुखी ग्रंथों की ओर प्रस्तुत निबंध में संकेत किया गया है जिन्हें गुरुमुखी में होने मात्र से पंजाबी समझा गया है। बुलेटिन ऑफ द ओरिएंटल एंड अफ्रिकन स्टडीज, लंदन, खंड बीस ( सर राल्फ टर्नर अभिनंदन अंक ) में प्रकाशित इस निबंध का सारांश यहाँ प्रस्तुत है।

बहुत पूर्व ही यह स्वीकार कर लिया गया था कि सिखों के आदि ग्रंथ का आरंभ गुरु नानक ( १४६९ – १५३८ ) की पश्चिमी हिंदी की बानियों और गद्यात्मक उपदेशों से होता है। वही आगे उनके उत्तराधिकारियों के उपदेशों से समन्वित होकर अपने वर्तमान रूप में विकसित होता हुआ पंजाबी की ओर उन्मुख हुआ। दूसरी ओर गुरु गोविंद सिंह के दशम ग्रंथ साहब की रचना भी प्रायः टकसाली पश्चिमी हिंदी में हुई। सन् १८७७ में प्रो० ट्रम्प ने अपने आदिग्रंथ के अनुवाद में इन तथ्यों पर प्रकाश डाला। उन्होंने आदि-ग्रंथ को असंबद्ध, दुरूह तथा उलझी भाषा का बताया।

परंतु अभी तक यह भली भाँति नहीं समझा गया है कि आदि ग्रंथ के परे भी एक विपरीत क्रम रहा है। सिख-धर्म-ग्रंथों की हिंदी और अर्द्धहिंदी भाषाओं ने पंजाबी सिख-साहित्य पर भाषा के रूपों के मिश्रण के द्वारा पर्याप्त प्रभाव डाला है। हिंदी के इस मिश्रण के होते पंजाब के कुछ साहित्यिक क्षेत्रों में ठेठ हिंदी अपने को जीवित रख सकी। अभी हाल तक उसमें हिंदू-सिखों के भक्ति, रहस्यवाद तथा इतिहास-संबंधी ग्रंथों की रचना हुई है।

पाश्चात्य पाठकों का ध्यान इनकी ओर इसलिये नहीं गया कि उनका मुद्रण गुरुमुखी अक्षरों में हुआ और इसीलिये उनका अशुद्ध वर्गीकरण पंजाबी भाषा के अंतर्गत हुआ। मुझे ऐसे कुछ ग्रंथ बृटिश म्युजियम में मिले और अभी और भी मिलने की संभावना है। प्रस्तुत निबंध में ऐसे ही कुछ हिंदी और अर्द्धहिंदी काव्य ( पोएट्री ) के उदाहरण उपस्थित किए गए हैं।

सर्व प्रथम एक उदाहरण गुरु गोविंद सिंह के दशम ग्रंथसाहिब से देकर १९ वीं शती की कुछ रचनाओं का संकेत किया गया है। गुरुदासपुर जिले के गोरेवाह नामक स्थान के बाबा श्रीनिवासदास जी ने अपनी अन्य रचनाओं के अतिरिक्त 'सुखदायिक रामाइण' में राम-सीता की कथा का वर्णन किया है। लेखक के पौत्र काशीराम बेदी द्वारा गोरेवाह से इसका प्रकाशन तथा मुद्रण अमृतसर से १९०४ में कराया गया। इसके पृष्ठ ११८ से एक उदाहरण —

गए निषाद संग रघुबीरा। तूण निकट कर धन लए तीरा॥
सीता बीच लोग पीछे जाई। आगे चले सभन रघुराई॥
... ... ... ... ... ... ... ... ...
... ... ... ... ... ... ... ... ...

दूसरा उदाहरण अन्य प्रकार का है। इसमें दो अवतरण (पृ० ३ और २२६, द्वितीय संस्करण) ब्रह्मप्रकाश, सिख दृष्टिकोण से रहस्यवादी दर्शन पर छंदोबद्ध उपदेश, से लिए गए हैं। लेखक ने अपने को सुखी - दा कोट फरीदकोट का निवासी परम हंस सुख का दास बताया है। फरीदकोट के वीरसिंह संधू और हरद्वारी लाल ने १९२८ में अमृतसर से इसका मुद्रण कराया तथा प्रकाशित किया। भाषा प्रधानतः कुछ पंजाबी मिश्रण के साथ पश्चिमी हिंदी है।

एक अन्य पुस्तिका मुक्ति-नामा में आदिग्रंथ से रागों का संकलन किया गया है। संग्रहकर्ता हैं शार्दूल सिंह (प्रकाशन अमृतसर, मुद्रण लाहौर, १९०५)। मिश्रित भाषा में इसमें सिखों के नैतिक तथा धार्मिक निर्देश दोहा-चौपाइयों में हैं।

अब भारत सरकार ने समग्र भारत की राष्ट्रभाषा हिंदी को स्वीकार किया है और पंजाब में अबतक एक प्रकार से उपेक्षित हिंदी का उज्वल भविष्य दिखाई पड़ता है, परंतु अब उसे पंजाब की निजी भाषा पंजाबी से टक्कर की भी आशंका है। पिछले दस वर्षों में विशेष रूप से पंजाबी में उच्च साहित्य का सृजन हुआ है – गद्य-पद्य में वेले लेटर्स, दर्शन, भाषाविज्ञान, और इतिहास का। एक पंजाबी लेखक ने हाल में कहा था, कि अब पंजाबी ने अपना स्थान बना लिया है।

## संस्कृत कोशों में भूलें

### जे. पी. एच. वोगेल

[ बुलेटिन आफ द स्कूल आफ ओरिएंटल एंड अफ्रिकन स्टडीज, युनिवर्सिटी आफ लंदन खंड बीस में प्रकाशित 'एरर्स इन संस्कृत डिक्शनरीज़' शीर्षक निबंध का संक्षेप। ]

अपने संस्कृत कोशों में हमें कभी ऐसे शब्द प्राप्त होते हैं जिनके अनुवाद अशुद्ध हुए हैं। उलझन तब और होती है जब ये भारतीय आर्यों की सुपरिचित वस्तुओं के द्योतक तथा बहु-प्रयुक्त शब्द होते हैं। उदाहरण के लिये संस्कृत 'हंस' शब्द। पाश्चात्य प्राच्य - विद्या - विशारदों ने इसे 'गूज़' कहने के अतिरिक्त 'स्वान' और 'फ्लेमिंगो' भी बताया हैं। सूक्ष्म अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि हंस का अर्थ अंग्रेजी 'गूज़' के अतिरिक्त कुछ नहीं होता। पक्षि-यात्रा - विशेषज्ञों की राय पर आधारित मेरा मत है कि 'स्वान' पक्षी कभी भारत में नहीं दीखता और वह भारतीय है भी नहीं। 'फ्लेमिंगो' गुजरात में दीखता है पर उसके अंडे देने के स्थान मध्य एशिया के मूर और साल्टलेक प्रदेश हैं। ग्रीष्म तथा वर्षा ऋतुओं में हंस का प्रिय स्थान मानसरोवर है। अशोक से लेकर मुगल काल तक गूज़ (गीज = हंस) की पंक्तियाँ स्थापत्य कला में उत्कीर्ण हैं। पर 'स्वान' और 'फ्लेमिंगो' कहीं नहीं।

ऐसी ही विषमताएँ संस्कृत 'मकर' शब्द के संबंध में भी हैं। कोशों में प्रायः सहज अर्थ

श्र सी-एनिमल आर सी-मान्स्टर' दिया है। और यही भाव **मकरालय, मकराकर, मकरासव** का लिया गया है। ये सभी समुद्र के विशेषण हैं। कोशों ने एक गौण अर्थ क्रोकोडाइल, शार्क या डालिफन भी माना है। संस्कृतफ्रेंच डिक्शनरी के संपादकों का ध्यान ठीक गया और उन्होंने इसका अर्थ 'क्रोकोडाइल' ही माना। मूल अर्थ यही है। यह अन्य भारतीय भाषाओं से भी सिद्ध है। हिंदी, गुजराती, मराठी और सिंधी में इसका अर्थ **मगर** है, बंगला में **मकर** नेपाली में **मकर** और **मगर,** पंजाबी तथा कश्मीरी में **मगरमच्छ** एवं **मगरमच्श**, तेलुगु में **मकरमु** साथ ही **मोसलि** तथा **नक्रमु,** परंतु अन्य द्रविड भाषाओं में **मकर** का प्रतिनिधित्व नहीं है। हिंदी शब्दसागर ने **मगर** का **घड़ियाल** अर्थ अशुद्ध दिया है। पंचतंत्र की मगर-बंदर की कथा तथा जावा के शिलापट्टों पर उत्कीर्ण उसी कथा के दृश्यों से भी मकर का अर्थ **मगर** ही सिद्ध होता है।

प्राकृत-शब्द-रूप **पदोलिका** मृच्छकटिक में अनेक बार आया है। परंतु यह द्रष्टव्य है कि उसका अर्थ सिंहद्वार (गेटवे) करने से भ्रामक अर्थ निकलता है। संस्कृत साहित्य के प्रतोली को विशाल सिंहद्वार कह सकते हैं। गुप्त संवत ९६ के बिलसर स्तंभ लेख में प्रतोली शब्द आया है। फ्लीट ने इसका अर्थ 'गेट वे' किया है।

एक पाद टिप्पणी में फ्लीट ने कहा है – 'जैसा कि जनरल कनिंघम ने संकेत किया है, कोशों के अनुसार प्रतोली का अर्थ हैं – राजपथ, (ब्राड वे), प्रशस्त पथ (हाइस्ट्रीट), मुख्यपथ (ए प्रिंसिपल स्ट्रीट)।' परंतु 'गेटवे' (सिंहद्वार) अर्थ उसे एक पंडित से मिला।

**चाट** शब्द का अर्थ मुझे प्रायः सभी कोशों में चीट (ठग) मिला। चाट शब्द ताम्रपत्रों में अनेक बार आया है विशेषतः **ग्रास** शब्द की प्रशस्ति में – **अचाटभट्टप्रवेश।** दानपत्रों का **चाट** निःसंदेह **चाड़** है। हाल की अपनी चंबासंबंधी शोधों में मुझे पता चला कि **चाट** (चाड़) का अर्थ परगणाधीश होता है।

संस्कृत साहित्य में **चाट** का अर्थ सिपाही (सोल्जर) होता है। शिलालेखों में यह प्रायः **भट** के साथ संयुक्त है। शिलालेखों में **चाट** का अर्थ 'परगणाधीश' के नीचे का अधिकारी होता है।

*

# निर्देश

## अंग्रेजी

बुलेटिन आफ द स्कूल आफ ओरिएंटल एंड अफ्रिकन स्टडीज़, युनिवर्सिटी आफ लंदन खंड बीस सर राल्फ टर्नर अभिनंदन अंक १९५७।

सम क्रोनोलाजिकल कैरेक्टरिस्टिक्स आफ राजस्थानी—डब्लू. एस. एलेन। राज॰स्थानी के ध्वनितत्व का विवेचन।

भरतज़ एक्सपेरिमेंट विद द टू वीणाज़—ए० ए० बेक। भरत द्वारा वर्णित दो प्रकार की वीणाएँ।

द सक्सेशन आफ द लाइन आफ कनिष्क—ए० एल० बाशम। कनिष्क के उत्तराधिकारियों के क्रम पर विचार।

अर्ज़ीज एंड द सैक आफ द्वारका : ए सेवेंटीन्थ सेन्चुरी हिंदीवर्शन—जे० बर्टन पेज। नाभादास के भक्तमाल के १४१ वें छप्पय में आए 'अजीज' का विवेचन।

द रानी पोखरी इंस्क्रिप्सन, काठमांडू—टी० डब्लू० क्लार्क। काठमांडू के रानी पोखरी अभिलेख का अध्ययन।

फोनेटिक आब्ज़र्वेशन आन गुजराती—जे० आर० फिर्थ। गुजराती के ध्वनितत्व का पर्यवेक्षण।

द इंटररिलेशंस आफ कास्ट्स एंड एथनिक ग्रूप्स इन नेपाल—क्रिस्ताफ वाँ फ्यूरेरहेमेंडार्फ। नेपाल के अंतर्जातीय संबंधों तथा नृतात्त्विक वर्गों का अध्ययन।

कान्स्टीट्यूशनल एंड लेजिस्लेटिव डेवलपमेंट इन द इंडियन रिपब्लिक—ए० लेड हिल। भारतीय गणतंत्र में संवैधानिक एवं वैधिक विकास।

आन सम अर्थालंकारज इन द भट्टिकाव्य ( दस )—सी० होयकास। भट्टिकाव्य ( दशम् ) के कुछ अर्थालंकारों पर प्रकाश।

सम मराठी इंस्क्रिप्शंस, ए० डी० १०६०-१३००—अल्फ्रेड मास्टर। १०६०-१३०० ई० के मराठी अभिलेखों पर प्रकाश।

ए नोट आन द डेरिवेशन आफ हिंदी ऊबड़ खाबड़—बाबूराम सक्सेना। हिंदी के 'ऊबड़ खाबड़' की व्युत्पत्ति पर टिप्पणी।

*

# समीक्षा

## मैकबेथ

डा० हरिवंशराय 'बच्चन' एक बार बहुत पहले हिंदी पाठकों के संमुख अनुवादक की हैसियत से खैयाम की मधुशाला के साथ आ चुके हैं। लेखक की अनुभूतियों को ठीक ठीक समझ कर चलती हुई बोलचाल की भाषा में व्यक्त कर सकने की क्षमता ही उस अनुवाद की सफलता के लिये उत्तरदायी थी। शेक्सपियर (१५६४–१६१६) नाटककार होने के साथ अभिनेता भी थे। इतना ही नहीं वे प्रथम श्रेणी के कवि थे, अतः उच्च कोटि के द्रष्टा।

अतः अभिनय की दृष्टि से इनके नाटक सफल तो हैं ही, साथ ही उनकी पंक्ति-पंक्ति में कविता समाई हुई है और विशेष बात यह है कि मैकबेथ अन्य त्रासदियों (हैमलेट, आथेलो, लीयर आदि) की ही तरह ही उनकी प्रौढ़ावस्था में लिखा गया।

इस दृष्टि से 'बच्चन' का कथन शत प्रतिशत सच है कि मैकबेथ का अनुवाद करना बहुत कठिन है। इन्हीं कठिनाइयों के कारण कई अनुवाद हिंदी में आए, लेकिन सब अधूरे और असफल। शेक्सपियर की कविता को छोड़ देने से शेक्सपियर का बहुत कुछ छूट जाता है। इसकी रक्षा के लिये डा० बच्चन ने अंग्रेजी साहित्य ही नहीं, संपूर्ण पश्चिमी साहित्य के प्रकाशस्तंभ शेक्सपीयर के नाटकों का अनुवाद पद्य में करना शुरू किया है। यह प्रयत्न श्लाघ्य है।

डा० बच्चन ने स्वयं नाटकों पर विचार किया है। वे नाटक की सफलता के लिये आवश्यक बातों से पूरी तरह अवगत हैं और साथ ही प्रसिद्ध अभिनेता श्री बलराज साहनी के सुझाव भी उन्हें मिले हैं। किंतु साधारण पाठक की हैसियत से पढ़ने पर कुछेक स्थल अभिनय की दृष्टि से शिथिल जान पड़ते हैं। उदाहरणार्थ ये पंक्तियाँ देखें — "क्या जो कहा पिशाचिनियों ने सच ही होगा?" (पृ० १२), नींद भरी मेरी पलकें भारी भारी हैं" (पृ० ३२), "हाय दगा! बेटे फ्लिएंस भग"! (पृ० ६५)। 'भारी' शब्द से जो ध्वनि निकलती है उसके लिये 'भारी भारी' कहकर भारीपन जरूरत से ज्यादा बढ़ा दिया गया है और परिणाम है ढीलापन। उसी प्रकार बैंको जब मैकबेथ के भेजे हत्यारों की तलवार का शिकार होने के साथ ही अपने बेटे फ्लिएंस को भागने के लिये कहता है तो जो तेजी और बेटे को बचाने की उत्कट इच्छा की संवेगात्मक अभिव्यक्ति 'फ्लाइ फ्लाइ फ्लाइ' में है, वह 'भग, जी लेकर भग' में नहीं। उसी प्रकार मैकबेथ का स्वगत "तू दिखलाती है पथ···" से लेकर "आगे मूर्तिमान होता है", तक एकदम दुरुस्त है। यह विदित है कि शेक्सपीयर के नाटकों के स्वगत भाषण बहुत ही महत्वपूर्ण हैं। क्योंकि कवित्व का भंडार होने के साथ ही वे पात्रों के अंतस् का द्वार खोलते हैं। इन स्वगत भाषणों का अनुवाद बहुत हद तक सफल हुआ है, किंतु कहीं कहीं बहुत ही हल्का। उदाहरण के लिये पृष्ठ ११२ पर लेडी मैकबेथ की आने की स्थिति में स्वगत भाषण —

"हियर इज द स्मेल आफ ब्लड स्टिल..." का अनुवाद है—"लोहू की बदबू अब भी नहीं गई : अरब का सारा इत्र इस छोटे से हाथ में खुशबू नहीं ला सकता।" यहाँ 'बदबू' शब्द के बदले 'गंध' शब्द ही काफी था। यद्यपि बाद में 'खुशबू' शब्द आया है, 'बदबू' की 'बदबू' पूरे कथन में समाई ही रह गई है।

जहाँ कुछ शब्दों का बड़ा ही उचित प्रयोग हुआ है वहाँ कई शब्दों का प्रयोग आपत्तिजनक है। 'फिल्दी हैग्स के लिये' 'गंदखानियों', 'फ्राइटी पर्पज़ेज़ के लिये' 'चट्ठल इरादों' (पृष्ठ ६०), 'इंपरफेक्ट स्पीकर्स' के लिये अटपट वक्ताओं (पृष्ठ १०) 'आर यी फैंटास्टिकल' के लिये 'तुम छलना हो ?' (पृ० ६) 'अलास द डे' के लिये 'दिन जल जाए।' आदि के हिंदी समकक्ष बहुत ही अच्छे बन पड़े हैं। किंतु पृष्ठ ८७ पर चौथी पंक्ति 'जब तलक बर्नम बैठा' में 'तलक' के बदले 'तक' ही काफी था।

डा० बच्चन ने भूमिका में स्पष्ट ही लिखा है कि वे शेक्सपीयर की कृतियों के अनुवाद प्रस्तुत करते समय चार बातों को प्रमुखता देंगे—१. अनुवाद छायानुवाद न होकर अविकल हो, २. शेक्सपीयर के कवित्व की रक्षा की जाय, ३. नाटक सामान्य शिक्षितदीक्षित जनता के सामने खेला जा सके, और ४. चरम लक्ष्य यह हो कि अनुवाद अनुवाद न मालूम हो। मैं समझता हूँ हिंदी में जितनी दूर तक अंग्रेजी कविता ठीक ठीक अभिव्यक्ति पा सकती है, उतनी अवश्य ही डा० बच्चन के हाथों पा सकी है। यदि हिंदी जनता की रुचि थोड़ी परिस्कृत हो जाय तो यह पद्यबद्ध अनुवाद चलती सीधी भाषा में होने के कारण खेला भी जा सकता है। किंतु एकाध-स्थान पर दुरूहता आ गई है। प्रयोग सही होकर भी, "कर न हमें जब डर हमको गद्दार बनाता" (पृ० ६१) में 'कर' अपने अर्थ 'कृतित्व' या 'हाथ' में न उभरकर पूर्वकालिक क्रिया के रूप में ही आता है। उसी प्रकार 'चट्ठल इरादा, जब तक उसके साथ न करनी भी जाए, गुल दे जाता' (पृ० ६०) में यदि 'करनी' के बाद 'की' जोड़ दिया जाता तो अर्थ में स्पष्टता आ जाती।

अंत में मैं डा० बच्चन के दिमाग से अनुवाद करते समय कुछेक फिसल गई बातों की ओर ध्यान आकृष्ट करना चाहता हूँ, वह भी इसलिये कि अनुवाद अविकल है। कुछ उदाहरण लीजिए —

१. ऐज टू स्पेंट स्विमर्स दैट डू क्लिंग टु गैदर ऐंड **चोक देयर आर्ट**

यहाँ मोटे अक्षरों का अर्थ है कि तैराकों के एक दूसरे से गुंथने के कारण उनकी **कला का गला घुँट जाता है।** वे आगे बढ़कर अपनी निखरी कला का रूप नहीं दिखा पाते। अतएव आर्ट का किस प्रकार 'करवस' लिया गया, यह जानने लायक बात है। जब दो तैराक आपस में गुथे हैं, और थक गए हैं, तो एक दूसरे के 'कर-बस' को कुंठित तो करेंगे ही, किंतु शेक्सपीयर का कथ्य इससे ज्यादा है।

२. नो सूनर जस्टिस हैड विद् वैलर
आर्म्ड कंपेल्ड दीज स्किपिंग कर्न्स टु ट्रस्ट देयर हील्स

इसमें स्पष्ट है कि जस्टिस (न्याय) ने वैलर (शक्ति) की तलवार धारण की थी और न कि 'बल' ने न्याय की। किंतु अनुवाद देखिए—

'ज्योंही बल ने धारण कर तलवार न्याय की।' (पृ० ४)

३. फ्राम लाइफ़, ग्रेट किंग,
ह्वेयर द नारवेज्यन बैनर्स फ़्लाउट द स्काई
एंड फ़ैन आवर पीपुल कोल्ड······

इस अंश का अर्थ बताते हुए केनेथ म्यूर ने 'मैकबेथ' के अपने १९५१ के संस्करण में लिखा है कि 'इन पंक्तियों का अर्थ यह होना चाहिए कि नार्वे के झंडे, स्काट लोगों को डर से ठंडा बना देते हैं और न कि, जैसा कि मैलोन ने समझा था, पराजित झंडे विजयी वर्ग को हवा देकर ठंडक पहुँचाते हैं।' अनुवाद है—

"जहाँ ताखी झंडे
आसमान में पखे से लहरा लहराकर
थके हमारे दल को ठंडक पहुँचाते हैं। (पृ० ५)

४. देयर इज़ नो आर्ट
टु फाइंड द माइंड्स कंस्ट्रक्शन इन द फेस

अंग्रेजी में फेस का अर्थ 'चेहरा' होता है, मुँह नहीं। अतः यदि अनुवाद किया जाय तो 'माइंड' के लिये मन और 'फेस' के लिये चेहरा समीचीन न होगा—

कोई विद्या नहीं कि जिससे कोई जाने
मुँह से मन की (पृष्ठ १६)

किंतु यदि यह तर्क दिया जाय कि 'मुँह' से 'मन की' स्वयं में ठीक है क्योंकि किसी के मन की बात उसके मुँह से अर्थात् उसके कथन मात्र से नहीं जानी जा सकती, तो आपत्ति की बात यह है कि माइंड्स कंस्ट्रक्शन (मस्तिष्क की बनावट) चेहरे पर ही देखी जाने की बात हो सकती है, मुँह से निकलने वाले शब्दों में नहीं।

५. इफ ही हैड बीन फारगाटेन
इट हैड बीन गैप इन अवर ग्रेट फ़ीस्ट
एंड आलथिंग अनबिकमिंग

लेडी मैकबेथ अपने पति से राज्यारोहण समारोह में आनेवाले अतिथियों के आगमन पर विचार कर रही थी, इस समय उन्हें ऐसा लगा कि बैंको का आना अत्यंत आवश्यक था। यदि वे नहीं आते तो सारी रौनक ही अधूरी पड़ जायगी। अनुवाद है—

अगर हमारे
राजभोज में ये रह जाते तो निश्चय ही
बड़ी कमी उसमें रह जाती, और अशोभन
सब कुछ लगता।

यहाँ 'रह जाते' का अर्थ ठीक है; किंतु वह अर्थ स्पष्ट नहीं होता। ऐसा लगता है 'रह जाते' का अर्थ 'रह जाने' से है अर्थात् बैंको उस दिन जहाँ जा रहे थे, वहाँ न जाते, बल्कि समारोह में शामिल होने के लिये रह जाते।

इस छोटी समीक्षा में इस अनुवाद के अच्छे अंशों का पूर्ण विवेचन असंभव है। स्वगत भाषणों के ही अनुवाद में फिसलने की विशेष संभावना होती है लेकिन प्रसन्नता की बात

यह है कि इन अंशों का भी अनुवाद बहुत ही अच्छा हुआ है। उदाहरण के लिये ये पंक्तियाँ देखें—रास के कथन पृष्ठ ५ एवं १०४; मैकबेथ के स्वगत पृष्ठ १३, ३८, ४०, ५५ - ५६, तथा १२३; लेडी मैकबेथ के वचन १०३, पृष्ठ ११३ ( बुरी तरह की ··· बता देते हैं ) इसके अतिरिक्त चारों ही दृश्यों में डाइनों की वार्ता का अनुवाद बड़ा ही सुंदर हुआ है। चौथे अंक का तीसरा दृश्य पूरा ही सफल है।

कुल मिलाकर यह कहा जा सकता है कि यह अनुवाद प्रथम पद्यबद्ध अनुवाद होकर भी सफल है। हमें आशा है डा० बच्चन अपनी प्रतिभा का फल अवश्य देंगे। उनकी इस इच्छा का कि ये शेक्सपीयर के अनूदित नाटक – अभिनीत हों, और तब उनकी भाषा में अभिनय की दृष्टि से काट - छाँट की जाय, हम स्वागत करते हैं। हर कोने से सुझाव माँगकर डा० बच्चन ने जो उदारता दिखाई है, वह परिश्रम की सफलता की अभिलाषा का ही परिणाम है।*

—रामसेवक सिंह

## बंदे वाणीविनायकौ

## देखा परखा

निबंधसंकलनों की समीक्षा प्रायः कठिन सिद्ध होती है। विभिन्न विषयों पर विभिन्न समयों में लिखे गए साहित्यसंबंधी निबंधों में से लेखक के मूलभूत विचारों को पकड़ना तथा उनकी संगतिअसंगति का विवेचन करना काफी परिश्रमसाध्य कार्य है। कभी कभी किसी विचारगत सामंजस्य के अभाव में समीक्षक की कठिनाई और भी बढ़ जाती है। विवेच्य संकलन हिंदी के दो प्रतिष्ठित लेखकों के मुख्यतः साहित्यसंबंधी विचारों को पाठक के समक्ष प्रस्तुत करते हैं। अतः कई दृष्टियों से उनका विशेष महत्व है, इसलिये और भी क्योंकि दोनों में से कोई भी मुख्य रूप से हिंदीआलोचना से संबद्ध नहीं है। एक का प्रधान कार्यक्षेत्र उपन्यास है और दूसरे का स्केच-संस्मरण।

श्री रामावृक्ष बेनीपुरी की ख्याति प्रमुखतः उनकी गद्यशैली के लिये है, जो विशेष रूप से संस्मरणसाहित्य के लिये उपयुक्त है। ओज तथा उत्साहपूर्ण शब्दों के माध्यम से भावातिरेक की अभिव्यक्ति उनकी शैली का मूल सूत्र है। पर इसके संबंध में सबसे बड़ी कठिनाई यह है कि शब्दों में अपने आप में कोई शक्ति नहीं होती। इसीलिये स्थान स्थान पर बार बार आवृत्ति के कारण बहुत से शब्द अर्थहीन लगने लगते हैं। 'वाणी विनायकौ' शीर्षक निबंध जो शब्द और अक्षर के महत्व को प्रतिपादित करने के उद्देश्य से लिखा गया है, स्वतः इस त्रुटि से रहित नहीं है। निबंध का प्रारंभिक अंश है—

* मैकबेथ ( पद्यानुवाद )—अनुवादक डा० 'बच्चन'। प्रकाशक राजपाल एंड संस, दिल्ली, मूल्य ३)

"आज वाणी ने विनायकत्व, नेतृत्व खो दिया है और आज के विनायक ने वाणी का तिरस्कार, बहिष्कार करना प्रारंभ किया है !

आज वाणी विनायक की सहचरी नहीं, अधिक से अधिक अनुचरी है। विनायक की आज्ञा पर वह नाच रही है, गा रही है, वीणा बजा रही है।" गद्य की यह आवृत्तिमूलक शैली वक्तृता के अधिक योग्य है। निबंध और वह भी साहित्यिक निबंध अधिक गंभीर तथा समासशैली की अपेक्षा रखते हैं। बेनीपुरी जी के संस्मरणों में जो अनौपचारिकता सुखद लगती है वही उनके चिंतनप्रसंगों में विषय की मर्यादा के अनुरूप सिद्ध नहीं हो पाती।

बात को हल्के फुल्के ढंग से कहने के साथ ही साथ लेखक की दूसरी प्रवृत्ति है उद्बोधन की। धर्मनिरपेक्षता की ओर प्रवृत्त समाज में उपदेशात्मकता का स्थान उद्बोधनवृत्ति ले लेती है। राजनैतिकों द्वारा इस प्रवृत्ति का अवलंबन उचित है, क्योंकि उनके पास नया कहने को कम होता है पर साहित्यकार तो स्रष्टा है। वह सदैव ही कुछ नया तथा महत्वपूर्ण कहेगा। अतः उसे व्यासपीठ की तनिक भी अपेक्षा नहीं। "साहित्यिकता तथा साधुता" और "नव निर्माण और साहित्य स्रष्टा" शीर्षक निबंधों के उद्बोधनात्मक अंतिम अंश स्कूली पाठ्यपुस्तकों में अधिक उपयोगी सिद्ध हो सकते हैं, अपेक्षाकृत साहित्यिक संकलनों में लेखक से मौलिकता तथा चिंतन की मांग की जाती है, उपदेशों की नहीं। "नव निर्माण और साहित्य-स्रष्टा" शीर्षक निबंध का अंत होता है—"अमरता हमारी बपौती है—हम उस पीढ़ी के हैं, जिसने अक्षर को अपनाकर इस क्षर - क्षयमान संसार पर अपनी एक अमिट लकीर खींच रखी है। फिर कैसी यह क्लीवता-क्यों आँखों में ये आँसू, क्यों शरीर में यह कंपकंपी ! अरे, नैतत्व-य्युपपद्यते। यह तुम्हारे योग्य नहीं ! उठो परंतपो, अपने शास्त्रों को सम्हालो। नया महाभारत नई गीता खोज रहा है। नवनिर्माण नया सपना मांग रहा है उसे दो, दो।" यहाँ यह बिलकुल समझ में नहीं आता कि कृष्ण का उद्बोधन का आधा दायित्व स्वयं स्वीकार करके फिर यह गीतानिर्माण का आधा दायित्व लेखक किसे दे रहा है और क्यों? आखिर गीता लिखना, या उससे भी उपयुक्त, गीता बोलना भी तो काफी स्पृहणीय तथा संमाननीय कार्य है ! निबंधकार ने एक स्थल पर सचाई को हथौड़े और सलाख से दिमाग में ठोकने की बात कही है। पर यह बात तो बिना ही हथौड़े और सलाख की सहायता लिये कही जा सकती है कि सचाई यदि वस्तुतः सचाई ही है तो उसे लोगों तक पहुँचाने के लिये न तो लुहार बनने की आवश्यकता है और न उद्बोधक बनने की। इसके अतिरिक्त प्रजातंत्र के देश तथा युग में ये दोनों ही तरीके अनुचित तथा अकालिक भी हैं।

बिना किसी स्पष्ट आलंबन की स्थिति के यह उद्बोधन की प्रवृत्ति और भी अयथार्थ लगती है। 'आगे बढ़ो', 'प्रगति करो', 'उन्नति के पथ पर अग्रसर हो' आदि बातें तो बहुत अच्छी हैं, पर यह उन्नति किस प्रकार हो और प्रगति का पथ कौन सा है यह भी तो बताया जाना चाहिए। वस्तुतः पंचवर्षीय योजनाओं के युग में मात्र प्रयाणगीतों के गाने से कुछ भी वस्तु नहीं बन सकती। रूपकशैली तथा उद्बोधन दोनों ही मध्ययुगीन प्रवृत्तियां हैं जब कि आज की समग्र जीवनपद्धति तर्क पर आधारित है। पर बेनीपुरी जी के ये निबंध इस तथ्य की पुष्टि नहीं करते जान पड़ते।

प्रस्तुत संकलन के कई निबंध बड़े अच्छे ढंग से प्रारंभ होने पर भी आगे चलने पर लेखक की वक्तृता शैली के प्रयोग के कारण फीके पड़ गए हैं। "कविता का सम्मान" शीर्षक निबंध एक महत्वपूर्ण तथ्य को बड़े आकर्षक तथा प्रभावपूर्ण ढंग से प्रस्तुत करता है। किंतु फिर निबंध का उत्तरार्द्ध अनावश्यक रूप से विस्तृत हो गया है, जिसमें लेखक ने नाना प्रकार के उपदेश बिना किसी न्याय के दिए हैं। निबंध का अंत होता है—"कवि, प्यारे कवि, मेरे कवि ! अपने को पहचान ! पहचान !" मैनरिज्म की यह मार्मिकता जितनी मिथ्या है उतनी ही अनावश्यक भी है। बहुत कम निबंध ऐसे हैं जो इस सतही मार्मिकता से रहित हैं। कुल मिलाकर "साहित्यिकों की स्मृतिरक्षा" तथा "साहित्यकला और मध्यम वर्ग" शीर्षक निबंध अपेक्षाकृत सुगठित है तथा महत्वपूर्ण समस्याओं की ओर ध्यान आकृष्ट करते हैं। पहला निबंध सचमुच लेखक की अंतरात्मा से प्रेरित है, और इसीलिये बिना किसी शैलीचमत्कार के भी प्रभावपूर्ण है।

श्री इलाचंद्र जोशी का साहित्य चिंतन कई दृष्टियों से ऐतिहासिक महत्व रखता है। वे उन विरल समीक्षकों में से हैं जिन्होंने भारतीय तथा यूरोपीय साहित्य का गंभीर तथा सहानुभूतिपूर्ण अध्ययन किया है। इस प्रदेश के यूरोपीय वाङ्मय के अध्येताओं में तो वे अग्रणी रहे हैं। हिंदी साहित्य को संवेदनात्मक विस्तार देने में उनका योग अप्रतिम है। ग्रीक तथा संस्कृत महाकाव्यों से लेकर सार्त्र के अस्तित्ववादी चिंतन तथा अरविंद के साहित्य-दर्शन तक उनका ज्ञान गहरा तथा रचनात्मक रहा है। आधुनिक साहित्य के आंदोलनों की पृष्ठभूमि में जोशी जी का व्यापक अध्ययन एक ऐतिहासिक अनिवार्यता थी।

**"देखा परखा"** जोशी जी के ग्यारह साहित्यक निबंधों का संकलन है। इनमें से कुछ सैद्धांतिक समीक्षा के अंतर्गत आएँगे और कुछ व्यावहारिक समीक्षा के, वैसे व्यावहारिक समीक्षा लेखक का प्रियतर क्षेत्र है। और उसमें भी साहित्यसृजन की मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया का विश्लेषण उसे विशेष रूप से आकर्षित करता रहा है। विवेच्य संकलन में "मनोवैज्ञानिक विश्लेषण" तथा "साहित्य में वैयक्तिक कुंठा" शीर्षक निबंध विश्वसाहित्य के संदर्भ में मानव-मन के गूढ़ तत्वों की विवेचना प्रस्तुत करते हैं। मनोविज्ञान का शास्त्रीय विश्लेषण प्रायः नीरस तथा जटिल हो जाता है। यदि साहित्य के प्रसंग में देखा जाए तो जान पड़ेगा कि जितना आसान यह कह देना है कि साहित्य मूलतः मनोवैज्ञानिक प्रक्रियाओं का अन्वेषण तथा पुनरान्वेषण हैं, उतना ही कठिन यह बताना है कि वे मनोवैज्ञानिक प्रक्रियाएँ कौन सी हैं और साहित्य में उनका किस प्रकार चित्रण होता है। इस दृष्टि से आधुनिक साहित्य में रचनात्मक प्रक्रिया को समझाने की जो पद्धतियाँ प्रचलित हैं, उनका पूर्वरूप जोशी जी के इन मनो-वैज्ञानिक विवेचनों में देखा जा सकता है। मानवीय कुंठाओं की साहित्यिक अभिव्यक्ति का सहानुभूतिपूर्ण विश्लेषण लेखक ने किया है। उसका स्पष्ट मत है कि "व्यक्ति की कुंठा अपने आप में उतनी खतरनाक नहीं जितनी उसकी यह आत्मघाती प्रतिक्रिया। कुंठा को यदि ठीक से समझा और परखा जाय तो उसे जीवन के स्वस्थ विकास के लिये एक उपयोगी अस्त्र के रूप में काम में लाया जा सकता है। संसार के सभी महान और स्वस्थ साहित्यकारों ने सभी युगों में उसे इसी कल्याणकारी अस्त्र के रूप में अपनाया है।" संस्कारों और रूढ़ियों से बंधा हुआ लेखक इतनी निरुज दृष्टि नहीं रख पाता। परंपरा से हेय मानी जानेवाली मानसिक कुंठाओं के प्रति यह वैज्ञानिक और संतुलित दृष्टिकोण जोशी जी की अपनी विशेषता रही है।

अपने समय के विद्रोही लेखक होने के कारण जोशी जी में वह अंतर्दृष्टि है जो किसी भी नवीन उन्मेष को उसके ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में देखकर उसे आवश्यक सहानुभूति तथा समीक्षा दे सकती है। और जोशी जी के साहित्यिक व्यक्तित्व से यह तथ्य और भी पुष्ट होता है कि पुराने का वास्तविक महत्व वही समझ सकता है, जो नवनिर्माण की प्रेरणा को पहिचान कर उसे सहानुभूति दे सके। कालिदास का कथन "पुराणमित्येव न साधु सर्वं ··· ···" जितना कहने - सुनने में आसान लगता है उतना मानने में नहीं है। पर जोशी जी ने उसे वास्तविक अर्थ में 'देखा परखा" है और इसीलिये साहित्य - चिंतन के अधुनातन विकास के संदर्भ में भी उनकी समीक्षा-शैली पुरानी नहीं पड़ी है। छायावाद से लेकर नई कविता तक के स्रोतों को उन्होंने सहृदय परंतु निष्पक्ष ढंग से देखा है, और साथ ही छायावाद के तत्वावधान में लिखी गई अपनी "विजनवती" की कविताओं की वे कड़ी समीक्षा भी कर चुके हैं। यद्यपि विवेच्य संकलन के "छायावादी छाया और प्रकाश" में उन्होंने इन कविताओं की भावभूमि को ही समझाने का अधिक यत्न किया है, जिससे उनके कवि की रचनात्मक प्रक्रिया को समझने में तो सहायता मिलती ही है साथ ही उनके प्रकाश में समस्त छायावादी उन्मेष को अधिक अच्छे ढंग से देखा जा सकता है। निबंध के पूर्वार्द्ध में लेखक ने जिस प्रकार छायावादी काव्य पर सामान्यतः लगाए जाने वाले "अस्पष्टता, उसके रूपकमय रूप, विषाद, रस आदि" से संबद्ध आरोपों का खंडन किया है, उसे देखकर आज के नई कविता के व्याख्याता की कठिनाई और अवशता का बरबस स्मरण हो आता है। लगता है कि जोशी जी यदि नए साहित्य के बारे में भी कुछ लिखते तो संभवतः बहुत सी प्रचलित भ्रांतियों का आसानी से निराकरण हो सकता।

व्यक्तिगत लेखकों से संबद्ध जोशीजी के दो निबंध इस संकलन में संकलित हैं, एक है पंत और दूसरे रहीम। दो सर्वथा विभिन्न युगों के प्रतिनिधि होने पर भी लेखक द्वारा प्रस्तुत उनका विश्लेषण अत्यंत स्पष्ट तथा यथार्थ है। उनकी सबसे बड़ी विशेषता है उनकी रसग्राहिता जो आज की समीक्षा शैली में कदाचित विरल होती जा रही है। इस दृष्टि से कलाकार की मौलिक प्राणशक्ति को पकड़ पाने की जोशीजी की शक्ति स्पृहणीय है। वैसे तो पंतजी के काव्य का विस्तृत अध्ययन लेखक ने अपने कई लंबे निबंधों तथा निबंधमालाओं में किया है, परंतु प्रस्तुत संकलन में संगृहीत उसका निबंध 'पंत की कविता में त्रिविध चेतना' एक अपेक्षाकृत सीमित तथा जटिल विषय का अत्यंत स्पष्ट अध्ययन प्रस्तुत करता है।

जोशीजी के कुछ प्रिय लेखक तथा कृतियाँ हैं, जैसे रवींद्रनाथ, कालिदास, गेटे, बाण, शरच्चंद्र, 'हैमलेट', 'महाभारत', 'मृच्छकटिक' आदि। उनके विस्तृत अध्ययन के कारण यह सूची पूरी की जाने पर निश्चय ही काफी बड़ी होगी। पर उनके समीक्षात्मक निबंधों में इन लेखकों तथा कृतियों में से जो अंश बारबार देखने को मिलते हैं, उनसे इन अंशों के प्रति लेखक का मोह तो व्यक्त होता ही है, साथ ही उनकी चयनसंबंधी असावधानी भी व्यक्त होती है। रवींद्रनाथ के 'एकला चलो' या 'उर्वशी' तथा टेनीसन के 'टियर्स आइडल टियर्स' अथवा कालिदास का पूर्वजन्म के स्नेह संबंधों को स्मरण दिलाने वाला श्लोक लेखक के प्रिय उद्धरण हैं, जिन्हें उसके समीक्षात्मक निबंधों का अध्येता स्थान स्थान पर देख सकता है। यदि लेखक के ये सभी निबंध किसी समय एक ही जिल्द में प्रकाशित किए जा सकें तो उसे इन्हें आवश्यक रूप से संपादित और क्रमबद्ध करने का अवसर तो मिल ही सकेगा साथ ही पाठक को एक

ऐसा ग्रंथ प्राप्त हो सकेगा जो एक ओर तो विश्वसाहित्य की मूलभूत संवेदना प्रस्तुत करेगा और दूसरी ओर समीक्षा के श्रेष्ठतम मानदंडों का परिचय भी करा सकेगा।*

—रामस्वरूप चतुर्वेदी

## भारतीय साहित्य की सांस्कृतिक रेखायें

इस ग्रंथ में श्री परशुराम चतुर्वेदी के १७ निबंध संगृहीत हैं। ये सभी निबंध सामान्यतः भारतीय साहित्य और विशेषरूप में हिंदी साहित्य के सांस्कृतिक पक्षों से संबंधित हैं। अतः इस ग्रंथ का नाम 'भारतीय साहित्य की सांस्कृतिक रेखायें' बिलकुल ठीक है। वस्तुतः किसी युग के साहित्य का अथवा किसी भी साहित्यिक प्रवृत्ति का अध्ययन उसकी सांस्कृतिक पीठिका के अध्ययन के बिना अधूरा ही रहता है। हिंदी साहित्य आचार्य रामचंद्र शुक्ल का सदा आभारी रहेगा क्योंकि उन्होंने ही साहित्य के सांस्कृतिक परिवेश और परंपरागत पीठिका के अध्ययन का प्रारंभ किया। शुक्ल जी के बाद इस अध्ययन के क्रम को आगे बढ़ानेवालों में डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी और श्री परशुराम चतुर्वेदी अग्रणी हैं। इन दोनों विद्वानों ने पूर्व-मध्यकालीन हिंदी साहित्य की सांस्कृतिक पटभूमि का जो गहन और व्यापक अध्ययन प्रस्तुत किया है उससे न केवल प्राचीन साहित्य के अध्येताओं के ज्ञानक्षेत्र का विस्तार हुआ है बल्कि उनके दृष्टिकोण में भी उदारता और गंभीरता आई है। प्रस्तुत ग्रंथ के निबंध भी इसी अध्ययन की दिशा में आगे बढ़े हुए कदम हैं।

किंतु इन निबंधों का लक्ष्य केवल मध्यकालीन साहित्य पर प्रकाश डालना ही नहीं है। लेखक प्राचीन सांस्कृतिक परंपराओं के वास्तविक स्वरूप का प्रकाशन इसलिये भी करना चाहता है कि हमारे वर्तमान जीवनमूल्यों का निर्माण-विकास उचित ढंग से तथा सही दिशा में हो सके। वह यह दिखाना चाहता है कि हमारी वर्तमान राष्ट्रीय संस्कृति के निर्माण में प्रांतीयता, जातीयता, धर्म, भाषा और राजनीति - संबंधी भेदोपभेदों के कारण जो भयंकर अवरोध उत्पन्न हो गए हैं, उन्हें दूर करने के लिये हम अपनी मध्यकालीन सांस्कृतिक परंपरा से क्या सीख सकते हैं? यही नहीं, भौतिक उन्नति की होड़ तथा गर्म और शीत युद्धों के इस अनिश्चित युग में भारतीय संस्कृति का कितना अंश विश्वमानव के लिये उपयोगी हो सकता है और भारतीय राष्ट्र को अपने परंपरागत मूल्यों में कितना परिवर्तन करने की आवश्यकता है, इन प्रश्नों को लेखक ने ग्रंथ की भूमिका में स्पष्ट कर दिया है, "आज सभी को इस बात का भान होने लगा है कि पृथक् पृथक् आदर्शों को अब हम कदाचित ठीक उनके पूर्वरूपों में ही नहीं रख सकते। प्रत्येक बात जो कभी किसी जाति या समाज विशेष के मानदंडानुसार परख ली जाती थी, अब किसी सार्वभौम तुला पर भी चढ़ने जा रही है। हमें इस प्रकार देखने का

* वंदे वाणीविनायकौ—लेखक, श्री रामवृक्ष बेनीपुरी, प्रकाशक – आत्माराम एंड संस दिल्ली, मूल्य ३ रु०।

देखा परखा—लेखक—श्री इलाचंद्र जोशी, प्रकाशक – राजपाल एंड संस, दिल्ली, मूल्य २.५० रु०।

क्रमशः एक अभ्यास पड़ता जा रहा है और ऐसा प्रतीत होता है कि हमें कभी अपनी निधि के अमूल्य रत्नों को भी एक बार फिर से परखना होगा। हमें अपने चिर परिश्रम द्वारा अर्जित उपयोगी संबल को भी कम कर देना पड़ेगा और आगे के लिये केवल उसी को अपनाना होगा जो उसके अनुकूल हो।" इस तरह लेखक का दृष्टिकोण बहुत स्पष्ट है। वह धार्मिक रूढ़ियों तथा व्यक्तिवादी रहस्यानुभूति में विश्वास करनेवाला नहीं है। इसके विपरीत उसकी दृष्टि वैज्ञानिक और सामाजिक है और वह मानवतावादी विचारधारा में विश्वास करता है। प्रस्तुत ग्रंथ के निबंधों में उसके उपर्युक्त दृष्टिकोण और विचारधारा की अभिव्यक्ति स्थान स्थान पर हुई है।

यद्यपि इन निबंधों में शोधसंबंधी कोई भी नई बात नहीं है क्योंकि इनमें अन्यान्य शोधकर्ताओं की इतिहास, साहित्य और धर्मसंबंधी खोजों को 'आवश्यकतानुसार एकसाथ एकत्र कर दिया गया है और इससे ऐसे लोगों को निराशा हो सकती है जो नवीन साहित्यिक या सांस्कृतिक सामग्री की आशा से उन्हें पढ़ेंगे; फिर भी इन निबंधों का बहुत अधिक महत्व है। वह महत्व लेखक के दृष्टिकोण और निष्कर्षों के कारण है। उदाहरण के लिये पहले ही निबंध "भारतीय साहित्य में भक्ति धारा" में विभिन्न भाषा भाषी प्रदेशों में भक्ति साहित्य का अन्योन्याश्रित विकासक्रम दिखाकर लेखक ने सभी भारतीय भाषाओं की सांस्कृतिक और राष्ट्रीय एकता का प्रतिपादन किया है। कितना अच्छा होता यदि इसी ढंग से समस्त आधुनिक भारतीय भाषाओं के साहित्य का इतिहास कुछ खंडों में विभिन्न प्रवृत्तियों के आधार पर लिखा जाता जैसे प्राचीन भारतीय साहित्य का इतिहास वेबर, मैकडानल, कीथ विंटरनित्स और दासगुप्त आदि ने लिखे हैं। आज की बढ़ती हुई प्रांतीयता और भाषाद्वेष के विषाक्त वातावरण में समूचे राष्ट्र की सांस्कृतिक एकता का उद्घाटन करनेवाले ऐसे कार्य का अत्यधिक महत्व होगा और विभिन्न भाषाभाषियों की सांस्कृतिक संकीर्णता दूर होगी।

मध्यकालीन साहित्य का गंभीरतापूर्वक अध्ययन करने वालों को यह बात अच्छी तरह मालूम है कि वैष्णवमत, सूफीमत अद्वैतवाद, योगमार्ग, और बौद्ध सहजयान की विचार-धाराओं और साधनापद्धतियों ने एक दूसरे से प्रभावित होकर पंद्रहवीं - सोलहवीं शताब्दी तक ऐसा रूप ग्रहण कर लिया कि उनके अलग अलग विभाजित और असंबद्ध खाने नहीं रह गए। इस तरह पूर्व-मध्यकाल में विभिन्न धर्मों, संस्कृतियों और मतमतांतरों का अद्भुत समन्वय दिखाई पड़ता है जो तत्कालीन साहित्य में स्पष्टतः प्रतिबिंबित होता है। यही नहीं, तत्कालीन भारतीय संस्कृति सामान्य लोक से भी अत्यधिक प्रभावित है। इस ग्रंथ के प्रारंभ के चौदह निबंधों में लेखक ने इस तथ्य पर प्रकाश डालने का सफल प्रयास किया है। 'भारतीय सूफियों का सांस्कृतिक योग' शीर्षक निबंध में मध्यकालीन भारतीय संस्कृति के इस लोकसंपृक्त और समन्वयात्मक स्वरूप को बहुत अच्छी तरह स्पष्ट किया गया है। और साथ ही हिंदू तथा इस्लामी संस्कृति के पारस्परिक आदान-प्रदान के रूप का प्रमाणों द्वारा प्रति-पादन किया गया है। वर्तमान भारतीय संस्कृति के संश्लिष्ट स्वरूप को समझने के लिये मध्यकाकीन सांस्कृतिक परंपरा के इस पक्ष का अध्ययन कितना आवश्यक है, यह बताने की आवश्यकता नहीं। अपनी चिराचरित धार्मिक और सामाजिक रूढ़ियों से मुक्त होकर सार्वभौम मानवतावादी जीवन-दृष्टि अपनाने के लिये हमें पाश्चात्य संस्कृति का मुँह ताकने की आवश्य-कता नहीं है, उनसे मुक्ति पाने का मंत्र हमें अपनी मध्यकालीन सांस्कृतिक परंपरा में ही मिल सकता है, इस बात को 'भारतीय संतों का सांस्कृतिक योग' शीर्षक निबंध में बहुत अच्छी तरह समझाया गया है। संभवतः यह लेखक की बिलकुल मौलिक स्थापना है कि "उनकी (मुसल-

मानों की ) एकेश्वरवादी भावना सामाजिक भेद-भाव - विहीनता तथा धार्मिक समानताओं के वैशिष्ट्य ने यहाँ की दलित, परिगणित एवं पिछड़ी हुई जातियों में एक नवीन आशा का संचार कर दिया जिससे उनमें नव जागरण एवं स्वावलंबन का भाव उठने लगा और इसकी प्रतिक्रिया में यहाँ के उच्चवर्गीय लोगों को भी अपने नियंत्रण के नियम बहुत कुछ ढीले करने पड़ गए। फलतः भारतीय समाज की सामूहिक मनोवृत्ति क्रमशः लोकोन्मुख होती गई। तदनुसार यहाँ धार्मिक क्षेत्र में भक्ति - साधना का आंदोलन चला और साहित्यरचना के क्षेत्र में भी लोकभाषाओं का व्यवहार अधिक वेग के साथ होने लगा और उसमें निम्न वर्ग तक के लोग भी स्वभावतः सहयोग प्रदान करने लगे।" भक्ति - आंदोलन के संबंध में एक ओर तो आचार्य शुक्ल का मत है कि हिंदू राजाओं के पराजय के कारण सामान्य जनता की आस्था राजाओं से हटकर ईश्वर की ओर उन्मुख हो गई; दूसरी ओर डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी का मत है कि भक्ति और ज्ञान मार्गों का प्रारंभ दसवीं शताब्दी के पूर्व ही हो गया था और यदि मुसलमान आक्रमणकारी यहाँ न आए होते तो भी भक्ति और संतमार्गों का विकास और प्रसार हो कर ही रहता। इस प्रश्न पर श्री परशुराम चतुर्वेदी ने यह तीसरा मत व्यक्त किया है जो अधिक वैज्ञानिक और साधार है। यदि चतुर्वेदी जी ने अपने मत को और तर्क और विश्लेषण के साथ व्यक्त किया होता तो वह और भी अधिक प्रामाणिक तथा विश्वसनीय होता। वैसे समाजशास्त्रीय और आर्थिक दृष्टि से विश्लेषण करने पर भक्ति और संतआंदोलनों के प्रसार के अन्य कारण भी दिखाई पड़ते हैं, पर उन्हें यहाँ लिखना अप्रासंगिक होगा।

इस संग्रह के सर्वोत्कृष्ट निबंध दो हैं, 'संतों का निर्वैर धर्म' और 'गोस्वामी तुलसीदास : पुनर्मूल्यांकन'। इनमें से पहले निबंध में लेखक ने आधुनिक विज्ञान, विशेष रूप से डारविन के विकासवाद और जीवन-संग्राम के सिद्धांतों से उत्पन्न राष्ट्रों की पारस्परिक होड़ और भयानक युद्धों को दृष्टि-बिंदु में रखकर भारतीय संतों की सांस्कृतिक देन पर विचार किया है और यह निष्कर्ष निकाला है कि संतों का समदृष्टिमूलक निर्वैर भाव विश्व - कल्याण का एक मात्र साधन है। वर्तमान युग के महान वैज्ञानिक एवं विचारक आल्डस हक्सले और हाल्डेन जैसे व्यक्ति भी आज विज्ञान के आधार पर भूतमात्र की एकता और प्राणिमात्र के बीच परस्पर निर्वैरभाव की स्थिति को मान्य ठहराते हैं। अतः विश्वशांति के लिये हमारे नेताओं को पंचशील के साथ भारतीय संतों के इस निर्वैरभाव के सिद्धांत को भी विश्व के संमुख परीक्षण के लिए रखना चाहिए। दूसरे निबंध 'गोस्वामी तुलसीदासः पुनर्मूल्यांकन' में चतुर्वेदी जी ने तुलसी की महानता के मूल कारण पर विचार किया है और बताया है तुलसी केवल भक्त, कवि, या सुधारक होने मात्र से ही महान नहीं हैं, क्योंकि भक्ति, काव्य-संपदा या सुधारवाद महानता के शाश्वत लक्षण नहीं हैं। अतः तुलसी के मानवतावादी जीवन-दर्शन को ही लेखक ने उनकी महानता का मुख्य कारण माना है क्योंकि यह मानदंड प्रत्येक युग को मान्य होगा। लेखक के इस निष्कर्ष से शायद बहुत कम लोगों को मतभेद होगा। इस संग्रह के अन्य निबंध व्यापक क्षेत्र घेरते हुए भी सामान्य रूप से ज्ञानवर्धक और सूचनात्मक मूल्य के ही हैं।*

—संभुनाथ सिंह

* भारतीय साहित्य की सांस्कृतिक रेखाएँ—लेखक—परशुराम चतुर्वेदी, प्रकाशक साहित्य भवन लि०, इलाहाबाद, पृष्ठ संख्या २३४, मूल्य पौने चार रुपए।

## शिवपूजन रचनावली

पुरानी पीढ़ी के लेखकों में श्री शिवपूजन सहाय अपनी आदर्श निष्ठा, निश्छल नम्रता, सतर्क और रचनात्मक संपादनयोग्यता तथा बहुविध गद्य - लेखन - क्षमता के लिये संमान्य हैं। ये उन साहित्यकारों में हैं जिनका कर्तृत्व उनकी प्रकाशित कृतियों के अतिरिक्त अनेक अनगढ़ प्रतिभाओं को सुसज्ज करने और नए लेखकों को प्रेरणा देकर उनमें नई स्फूर्ति का संचार करने में भी निहित है। साहित्य के इतिहास से परिचितों को यह बतलाने की आवश्यकता नहीं कि साहित्य के उन्नयन की दृष्टि से यह दूसरा कार्य किसी प्रकार कम महत्व का नहीं। अपनी साहित्यसेवा के दीर्घ काल में सहाय जी ने अनेक रंग ढंग की सरस और गंभीर रचनाएँ प्रस्तुत की हैं। बिहार राष्ट्रभाषा परिषद् द्वारा ऐसे विधायक साहित्यकार की समस्त कृतियों का 'शिवपूजन रचनावली' के रूप में सुरुचिपूर्ण प्रकाशन अभिनंदनीय है।

रचनावली के दूसरे भाग में 'भीष्म', 'अर्जुन', 'ग्रामसुधार', 'दो घड़ी', 'माँ के सपूत', 'अन्नपूर्णा के मंदिर में' 'महिलामहत्व', 'बालोद्यान' और 'आदर्शपरिचय' नामक पुस्तकों के अतिरिक्त लेखक के ग्यारह भाषण संगृहीत हैं। इस प्रकार इसमें कुछ जीवनियाँ हैं, कुछ ग्राम-समस्याओं से संबद्ध लेख हैं, कुछ महिलाओं और बच्चों के लिये लिखित शिक्षोपयोगी लेख हैं, कुछ हास्यपूर्ण निबंध हैं और एक अनुवाद पुस्तिका के अतिरिक्त विभिन्न अवसरों पर दिए गए भाषण हैं। बालकों के लिये लिखी गई जीवनियाँ अंतर्भेदिनी दृष्टि से आकलित आदर्श रेखाओं को मनोरम ढंग से प्रत्यक्ष कर देती हैं। सतत गतिमान प्रसन्न शैली में लिखे गए 'रचनावली' के अधिकांश लेख और जीवनियाँ सुगम, अवसरानुकूल, भावमय और सुस्पष्ट गद्य के नमूने हैं। लेखक की जिंदादिली, क्रीड़ावृत्ति और विनोदमयता को सुंदर ढंग से उद्घाटित करनेवाली 'दो घड़ी' अन्य रचनाओं से भिन्न कोटि की है। इसमें लेखक के १४ हास्यविनोदपूर्ण निबंध हैं। इनका व्यंग - विनोद परिष्कृत है। मुहाविरों से गुथी हल्की फुल्की शैली के द्वारा इनमें हास्य का निर्मल रंग अच्छा निखरा है।

'रचनावली' के तीसरे भाग में श्री शिवपूजन सहाय के सवा सौ से अधिक लेख और टिप्पणियाँ हैं। लेखों के विषय अनेक प्रकार के हैं। शैली की दृष्टि से भी अनेकरूपता है। भावात्मक, विचारात्मक, विवरणात्मक सभी प्रकार की रचनाएँ हैं। व्यंग - विनोद भी हैं। कई रचनाएँ पुरानी होने पर भी मार्मिक हैं। इनके पढ़ने पर सन् १९१२ से १९५६ तक के हिंदी साहित्य की गतिविधि की अनेक स्थितियों की थोड़ी बहुत झाँकी मिल जाती है। बहुत सी साहित्यिक जानकारियाँ होती हैं जिनमें से कुछ का ऐतिहासिक मूल्य है, कुछ वर्तमान काल के भी काम की हैं। ये पुस्तकें पुस्तकालय की शोभा हैं।*

—सतीशचंद्र

* शिवपूजन रचनावली (भाग २ और ३) ले० श्री शिवपूजन सहाय; प्रकाशक—बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना; मूल्य क्रमशः नौ और दस रुपए।

### हिंदी शेक्सपियर

इधर हिंदी में अनेक महत्वपूर्ण पुस्तकें अनूदित होकर प्रकाशित हो रही हैं। यह दूसरी बात है कि सभी अनुवाद न महत्वपूर्ण बन सके हैं और न प्रामाणिक। किंतु बहुत सी पुस्तकों का अनुवाद छप जाना कम मूल्यवान नहीं कहा जा सकता, क्योंकि परिनिष्ठित अनुवाद तो आते-आते आते हैं।

शेक्सपियर के कई नाटकों का अनुवाद डा० रांगेयराघव ने किया है। सं० १९५० के आसपास पुरोहित गोपीनाथ ने उसके रोमियो जुलिएट, ऐज यू लाइक इट और मरचेंट आफ वेनिस का हिंदी अनुवाद किया था। उसी समय मैकबेथ का भी एक अच्छा अनुवाद 'साहसेन्द्र साहस' के नाम से पं० मथुराप्रसाद चौधरी ने किया। पर किसी योजना के अनुसार अनुवाद न होने के कारण शेक्सपियर के कई महत्वपूर्ण नाटक अननूदित रह गए।

जूलियस सीजर, मैकबेथ, आथेलो, एज यू लाइक इट ( जैसा तुम चाहो ), मरचेंट आफ वेनिस ( वेनिस का सौदागर ) आदि के हिंदी अनुवादों की आवश्यकता थी। डा० रांगेय राघव ने इस कार्य को परिश्रम पूर्वक किया है, इसमें संदेह नहीं। प्रत्येक नाटक के प्रारंभ में शेक्सपियर का संक्षिप्त परिचय और भूमिका में अनूदित नाटक का वस्तुसार दे दिया गया है।

भरसक शेक्सपियर के मूल भावों को हिंदी में ले आने का प्रयास किया गया है। पर जहाँ तहाँ शीघ्रता के कारण मूल भावों को ठीक से अनूदित नहीं किया जा सका है। इन सभी अनुवादों में ओथेलो कदाचित अपेक्षाकृत अच्छा बन पड़ा है। प्रत्येक नाटक के आरंभ में संबद्ध नाटक की विस्तृत समीक्षा जोड़ देने से उसकी उपयोगिता बढ़ जाती। फिर भी अनुवादक का प्रयास स्तुत्य है। छपाई सुंदर और गेट अप आकर्षक है।*

### चतुर्दश भाषा निबंधावली

प्रस्तुत पुस्तक में उन चौदह भाषाओं के भाषा-साहित्य के संबंध में लेख संगृहीत किए गए हैं जो संविधान द्वारा प्रमुख भाषाएँ स्वीकृत की गई हैं। इस पुस्तक का मुख्य उद्देश्य उपर्युक्त चौदह भाषाओं के भाषा-साहित्य का परिचय भर करा देना है। संचालक के शब्दों में 'इस निबंध संग्रह के प्रकाशन का उद्देश्य भी यही है कि संविधान-स्वीकृत भाषाओं और उनके साहित्य की विशेषताओं से हिंदी पाठक एक ही स्थान पर थोड़े में ही परिचित हो जाएँ।' पुस्तक के उद्देश्य को देखते हुए इसकी उपादेयता निर्विवाद है।†

### नयी कविता

'नयी कविता' विश्वम्भर मानव का नया आलोचनाग्रंथ है। इसमें सब मिलाकर तैंतालीस नए कवियों की रचनाओं का परिचय दिया गया है। 'नयी कविता' शीर्षक से पाठकों में भ्रम फैलता है कि इस ग्रंथ में केवल नई प्रयोगशील रचनाओं का आकलन किया

* जूलियस सीजर, ओथेलो, मैक बैथ, वेनिस का सौदागर, जैसा तुम चाहो, अनु० डा० रांगेय राघव; प्रकाशक राजपाल एंड संस; मूल्य प्रत्येक का १.७५ रुपए।

† चतुर्दश भाषा निबंधावली, प्रकाशक बिहार राष्ट्रभाषा परिषद् पटना, मूल्य सजिल्द ४.२५ रु०।

गया होगा, क्योंकि 'नयी कविता' एक विशेष अर्थ में लगभग रूढ़ हो गई है। मानवजी ने इस ग्रंथलेखन की 'प्रेरणा' में लिखा है—'सबसे आश्चर्य की बात तो यह है कि सभी कोटि के आलोचकों ने नये गीतिकारों की उपेक्षा की है। काव्य के पवित्र क्षेत्र में इस संकीर्णता और इस अनौचित्य को देखकर ही इस समीक्षाग्रंथ को प्रस्तुत करने की मेरी इच्छा हुई।' पर निश्चय ही आज की गीतियों को नई कविता का मुख्य स्वर नहीं माना जा सकता। आज के गीतिकार कविसंमेलनों की शोभा रह गए हैं।

नए कवियों को तीन भागों में बाँटा गया है—प्रगतिवादी, नए गीतिकार और प्रयोगवादी। जैसा कि लेखक ने 'प्रेरणा' में कहा है, उसके अनुसार गीतिकार कवियों को अधिक पृष्ठ देना स्वाभाविक था। प्रत्येक वर्ग के कवियों के मूल्यांकन के पूर्व उस वर्ग की विशेषताओं का स्पष्ट उल्लेख उन्हें समझने में सहायक सिद्ध होता है।

मानव जी हिंदी के जाने माने आलोचक हैं। इसलिये उनके विचारों में स्पष्टता का मिलना स्वाभाविक है। अनेक स्थलों पर मानव जी के विचारों और मान्यताओं से सहमत होना कठिन है। पर जिस उद्देश्य को लेकर इसकी रचना की गई है उसकी पूर्ति में इसकी समर्थता असंदिग्ध है।*

—अजय

## राजनीति शास्त्र के मूल सिद्धांत

प्रस्तुत पुस्तक, जैसा कि लेखक ने 'निवेदन' में ही स्पष्ट कर दिया है, बी० ए० के विद्यार्थियों के लिये पाठ्यग्रंथ के रूप में तैयार की गई है। समूची विषयवस्तु को लेखक ने तीस विभिन्न अध्यायों में विभक्त किया है। प्रारंभ में विषयप्रवेश और राजनीतिशास्त्र का अन्य विज्ञानों से जो संबंध है उसका परिचय देते हुए लेखक ने राज्य, उसके स्वरूप, राज्य, राष्ट्र और उपराष्ट्र के अंतर, राज्य की उत्पत्ति, तथा राज्य के विकास की विशद् चर्चा की है। तदनंतर कानून, संविधान, राज्य तथा शासन के भेद, शक्तियों के विभाजन का सिद्धांत, शासन के विभिन्न अंगों का संगठन, राजनीतिक दल प्रभृति विषयों पर भी पर्याप्त प्रकाश डाला है। दो विभिन्न अध्यायों में व्यक्ति तथा राज्य के संबंधों की चर्चा की गई है तथा राज्य के कार्यक्षेत्र-संबंधी 'सिद्धांतों' के अंतर्गत आधुनिक राजनीतिक विचारधाराओं का संक्षिप्त परिचय दिया गया है।

लेखक ने यथासंभव प्रचलित पारिभाषिक शब्दों का ही प्रयोग किया है किंतु कहीं कहीं नवीन शब्दावली के भी दर्शन होते हैं, उदाहरणार्थ नैशनैलिटी के लिये उपराष्ट्र अथवा राष्ट्रीय इकाई का प्रयोग। इस विषय में लेखक ने जो मंतव्य प्रकट किया है, वह सर्वथा संतोषप्रद है। इधर कई लेखकों ने नैशनैलिटी के लिये 'राष्ट्रीयता' शब्द का जो उपयोग किया है वह कुछ भ्रामक हो गया है। लेखक ने नैशनैलिटी के संबंध में प्रचलित मतमतांतरों की जो विषद् चर्चा की है, उससे भी विद्यार्थियों को अत्यधिक लाभ होगा। इसके अभाव में विद्यार्थी दोनों के अंतर को स्पष्टतया समझने में असमर्थ रहते।

* नयी कविता, लेखक विश्वंभर 'मानव'; प्रकाशक,साहित्य भवन लिमिटेड, इलाहाबाद, मूल्य ४ रु०।

लेखक ने पुस्तकप्रणयन में अनेक अँग्रेजी पुस्तकों की सहायता ली है, जिसके परिणामस्वरूप पुस्तक का स्तर इतना उन्नत हो गया है कि वह किसी भी अन्य अँग्रेजी पाठ्यग्रंथ का सरलता से मुकाबला कर सकती है। स्थान स्थान पर टिप्पणियों में अंग्रेजी उद्धरण देकर पुस्तक को विद्यार्थियों के लिये अत्यंत उपादेय बना दिया गया है।

जहाँ तक विषयवस्तु का संबंध है, लेखक ने अपनी ओर से आधुनिक से आधुनिक सामग्री देने का प्रयास किया है किंतु फिर भी कहीं कहीं लेखक विषय के साथ पूर्णतया न्याय नहीं कर सका है, उदाहरणार्थ प्रत्यक्ष लोकतंत्र की अपेक्षाकृत उपेक्षा हो गई है। इसी प्रकार आधुनिक विचारधाराओं को भी लेखक ने अपेक्षाकृत अत्यधिक संक्षिप्त कर दिया है, जिसके परिणामस्वरूप विद्यार्थी उससे उतना लाभान्वित नहीं हो सकते जितना कि अन्यथा संभव होता। मुद्रण की त्रुटियाँ भी कहीं कहीं अत्यधिक अखरनेवाली हैं। अस्तु इन त्रुटियों के होते भी प्रस्तुत पुस्तक हिंदी में प्रकाशित तत्संबंधी अन्य अनेक ग्रंथों की तुलना में अधिक श्रेष्ठ है और लेखक तथा प्रकाशक इसके लिये बधाई के पात्र हैं।*

—भँवरलाल गर्ग

## अरिस्तू की राजनीति

यूरोपीय राजनैतिक विचारधारा में अरिस्तू के राजनीतिशास्त्र (पॉलिटिक्स) का बहुत ही महत्वपूर्ण स्थान है। यह हम इसी से आँक सकते हैं कि उसकी मृत्यु के समय से लेकर आजतक वह विचारकों के अध्ययन, मनन और प्रेरणा का स्रोत बना हुआ है। अपने समय में उसका जो प्रभाव और प्रतिष्ठा थी, मध्यकाल में वह उससे बहुत अधिक हो गई, और आज भी वह वैसी ही है। यही नहीं, पाश्चात्य जगत् में राजनैतिक वाङ्मय के शास्त्रीय अध्ययन का आरंभ भी इसी ग्रंथ से माना जाता है। यही कारण है कि इस शास्त्र का नाम ही इसी ग्रंथ के ऊपर पड़ गया।

स्वाभाविक रूप से, उसके इस महत्व के अनुरूप ही आधुनिक काल के राजनीतिशास्त्र के पंडितों का ध्यान, सर्वाधिक इस ग्रंथ की ओर गया। यूरोप की प्रमुख भाषाओं, विशेष रूप से अँगरेजी में, आज इसके कोड़ियों अनुवाद, संपादित संस्करण तथा इसपर विवेचनात्मक ग्रंथ निकले तथा निकलते जा रहे हैं। आज, जब कि अपने देश में हिंदी का सर्वप्रमुख स्थान हो गया है तो उसके राजनैतिक-साहित्यिक अभिवृद्धि के लिये आवश्यक था कि इस महत्वपूर्ण ग्रंथ की अवतारणा इसमें भी होती।

इसके लिये हम उत्तरप्रदेश शासन तथा उसकी हिंदी परामर्श समिति को धन्यवाद देंगे जो उसका ध्यान इसकी ओर गया और इसका अनुवाद प्रकाशित हुआ। इससे उन लोगों का तो लाभ हुआ ही जो हिंदी के माध्यम से उसका अध्ययन करना चाहते हैं, उनसे कम लाभ एम० ए० के विद्यार्थियों का भी नहीं हुआ जिनका प्रथम प्रश्नपत्र यूनानी विचारधारा, विशेष रूप से सातोन तथा अरिस्तू से संबंधित है।

* राजनीति के मूल सिद्धांत—लेखक योगेंद्र मल्लिक। प्रकाशक आत्माराम एंड संस, काश्मीरी गेट, दिल्ली ६। पृष्ठ संख्या, ६०६। मूल्य ८ रु०।

इसके साथ ही साथ, लेखक के निर्वाचन के लिये हिंदी परामर्श समिति को हम बहुत बहुत बधाई देंगे। लेखक संस्कृत के पंडित हैं, साथ ही मूल ग्रीक भाषा और जर्मन भी जानते हैं। ग्रंथ को देखने से मालूम होता है कि आपकी राजनीतिशास्त्र की जानकारी भी अच्छी है। यही कारण है कि आप न केवल मूल ग्रंथ के अनुवाद में ही समर्थ हो सके हैं वरन् एतद् संबंधी अँगरेजी तथा अन्य यूरोपीय भाषाओं के साथ प्रसंगानुसार तुलनात्मक अध्ययन कर सके हैं। स्थान स्थान पर आवश्यकतानुसार संस्कृत के राजनीतिसंबंधी विचारों का भी तुलनात्मक उपयोग उचित रूप से किया गया है। इनसे अनुवाद का मूल्य बहुत बढ़ गया है। सब मिलाकर अनुवाद बहुत अच्छा बन पड़ा है।

ग्रंथ के आरंभ में एक विस्तृत भूमिका है। इसमें अरिस्तू तथा उसके जीवन से संबंध रखनेवाली बातें, उसके अन्य ग्रंथ, उसके दार्शनिक तथा वैज्ञानिक विचार, प्रस्तुत ग्रंथ की ऐतिहासिक समीक्षा तथा उसके अंतर्गत आए हुए विचारों का थोड़े में समावेश कर दिया गया है। अरिस्तू के अध्ययन में रुचि लेनेवालों के लिये, थोड़े में, सारी सूचनाएँ दे दी गई हैं, जिससे उसके अध्ययन में सहायता मिल सके। यही नहीं, मूलपाठ के अनुवाद के साथ ही प्रत्येक अध्याय के अंत में उसका सारांश तथा उसमें आए हुए प्रासंगिक स्थलों तथा प्रकरणों के संबंध में टिप्पणियाँ दे दी गई हैं।

अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से ये बहुत ही सहायक हैं। फिर भी हमारा सुझाव है कि अगले संस्करण में सारांश अध्याय के आरंभ में और टिप्पणियाँ प्रत्येक प्रासंगिक पृष्ठ के अंत में अथवा हाशिए में दे दी जायँ, जिससे पढ़नेवालों के लिये सुविधा हो सके। क्योंकि अध्याय पढ़ लेने के उपरांत सारांश पढ़ने में कोई लाभ नहीं। टिप्पणियों के लिये बारबार पृष्ठों का उलटना अत्यंत असुविधाजनक होता है। अच्छा हो यदि अगले संस्करण के प्रत्येक पैरा में आये हुए भावों को स्पष्ट करनेवाले शीर्षक दे दिये जायँ।

वस्तु की ही दृष्टि से ही नहीं, वरन् छपाई इत्यादि की दृष्टि से भी यह प्रथम कोटि की चीज बन पड़ी है। बहुत अच्छी जिल्दबंदी, प्रथम कोटि की छपाई तथा त्रुटियों के अभाव ने इसे आदर्श बना दिया है। सबसे बड़ी बात तो यह है कि छपाई, सफाई, सजधज के साथ ही इसका जो गुणात्मक मूल्य है, उसके अनुसार हिंदी की बात तो छोड़ दी जाय, अँगरेजी या किसी अन्य प्रगतिशील भाषा में भी यह २५ या ३० रुपए से किसी भी अवस्था में कम में उपलब्ध न होगा। इसका जो मूल्य है वह इस दृष्टि से बहुत ही कम है। इससे आशा है कि अधिक से अधिक लोग लाभ उठा सकेंगे।

इस प्रसंग में हम अंत में इतना और कहना चाहेंगे कि अच्छा होता जो राजनीति के कुछ लेखक जैसे प्लातोन, मैकियाविली, हाब्स, लॉक, बेंथम इत्यादि के मूलग्रंथों तथा कुछ महत्वपूर्ण राजनैतिक लेखकों के ग्रंथों के चुने हुए प्रासंगिक अंशों के अनुवाद भी उस रूप में छपवा दिए जाँय जिस प्रकार 'कोकर' के ग्रंथों के हैं तो हिंदी के राजनीति के पाठकों का बड़ा उपकार होगा।

—दिलीप

अरिस्तू की राजनीति, अनुवादक—श्री भोलानाथ शर्मा, प्रकाशक—प्रकाशन ब्यूरो, उत्तरप्रदेश सरकार, लखनऊ, पृष्ठ संख्या—६४७, मूल्य—८ रु०।

## प्राप्ति-स्वीकार

निम्नलिखित पुस्तकें सधन्यवाद समीक्षार्थ प्राप्त हुईं--

*राजनीति शास्त्र के मूल सिद्धांत—योगेंद्र मल्लिक एम० ए० प्रकाशक-आत्माराम ऐंड संस, कश्मीरी गेट, दिल्ली १०)

सैंट्रीफ्यूगल पंप्स—रामेश्वर दयाल वंसल, आत्माराम ऐंड संस, कश्मीरी गेट, दिल्ली ३)

सरल रेडियो विज्ञान—रमेशचंद्र विजय ,, ,, ५)

*बंदे वाणीविनायकौ—रामवृक्ष बेनीपुरी ,, ,, ३)

इंसानियत जीवित है—करुणेंद्र ,, ,, ३)

सौंदर्य की रेखाएँ—आस्कर वाइल्ड अनु० रामस्वरूप दूबे, आत्माराम ऐंड संस, कश्मीरी गेट दिल्ली ५)

पाप की गली—डोरिन मैनरस, अनु० महावीर अधिकारी, आत्माराम ऐंड संस कश्मीरी गेट दिल्ली ३)

बहके कदम—रामकृष्ण, आत्माराम ऐंड संस, कश्मीरी गेट, दिल्ली २।)

भोर की किरणें—अरुण एम० ए० ,, ,, २।)

पारिवारिक समस्यायें—सावित्री देवी वर्मा ,, ७॥)

क्रांतिवाद—विश्वनाथराय ,, ,, ५)

दो सेर धान—तकषी शिवशंकर पिल्लै, अनु० श्रीमती भारती विद्यार्थी, आत्माराम ऐंड संस, कश्मीरी गेट, दिल्ली २)

आदिवासियों की लोककथाएं—श्रीचंद्र जैन एम० ए०, आत्माराम ऐंड संस, कश्मीरी गेट दिल्ली १॥)

ऐतिहासिक दृश्य—श्यामलाल एम० ए०, आत्माराम ऐंड संस कश्मीरीगेट दिल्ली १॥)

तेलंगाना की लोक कथाएँ—आनंद प्रकाश जैन ,, ,, १।)

उत्तरीय संगीत शास्त्र—पतंजल देव शर्मा ,, ,, १।)

पाँच बेंत—श्रीमती भारती विद्यार्थी ,, ,, २॥)

चाँद का सफर—प्रकाश पंडित, राजपाल ऐंड संस, कश्मीरी गेट, दिल्ली ॥।)

सूझ बूझ की कहानियाँ— ,, ,, ॥।)

रेणु—रामचंद्र टंडन ,, ,, २)

*देखा परखा—इलाचंद्र जोशी ,, ,, २॥)

लोकों का युद्ध—एच० जी० वेल्स, अनु० रमेश बिसरिया, राजपाल ऐंड संस, कश्मीरी गेट, दिल्ली ४)

जीवन का सद्व्यय—अनु० हरिभाऊ उपाध्याय नवजीवन प्रकाशन मंदिर, अहमदाबाद १।)

सत्य ही ईश्वर है—महात्मागांधी जी ,, ,, ।॥=)

चंदेरी का जौहर—आनंदमिश्र, आत्माराम ऐंड संस, कश्मीरी गेट, दिल्ली २)

अवध की लोक कथाएँ भाग १--गोपालकृष्ण कौल, कमलादेवी कौल, आत्माराम ऐंड संस, कश्मीरी गेट, दिल्ली १।)

ग्राम लोक कथाएँ—महेंद्र मित्तल, आत्माराम ऐंड संस कश्मीरी गेट, दिल्ली १)

कोरी करामात—भा० वि० वरेरकर अनु० रा० केलकर, आत्माराम ऐंड संस, कश्मीरी गेट दिल्ली १॥)

पत्र लेखन कला—बनारसीदास चतुर्वेदी-हरिशंकर शर्मा, आत्माराम ऐंड संस कश्मीरी गेट दिल्ली ॥)

मुगल साम्राज्य की जीवनसंध्या—राजेश्वर प्रसाद नारायण सिंह, आत्माराम ऐंड संस कश्मीरी गेट, दिल्ली ६)

विदर्भ की लोक कथाएँ—प्यारेलाल एम०ए०,आत्माराम ऐंड संस, कश्मीरी गेट, दिल्ली १।)

आत्म विज्ञान ।=)

उत्तरापथ—यादवचंद्र जैन, राजपाल ऐंड संस, दिल्ली ३॥)

इनसे बचिये—राजेंद्रनाथ मिश्र ,, ,, ॥)

रेखा—चंद्रगुप्त विद्यालंकार ,, ,, ३)

रात और प्रभात—भगवती प्रसाद बाजपेयी, राजपाल ऐंड संस, दिल्ली ३॥)

महाप्रभु वल्लभाचार्य—गोविंददास, गीताप्रेस, गोरखपुर ॥)

तिरंगा झंडा—विराज, नेशनल पब्लिशिंग हाउस नई सड़क दिल्ली

बसंत के फूल—विराज ,, ,, ४)

समीक्षात्मक निबंध—विजयेंद्र स्नातक,, ,, ५॥)

रामचरितमानस का पाठ तथा मानस व्याकरण—गीताप्रेस, गोरखपुर ।)

विश्व परिचय—ईस्टर्न ट्रेनिंग कं०, कलकत्ता ॥=)

मानव जाति का उद्भव—डा० युरेव, ईस्टर्न ट्रेनिंग कं०, कलकत्ता ॥=)

सिद्धिमाता प्रसंग—राजबालादेवी अनु० श्रीकृष्णपंत सदानंददास, १६३ गणेश मोहल्ला वाराणसी २।)

एकला चलोरे—मनुबहन गांधी, नवजीवन प्रकाशन मंदिर, अहमदाबाद २)

रवींद्रनाथ टैगोर—प्राणनाथ वानप्रस्थी, राजपाल ऐंड संस कश्मीरी गेट दिल्ली ।)

विक्रमोर्वशीय तथा मालविकाग्निमित्र – कालिदास अनु० विराज राजपाल ऐंड संस कश्मीरी गेट दिल्ली ३)

*जूलियस सीजर—शेक्सपियर अनु०रांगेयराघव,राजपाल ऐंड संस,कश्मीरी गेट,दिल्ली १॥)

*आथेलो ,, ,, ,, ,, १॥)

*जैसा तुम चाहो—शेक्सपियर अनु० रांगेयराघव ,, ,, १॥)

*मैकबैथ ,, ,, ,, ,, १॥)

*वेनिस का सौदागर—शेक्सपियर अनु० रांगेयराघव ,, ,, १॥)

उत्तर रामचरित—भवभूति अनु० इंद्र ,, ,, ,, २)

वीर पुत्रियाँ—प्राणनाथ वानप्रस्थी ,, ,, ॥)

गौतम बुद्ध—प्राणनाथ वानप्रस्थी, राजपाल ऐंड संस, दिल्ली ६ ॥)

पथेर पांचाली—विभूतिभूषण बंद्योपाध्याय, अनु० मन्मथनाथ गुप्त, राजपाल ऐंड संस, दिल्ली ६ ५)

अली बाबा और चालीस चोर—जगदीश दीक्षित 'आनंद', राजपाल ऐंड संस, दिल्ली ६, ।।।)

भारतीय बुद्धिजीवी—डा० संपूर्णानंद, पब्लिकेशन ब्यूरो, उत्तर प्रदेश सरकार, लखनऊ ।।।)

समाजवाद—डा० संपूर्णानंद, पब्लिकेशन ब्यूरो, उत्तर प्रदेश सरकार, लखनऊ ।।।)

जीवन का काव्य—काका कालेलकर, अनु० श्रीपाद, नवजीवन प्रकाशन मंदिर, अहमदाबाद २)

विश्वकर्मदेव की कथा—डा० रघुनाथ दत्त शर्मा विश्वकर्मा, आनंद भवन, काशी १।)

श्रीकृष्ण—प्राणनाथ वानप्रस्थी, राजपाल एंड संस, दिल्ली १।)

बंगला की सर्वश्रेष्ठ कहानियाँ ,, ,, २।।)

सफल जीवन—सत्यकाम विद्यालंकार ,, ,, २।)

धार के इधर उधर—डा० 'बच्चन' ,, ,, २।)

जातक कथाएँ— ,, ,, १।)

तालीम की बुनियादें—कि० घ० मशरूवाला, अनु० सोमेश्वर पुरोहित, नवजीवन प्रकाशन मंदिर अहमदाबाद, २)

विचार दर्शन—केदारनाथ, नवजीवन प्रकाशन मंदिर, अहमदाबाद २)

हमारे संगीतरत्न ( उ० भा० ) लक्ष्मीनारायण गर्ग, संगीत कार्यालय, हाथरस १५)

परती परिकथा—फणीश्वरनाथ रेणु, राजकमल प्रकाशन लि०, फैजबाजार, दिल्ली ७।।)

हिंदी रीतिसाहित्य—डा० भगीरथ मिश्र ,, ,, ४)

वैष्णव धर्म—परशुराम चतुर्वेदी ,, ,, ३।।)

पृथ्वीराज रासो में कथानक रूढियाँ—ब्रजविलास श्रीवास्तव ,, ३)

भारतीय प्रेमाख्यान की परंपरा—परशुराम चतुर्वेदी ,, ३।।)

उर्दू साहित्य का इतिहास—डा० एजाज हुसेन, अनु० शमशेर बहादुर सिंह, राजकमल प्रकाशन लि०, फैजबाजार, दिल्ली ६)

भोजपुरी और उसका साहित्य—डा० कृष्णदेव उपाध्याय, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली २।)

हिंदी और प्रादेशिक भाषाओं का वैज्ञानिक इतिहास—शमशेर सिंह नरूला, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली ४)

तिलहन की खेती—नारायण दुलीचंद व्यास, सस्ता साहित्य मंडल, कनाट सरकस, नई दिल्ली, १)

विनोबा के साथ सात दिन—श्रीमन्नारायण, सस्ता साहित्य मंडल, कनाट सरकस नई दिल्ली ४)

मील के पत्थर—रामवृक्ष बेनीपुरी, सस्ता साहित्य मंडल, कनाट सरकस नई दिल्ली, २)

अठारह सौ सत्तावन—श्री निवासबाला जी हर्डीकर ,, ,, २।।)

जैसी करनी वैसी भरनी—संपा० शिव सहाय चतुर्वेदी, ,, ,, १।।)

भारत सावित्री ( आदि से विराटपर्व ) डा० वासुदेव शरण अग्रवाल ,, ३।।)

केरली साहित्य दर्शन—रत्नमयी देवी ,, ,, ४)

मानस बालकांड के स्रोत—श्रीशकुमार, हेमाभ प्रकाशन सी० ११।२ चेतगंज, वाराणसी ५)

भारतीय संगीत की कहानी—डा० भागवतशरण उपाध्याय, राजपाल एंड संस, दिल्ली १।)

भारतीय भवनों की कहानी—डा० भागवतशरण उपाध्याय, राजपाल एंड संस, दिल्ली १।)

विश्व साहित्य की रूपरेखा—भागवतशरण जी उपाध्याय, राजपाल एंड संस, कश्मीरी गेट, दिल्ली १२)

मादिनी—राजेंद्र प्रसादसिंह, मधुरिमा साहित्य प्रकाशन, मुजफ्फरपुर २)

क्षितिज—गिरीश अस्थाना, आदर्श प्रकाशन, २४ पथरियाघाट स्ट्रीट, कलकत्ता, ६ २।।)

दिग्वधू—राजेंद्रप्रसाद सिंह, मधुरिमा साहित्य प्रकाशन, मुजफ्फरपुर २।)

निराला जानवर—प्रकाश पंडित, राजपाल एंड संस, दिल्ली ।।।)

मृच्छ कटिक—शूद्रक, अनु० डा० रांगेय राघव „ „ ३)

*मैंकबेथ—विलियम शेक्सपियर, अनु० 'बच्चन' हरिवंशराय, राजपाल एंड संस, दिल्ली ३)

हमारे पड़ोसी—भगवतशरण उपाध्याय, „ „ १।)

उनसे न कहना—भगवतीप्रसाद वाजपेयी „ „ ५)

हिंदी को मराठी संतों की देन—विनय मोहन शर्मा, विहारराष्ट्र भाषा परिषद् पटना ११।)

*चतुर्दश भाषा निबंधावली „ „ ४।)

रामभक्ति साहित्य में मधुर उपासना—भुवनेश्वरनाथ मिश्र "माधव' „ १०)

अध्यात्म योग और चित्त विकलन—वेंकटेश्वर शर्मा „ „ ७।।)

*शिवपूजन रचनावली ( २ ) शिवपूजन सहाय „ „ ६)

* „ „ ( ३ ) „ „ „ „ १०)

बाँसरी बज रही—जगदीश त्रिगुणायत „ „ ८)

प्राचीन भारत की सांग्रामिकता—रामदीन पांडेय „ „ ६।।)

*दोहा कोश—सिद्ध सरहपाद „ „ १३।)

आत्म रचना अथवा आश्रमी शिक्षा—जगतरामदेव अनु० रामनारायण चौधरी, नवजीवन प्रकाशन, मंदिर, अहमदाबाद १।।)

दो परतें ( मुक्तछंद )—महाराज कृष्ण रसगोत्र, प्रेमनाथ रसगोत्र ४।१४ रूपनगर दिल्ली ३)

आत्मकथा अर्थात् आपबीती—नरदेव शास्त्री वेदतीर्थ, नंदकिशोर शास्त्री, लक्ष्मीनारायण शास्त्री महाविद्यालय, जमालपुर ५)

*स्वतंत्र भारत में शिक्षा—हुमायूँ कबीर अनु० विराज एम० ए०, राजपाल एंड संस, दिल्ली ५।।)

मुद्राराक्षस—विशाखदत्त अनु० रांगेय राघव, राजपाल एंड संस, दिल्ली २)

गुलाब के दो फूल—रावर्ट लुई स्टीवेन्सन, अनु० महावीर अधिकारी, राजपाल एंड संस, दिल्ली ५)

खेलें कूदें नाचें गायें—धर्मपाल शास्त्री, राजपाल एंड संस, दिल्ली ।।)

आओ करें सवारी—रामचंद्र तिवारी, „ „ ।।।)

बापू की छाया में मेरे जीवन के १६ वर्ष ( १०३२-४८, ) हीरालाल शर्मा, ग्रंथकार, ईश्वर शरण आश्रम, प्रयाग १५)

बिखरे मोती—राजकुमार जौहरी, न्यू लिटरेचर २५७ चक, इलाहाबाद, १)

अंगारे और फूल—बहाउद्दीन अहमद, ज्ञान मंजिल पब्लिकेशन, दरियापुर, पटना ७।।)

राधावल्लभ संप्रदाय और सिद्धांत—डा० विजयेंद्र स्नातक, नैशनल पब्लिशिंग हाउस, नई सड़क, दिल्ली १८)

बापू की कलम से—महात्मा गांधी, संपा० काका कालेलकर, नवजीवन प्रकाशन मंदिर अहमदाबाद, २॥)

तत्वज्ञान—दीवानचंद, प्रकाशन ब्यूरो, उ० प्र० सरकार, लखनऊ ४)

उत्तर प्रदेश में बौध धर्म का विकास—नलिनाक्ष दत्त, कृष्ण दत्त वाजपेयी, प्रकाशन ब्यूरो, उ० प्र० सरकार, लखनऊ ६)

संस्कृत और उसका साहित्य—शांतिकुमार नानूराम व्यास, राजकमल प्रकाशन दिल्ली २॥)

बनपाखी सुनो—नरेश मेहता, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली ३)

साहित्य के साथी—कैलाश कल्पित, नेशनल प्रेस, इलाहाबाद २)

चभाका—रामकुमार त्रिपाठी, तिवारीटोला, डुमराँव, शाहाबाद ।=)

दहाड़ ,, ,, ,, ,, ।=)

जयसिंह विरुदावली—प्रताप शाही, संपा० रविशंकर देराश्री, सं० हिंदूपत प्रेस, राघोगढ़ ॥)

जीवन लीला—काका कालेलकर, अनु० रवींद्र केलेकर, नवजीवन प्रकाशन मंदिर, अहमदाबाद ३)

एटम की कहानी—जानलेवसेन, अनु० विराज राजपाल एंड संस, दिल्ली १)

जोश मलीहाबादी—संपा० प्रकाश पंडित ,, ,, १॥)

पक्षी और आकाश—रांगेय राघव ,, ,, ४)

दशकुमार चरित—दंडी, अनु० रांगेय राघव ,, ,, ४)

उर्दू की सर्वश्रेष्ठ कहानियाँ—अनु० संपादक, प्रकाश पंडित, राजपाल ऐंड संस, दिल्ली ३॥)

मजाज—जीवनी संकलन ,, ,, ,, ,, १॥)

गालिब ,, ,, ,, ,, १॥)

साहिर लुधियानी—संपादक प्रकाश पंडित ,, ,, १॥)

मेरी कालिज की डायरी—धीरेंद्र वर्मा, साहित्य भवन लि०, इलाहाबाद १॥)

रूपलक्ष्मी—कृष्णचंद्र शर्मा, 'भिक्खु' ,, ,, १॥)

जीवनदीप—कुमारी कांति त्रिपाठी, उदयाचल, कमला नेहरू मार्ग, मुरादाबाद १॥)

* तारांकित पुस्तकों की समीक्षा हो चुकी है।

*

# नागरीप्रचारिणी सभा, काशी

## कुछ अमूल्य प्रकाशन

### भिखारीदास ग्रंथावली ( खंड १-२ )

**संपादक—श्री विश्वनाथप्रसाद मिश्र**

भिखारीदास रीतिकाल के अंतिम आचार्यों में विशिष्ट आचार्य और कवि हो गए हैं। इनके ग्रंथों के वैज्ञानिक और समीक्षात्मक संस्करण नहीं थे। आकर ग्रंथमाला के अंतर्गत भिखारीदास जी के चारो साहित्यिक ग्रंथों—रससारांश, शृंगारनिर्णय, छंदार्णव तथा काव्य-निर्णय का वैज्ञानिक संपादन आधुनिक पद्धति पर प्रस्तुत किया गया है। इसमें प्रत्येक ग्रंथ के पाठांतर पादटिप्पणी में यथालब्ध हस्तलिखित तथा मुद्रित प्रतियों के आधार पर दिए गए हैं। परिशिष्ट में प्रत्येक ग्रंथ के छंदों की प्रतीकसूची और प्रत्येक में प्रयुक्त शब्दों के अर्थों का विस्तृत कोश भी दिया गया है। संपादक ने आरंभ में संपादनसामग्री और संपादनशैली का अनुसंधानपूर्ण विवेचन किया है। प्रत्येक खंड का मूल्य ७॥)।

### हस्तलिखित हिंदी पुस्तकों के त्रैवार्षिक खोजविवरण

सरकार की सहायता एवं अनुमति से सभा ने खोजविवरण हिंदी में छापना आरंभ किया है। निम्नलिखित विवरण छपकर तैयार हो गए हैं :

१. सन् १९२६-२८; संपादक डा० हीरालाल; सजिल्द, पृष्ठ ८४८ मूल्य २१)।
२. सन् १९२९-३१; संपादक डा०पीतांबरदत्त बड़थ्वाल; सजिल्द, पृष्ठ ७०६, मूल्य १५)।
३. सन् १९३२-३४; संपादक डा० पीतांबरदत्त बड़थ्वाल; सजिल्द, पृष्ठ ४५२, मूल्य ११)।
४. सन् १९३५-३७; संपादक डा० पीतांबरदत्त बड़थ्वाल, सजिल्द, पृष्ठ ५०० ,मूल्य ११)।
५. सन् १९३८-४० तक मूल्य ११)।

### व्यंजना और नवीन कविता

**श्री राममूर्ति त्रिपाठी, एम. ए., साहित्यशास्त्राचार्य**

प्रस्तुत पुस्तक में विद्वान् लेखक ने शब्दशक्तियों का संक्षिप्त परंतु गंभीर एवं सुस्पष्ट परिचय देकर व्यंजना का विस्तृत विवेचन किया है। साथ ही पश्चिमी साहित्यशास्त्र के प्रमुख तत्वों के साथ स्पष्ट करके लेखक ने प्राच्य और पाश्चात्य काव्यों में व्यंजक प्रयोगों का विश्लेषण करके इसे सर्वांगपूर्ण बना दिया है। हिंदी में ऐसे जटिल विषय पर इतनी स्पष्ट और सुबोध चर्चा करनेवाली दूसरी पुस्तक नहीं है। सामान्य परिचय से लेकर गहन अध्ययन तक इसकी उपयोगिता अक्षुण्ण है। मूल्य ५)

### ध्वनिसंप्रदाय और उसके सिद्धांत

**डा० भोलाशंकर व्यास**

अभी तक हिंदी साहित्य में वृत्तिविषयक तुलनात्मक पुस्तक का नितांत अभाव था। विद्वान लेखक ने इसी कमी को पूरा करने के लिये भारतीय दार्शनिकों, वैयाकरणों तथा आलंकारिकों के शब्दशक्ति संबंधी विवेचनों की व्याख्या करते हुए पश्चिमी आलोचकों द्वारा प्रतिपादित व्यंजना वृत्ति की व्याख्याओं से उसका तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया है। आकर्षक आवरण, पृष्ठ ५१६, मूल्य १०)।

# हिंदी साहित्य का बृहत् इतिहास

## प्रथम भाग

## हिंदी साहित्य की पीठिका

संपादक – श्री डा० राजबली पांडेय

( प्रिंसिपल — भारती महाविद्यालय, काशी हिंदू विश्वविद्यालय )

विगत ५० वर्षों के भीतर हिंदी साहित्य के इतिहास की प्रचुर सामग्री उपलब्ध हुई है। देश के स्वाधीन और हिंदी के राज्यभाषा हो जाने की घोषणा के बाद हिंदी भाषा और साहित्य का क्रमबद्ध तथा विस्तृत इतिहास प्रस्तुत कर देना एक दो व्यक्तियों के बूते के बाहर की बात थी। यही समझकर इस कार्य को सभा ने अपने हाथों लिया और हिंदी साहित्य के बृहत् इतिहास को १७ भागों में प्रस्तुत करने की योजना बनाई। हिंदी के सभी चोटी के विद्वानों और हिंदीप्रदेश की सरकारों ने इस योजना को मान्यता दी, सभा को इन सबका सहयोग प्राप्त हुआ और राष्ट्रपति श्री डा० राजेंद्रप्रसाद जी ने आशीर्वाद देने की कृपा की। कार्य द्रुतगति से अग्रसर हो रहा है और प्रथम भाग - **हिंदी साहित्य की पीठिका** – प्रकाशित हो गया है। विशाल हिंदी साहित्य को वास्तविक रूप में हृदयंगम करने के निमित्त जिन आनुषंगिक विषयों का परिचय अनिवार्य है उन सब ऐतिहासिक तथ्यों का समावेश इस पीठिका भाग में कर दिया गया है जो निम्नलिखित पाँच खंडों में विभक्त है –

१ – भौगोलिक, राजनीतिक तथा सामजिक स्थिति – श्री डा० राजबली पांडेय

२ – साहित्यिक आधार तथा परंपरा – श्री डा० भोलाशंकर व्यास

३ – धार्मिक तथा दार्शनिक आधार और परंपरा – श्री पं० बलदेव उपाध्याय

४ – कला – श्री डा० भगवतशरण उपाध्याय

५ – वाह्य संपर्क तथा प्रभाव – श्री डा० भगवतशरण उपाध्याय

**विस्तृत अनुक्रमणिका . ८२५ पृष्ठ, रायल अठपेजी . ऐतिहासिक चित्र**

**पक्की जिल्द . ऐंटिक कागज . मूल्य केवल १८)**

प्रकाशक

**नागरीप्रचारिणी सभा, वाराणसी**

# नागरीप्रचारिणी पत्रिका

वर्ष ६२
संवत् २०१४
अंक ४



नागरीप्रचारिणी सभा, काशी

## वार्षिक विषयसूची



### विमर्श

समीक्षा



## संशोधन

अंक २–३ के प्रथम आठ पृष्ठों की पृष्ठ संख्या १ से ८ को १०५ से ११२ समझें।

# संक्षिप्त हिंदी शब्दसागर

संशोधित-संवर्द्धित एवं नवसंपादित

प्रस्तुत शब्दकोश कई वर्षों के लगातार परिश्रम से संवर्द्धित एवं संपादित हुआ है। हिंदी में प्रचलित नवीन तथा साहित्यप्रयुक्त शब्दों के अतिरिक्त लोकप्रयुक्त देशीविदेशी शब्दों का यथासाध्य संकलन इस कोश में हुआ है। अर्थों को भी संशोधित, संवर्द्धित एवं प्रामाणिक बनाने का प्रयत्न किया गया है। अर्थनिरूपण की प्रामाणिकता एवं विशदता के लिये यथास्थान और यथावसर उदाहरण दिए गए हैं, साथ ही रचना विशेष का निर्देश भी किया गया है। आवश्यकतानुसार संस्कृत या प्राकृत धातुओं का निर्देश भी है जो इस कोश की अपनी विशेषता है। संविधान में प्रयुक्त अंग्रेजी शब्दों के पर्याय भी परिशिष्ट में दे दिए गए हैं। तात्पर्य यह कि सभी दृष्टियों से इसे अद्यतन एवं प्रामाणिक बना दिया गया है। डबलक्राउन अठपेजी आकार के १०६७ पृष्ठ, पूरे कपड़े की पक्की जिल्द, मूल्य १८ रु० मात्र।

# हिन्दी शब्दानुशासन

## ( भाषाविज्ञान से संवलित हिन्दी का महाव्याकरण )

*लेखक—पं० किशोरीदास वाजपेयी, शास्त्री*

**पृष्ठ संख्या लगभग सात सौ बढ़िया छपाई, बढ़िया कागज**

**मूल्य दस रुपए मात्र**

**इस ग्रन्थ पर डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी की राय—**

पं० किशोरीदास जी वाजपेयी का यह 'हिन्दी शब्दानुशासन' दीर्घकालीन चिन्तनमनन का परिणाम है। वाजपेयी जी संस्कृत-व्याकरण के सुपण्डित हैं; पर संस्कृत के अधिकांश विद्वानों की भाँति हिन्दी को संस्कृत की पूर्ण अनुयायिनी मानने का आग्रह इनमें नहीं है। वे हिन्दी की प्रकृति के सूक्ष्म निरीक्षक हैं। इस पुस्तक में उन्होंने हिन्दी की प्रकृति का बड़ा अच्छा परिचय दिया है। उन्होंने निष्कर्षों तक पहुँचने की प्रक्रिया बता दी है और विचारशील पाठक को स्वयं सोचने समझने को छोड़ दिया है। यह इस पुस्तक की बड़ी भारी विशेषता है।"

"वाजपेयी जी का यह ग्रन्थ हिन्दी-व्याकरण को एक नए परिपार्श्व में देखने का आलोक देता है। यह इसकी बड़ी भारी विशेषता है। शास्त्रीय विचार-पद्धति में निष्कर्ष की अपेक्षा निष्कर्ष तक पहुँचने की प्रक्रिया महत्त्वपूर्ण है। वाजपेयी जी का यह प्रयत्न निश्चित रूप से सहृदय विद्वानों को सोचने के लिये बाध्य करेगा।"

"अभी तक जो हिन्दी के व्याकरण लिखे गए हैं, वे प्रयोगनिर्देश तक ही सीमित हैं। इस पुस्तक में पहली बार व्याकरण के तत्त्वदर्शन का स्वरूप स्पष्ट हुआ है।"



प्रकाशक— नागरीप्रचारिणी सभा, काशी
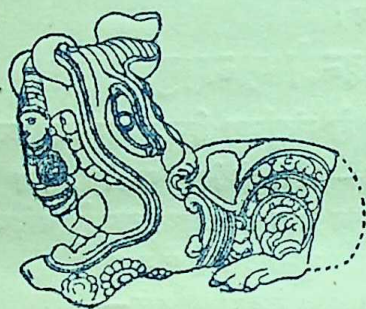
प्रकाशक — डा० राजबली पांडेय, प्रधान मंत्री, नागरीप्रचारिणी सभा, वाराणसी
मुद्रक—महताब राय, नागरी मुद्रण, नागरीप्रचारिणी सभा, वाराणसी